एकांकी

लेखक—

सीताराम गोयल

प्रकाशक—
प्राची प्रकाशन
१२, चौरंगी स्क्वायर,
कलकत्ता-१

प्रकाशक—
प्राची प्रकाशन
१२, चौरंगी स्क्वायर,
कलकत्ता-१

प्रथम संस्करण
१९५३
मूल्य छः रुपया

मुद्रक—
उमादत्त शर्मा
रत्नाकर प्रेस
१-ए, सैयदसाली लेन,
कलकत्ता

समर्पण

जिसने जीवनमें पहली बार मुझसे कहा था

"तू भी इन्सान है"

उस

स्नेही, शिक्षक, बन्धु

दया

को

अपना यह प्रथम प्रयास

समर्पित करता हूँ।

—सीता

अन्य होंगे चरण हारे,

और हैं जो लौटते दे
शूल को संकल्प सारे,

दुखव्रती निर्माण उन्मद
ये अमरता नापते पद

बाँध देंगे अंक-संसृति से
तिमिर में स्वर्ण बेला
पंथ रहने दो अपरिचित,
प्राण रहने दो अकेला

—महादेवी वर्मा

एकाकी

१

माघ कृष्णपक्षकी चतुर्दशीके उस निविड़ निशीथसे घिरकर सोए हुए प्रदीपको कितनी घड़ियाँ बीत गईं थीं, सो ठीकसे कहा नहीं जा सकता। बाईं करवट लेटकर लिन युटांगका 'लीफ इन दी स्टॉर्म' पढ़ते-पढ़ते न-जाने वह कब निद्राभिभूत हो गया था।

एकबारगी हड़बड़ाकर उठ बैठा प्रदीप। स्विच दबाते ही आठ फुट लम्बी और एक ओरसे चार फुट तथा दूसरी ओरसे एक फुट चौड़ी त्रिकोणाकार कुठरिया विद्युत् आलोकसे भर उठी। सात फुट ऊँची छतके नीचे सद्य-निर्मित सीमेंटके फर्शपर आधी जगहमें बिछे हुए मैलेसे गद्देपर दाएँ-बाएँ दर्जनों किताबें अस्त-व्यस्त फैली पड़ी थीं। बराबर का आला भी छोटी-मोटी किताबोंसे भरा था। इसके अतिरिक्त और भी कुछ सामान बे-तरतीबीसे इधर-उधर रखा था।

दो बार आँखें मसलकर प्रदीपने एक अँगड़ाई ली और बाहरकी अवस्था देखनेके लिए पिछली खिड़कीके पास आ खड़ा हुआ। इस ओर दूर तक खुला था। बहुत बार चारों तरफ निस्तब्धता छा जानेपर वहाँ खड़ा होकर प्रदीप चाँदनी रातोंका वैभव निहारा करता। कितनी ही बार भावावेशकी बेबसीमें उस खिड़कीके सींकचोंको दोनों मुट्ठियोंमें कसकर बाहरके शान्त-सौम्य वातावरणकी सहायतासे उसने स्वस्थ होनेका सफल और असफल प्रयत्न किया था। कितनी ही बार अपलक, उदासीन नेत्रोंसे, उस पार क्षितिजके धुँधले कोनेपर अपनी कुछ गहनतम समस्याओंका सुलझाव भी उसने पाया था। यह खिड़की उसके एकान्त, एकांगी जीवनकी मूक सहचरी-सी हो चली थी।

आज उसने देखा कि बाहर तारिका-विहीन यामिनी काले मेघोंके आवरणमें लिपट, अपरिसीम मात्रामें प्रगाढ़ हो गई है। उस गहन अंधकारमें पथ ढूँढ़नेको निकली आँखें ठोकर-सी खाकर अटक गईं। दीख पड़े केवल, दूर लाल किलेमें उठे हुए, एरियल-स्तम्भोंकी चोटीपर टिमटिमाते हुए दो-चार लाल बल्ब या एक क्षण भभककर बुझ जानेवाले तड़ित्प्रकाशमें सजीव होते हुए जामा मस्जिदके सफेद गुम्बद और लाल मीनारे। बीच-बीचमें माल रोडपर दौड़ता हुआ एक सिमटा हुआ तीव्र प्रकाश किसी मोटरका अस्तित्व जता देता था। झंझावातका अग्रदूत बनकर आनेवाले द्रुतवाही पवनका साँय-साँय स्वर अपनी भोली भाषा में एक संदेश-सा सुना रहा था।

प्रदीपने हाथ बाहर निकालकर देखा, कुछ बून्दें पड़ रही थीं। वहाँसे हटकर मुड़ते ही बराबरवाली जालीमें से कुछ प्रकाश-सा दिखाई पड़ा

अर्थहीन कौतूहलसे उसने एक झरोखेमें से झाँकना आरम्भ किया। उसने देखा कि उधर उस सामनेवाले कमरेमें खिड़कीके सहारे बिछे हुए पलंगपर बैठे हुए एक युवक और युवती प्रणयकी प्रारम्भिक छेड़-छाड़ कर रहे हैं। सहसा जैसे उसके हृदयकी धड़कन रुक गई, एक अपरिमेय बोझ-सा छातीपर बढ़ चला और आकुल-सा होकर वह अपने बिस्तरपर बैठ गया। उसे साहस नहीं हुआ कि फिरकर एक नज़रसे उस मधुर नाटकका अगला दृश्य देख ले।

एकबारगी प्रदीपकी छातीमें तूफान मचल उठा, सारे शरीरकी शिराओंमें रक्त कसमसाने लगा और आँखोंमें नाच उठी एक नारीकी चञ्चल, स्निग्ध मुखाकृति। एक अवर्णनीय अनुभूतिमें प्रदीप डूबने-उतराने लगा।

अभी पाँच दिन पहले तो वह विवाह करके लौटा था। उस दिन भी ऐसी ही गहन रात थी। दीपकके मृदुल आलोकमें उसने झिझकती उँगलियोंसे एक अज्ञात, अपरिचित रमणीका झीना घूघट उठाया था; लज्जावनत मुखकी ठुड्डीको दूसरे हाथके हलके संकेतसे उठाकर, कुछ-कुछ रक्तिम हो चले, एक सुन्दर-श्यामल मुखड़ेपर उसने अपनी आँखें गड़ा दी थीं। और अर्द्ध निमीलित नेत्रोंके मौन चांचल्यमें, उन मुस्कान-भरे पतले अधरोंकी अरुणिमामें, उसने प्रणयकी प्रथम प्रसादी प्राप्त की थी। उन रातोंकी वे अनुभूतियाँ वह भूला नहीं था। एक-एक करके वे सब सजीव होने लगीं। उसके नासिका-रन्ध्रोंमें एक स्वस्थ नारी-देहकी भीनी-भीनी सुगन्ध भरने लगी, उसकी आँखोंमें थिरकने लगी एक मुग्धकारी मुख-मुद्रा, उसकी हथेलियोंमें एक सुडौल मांसल शरीर और कोमल एवं चिकने केशपाशकी स्पर्श-स्मृति जाग उठी, उसके ओठोंमें दो रस-भरे, कुछ

कम्पित होठोंके अगणित चुम्बन फड़कने लगे, और उसके कानोंमें झंकारने लगी एक प्रणय-विह्वल, फिर भी भयभीत-सी, मीठी, संगीतमय और फुसफुसाती, दबी आवाज। उस मधुरिमामें डूबकर सराबोर हो गया प्रदीप।

पर वह सपना अधिक नहीं ठहर सका। धीरे-धीरे उसको ज्ञान हुआ कि वह सोहाग-रातके पलंगपर उर्मिलाके बाहुपाशमें नहीं ; बल्कि उससे कोसों दूर अपनी कोठरीकी तंग दीवारोंसे घिरा बैठा है। सत्य सदा से सपनेपर विजय पाता आया है। आजके सत्यने प्रदीपके मनमें एक दर्द-सा भर दिया।

सहसा उसे लिन युटांगके उपन्यासका कथानक याद आ गया। वहाँ भी प्रथम अभिसारके पश्चात् अलग होकर नायक और नायिका पुनर्मिलन का पथ खोज रहे थे। तीसरी रातकी अन्तिम वेलामें उर्मिलाने करुण स्वरमें कहा था—

"एजी, कल तो हम अलग हो जाएँगे !"

"सो तो होगा ही।"—उसने उत्तर दिया था।

"फिर कब मिलेंगे, भला ?"—उर्मिलाने प्रश्न किया था।

"कौन जाने।"—उदासीन भावसे उसने कह दिया था।

पर उस दिनकी निरलिप्ति और उदासीनताकी याद उसे आज बेतरह खटकने लगी। वह क्योंकर ऐसा कठोर हो सका ! उसकी समझमें नहीं आ रहा था। प्यासा प्रेम-तृप्तिकी अवस्था भुला बैठा।

प्रदीप सोचने लगा कि जीवन भी कैसा कठोर है। मधुरताके दो क्षण बीत जाते हैं और शेष रह जाती हैं विषादकी युगाकार घड़ियाँ। उसके

साथ ऐसा ही तो हुआ। उसने अनेकों ट्रैजिडी पढ़ी हैं, सब जगह ऐसा ही तो होता है।

पर......नहीं, वे जो दो स्त्री-पुरुष उसने अभी-अभी देखे थे, उनको वह बराबर पाँच सालसे इसी प्रकार देख रहा है। एक दिन भी तो शायद उनका विछोह नहीं हुआ। वह किसे सत्य माने, अपने जीवन और अपनी ट्रेजिडीको या उनके जीवनको? कैसे कहा जाए कि प्रणय-जगत्में मिलन सत्य है या विरह? उधर कोई नियम भी है या शुद्ध संयोग-मात्र? कुछ समझमें नहीं आया। जीवनमें कुछ लोगोंको यदि अजस्र आँसू और आहें मिलती हैं, तो कुछको अविरल मुस्कान और गायन। विधाताका यह कैसा विचार है? न्यायके आँकड़ोंमें तो यह अटपटा खेल बांधा नहीं जा सकता। तो किस सिद्धान्तको लेकर चलता है यह सृष्टि-चक्र? कौनसे नियमोंपर टिका है यह विचित्र विधान?

सोचते-सोचते प्रदीप अस्थिर होने लगा। यह समस्या नई नहीं थी उसके लिये। दुःख-सुखकी प्रत्येक झांकी उसे विश्व-चक्रका हिसाब-किताब, कार्य-कारण समझनेको उत्सुक कर डालती थी। मानव-हृदयमें न्यायकी जो अमिट धारणा है, जो दुःख-सुखके भोगका उत्तरदायित्व और पात्रता ढूँढ़ना चाहती है, उसीके आंकड़ोंमें प्रदीप जीवन-रहस्य समझना चाहता था। इसी जिज्ञासामें उसने प्राची और प्रतीचीके अनेकों धर्म-ग्रन्थ और दर्शन-शास्त्र उलट-पलट डाले थे। पर समाधान वह किसी दिन भी नहीं पा सका। सारे धर्म और दर्शन एक ही खोजमें लीन थे—विशृङ्खल, व्याघातपूर्ण विश्व-जीवनको तर्कबद्ध करके नियम और सुचारुताका अहसास पैदा करना। किन्तु ये सारे सिद्धान्त टिके

हुए थे कुछ मूल आधारों पर, जिनको स्वतः सिद्ध विश्वासके रूपमें ग्रहण किये बिना, एक पद भी आगे बढ़ना असम्भव ठहरता था और बार-बार थक कर प्रदीप उस गवेषणाको छोड़ देता था। उसने कितनी बार चाहा था कि काव्य और साहित्यके विविध रसानुभवमें डूबकर नैतिक और तार्किक-बुद्धिकी यह मांग ठुकरा दे। किन्तु वह जिज्ञासा थी कि जाती नहीं थी, वह कौतूहल था कि बढ़ता ही रहता था। विश्वास-शून्य और संशय-ग्रस्त उसके जीवनमें एक बेढब अधीरता भरती जा रही थी और फैलती जा रही थी आचार और विचारकी एक असंयमित अव्यवस्था। मनमें कुछ विषाद-सा, कुछ शैथिल्य-सा, कुछ ग्लानि-सी उसे प्रतिपल टोंचा करती।

सामाजिक धारणाओं, रीति-रस्मों और आदर्शोंको या तो वह सबल स्वार्थोंकी पुष्टि करते पाता था अथवा रूढ़ि-बद्ध, अन्ध-विश्वास-ग्रस्त। समाजसे वह टक्कर ले सकता था, उसमें तोड़-फोड़ मचानेकी क्षमता उसमें थी, उसके नव-निर्माणका आदर्श भी उसके सम्मुख था। किन्तु विश्व-जीवनमें पद-पद पर मिलनेवाली असम्बद्धता और उपेक्षा देखकर उसे विरक्ति हो उठती थी। इस समस्त प्रत्यावर्तनमें कहीं भी उसे नीति अथवा न्यायका समावेश नहीं प्रतीत होता था, दीख पड़ती थी केवल लौह-नियमोंकी एक अटूट, अचूक शृङ्खला, जिसके कराल पाशमें बँधकर एक अर्थ-हीन गतिसे समस्त सौर-मण्डल और प्राणी-जगत् घूमा करता।

उत्सुकताके साथ जीवन-पथ पर अग्रसर होनेके लिये वह चाहता था एक विश्वासका बल, कार्यरत होनेके लिये आवश्यक था एक प्रेरणाका

संकेत। किन्तु वह बल और वह संकेत तो किसी दिन उसे मिला नहीं। संशयके झंझावातमें बेपतवारकी नौकाके समान इतस्ततः भटक वह त्रस्त-सा हो जाया करता, उसे क्षोभ-सा होने लगता और बार-बार वह कह उठता था—"गोली मारो। ज़िन्दगी जीनेके लिये मिली है। विश्लेषण करके समझनेके लिये नहीं।"

किन्तु यह थकान उतर जाने पर फिर वही जिज्ञासा, वही कौतूहल और वही खोज।

ऐसा जीवन था प्रदीप का। आजकलसे नहीं, पूरे पांच सालसे। उस लम्बे अर्से पर नज़र दौड़ाकर वह समझ नहीं पाता था कि वह ज़िया किस तरह। अपनी किताबोंको देखकर उसे अपनी ज्ञान-पिपासाका भान होने लगता, किन्तु दूसरे क्षण ही उसे ऐसा जान पड़ता, मानो यह अथक ज्ञान-संचय ही उसके अज्ञान और अविश्वासको बढ़ावा दे रहा है।

अभी कुछ दिनोंसे एक नारीके प्रेमने उसके हृदयमें स्थान पाया था, उसे एक नवीन अनुभूति प्रात करनेका अवसर दिया था। किन्तु वियोग की बेला पाकर, वह भी तो उसकी वेदनाके भारको बढ़ा गया। इस सबका किनारा वह कहाँ ढूँढ़े?

न जाने कितनी देर और प्रदीप इस विषादके भंवरमें डूबा रहता। किन्तु बाहरके बढ़ते हुए तूफ़ानने उसे झकझोर कर जगा दिया। जिस बड़े कमरेके एक कोनेमें वह कोठरी थी, उसके हलके, काठमें परिवेष्टित, टीनके किवाड़ हवाके झोंकोंसे झूलकर एक-बारगी भड़भड़ा उठे। वह साँय-साँय का स्वर मिट चला था और उसका स्थान ले लिया था घुमड़-

घुमड़कर उठनेवाले एक क्रुद्ध आक्रोशने। वृष्टिकी रिमझिम एक भयानक तड़ातड़में बदल चुकी थी और एक कर्कश, कर्णकटु मेघ गर्जनके साथ-साथ झिप-झिप करके बिजली चमक उठती थी। खिड़कीसे झांककर देखा प्रदीपने, प्रलयका-सा समारोह था, मानो धन-धान्य और जन-गणसे पूर्ण वह विशाल नगरी इस भयंकर वारि-वर्षणमें गलकर बह जायेगी। कैसा विषम वातावरण था, कैसी बीभत्स बेला!

खिड़कीमेंसे पानीकी बौछारें भीतर आकर सब कुछ भिगोये दे रही थीं। एक अलस-भावसे प्रदीपने किताबें सहेज कर आलेमें रख दीं और गद्दा समेटकर एक ओर कर दिया। खिड़कीमें किवाड़ नहीं थे पर और कुछ अड़ाकर पानी बन्द करनेका प्रयास भी उससे नहीं बन पड़ा। उधर खड़ा होनेके कारण वह स्वयं भी कुछ-कुछ भीग चला था। हटकर वैरागी-सा एक ओर बैठ गया। कुछ पढ़नेकी कोशिश की, पर मन नहीं लगा, एक-दो किताब छूकर छोड़ दी।

सिगरेट सुलगा कर पीने लगा। कुछ आश्वासन-सा मिला। पर सिगरेट तो आज उसके पास एक ही थी, खतम हो चली। वह फिर अधीर होने लगा। समझ नहीं पाता था कि क्या करे। उसका दम घुटने लगा उस कोठरीमें। कई बार ऐसा होता था और आधी पिछली रातमें वह घूमने निकल जाया करता। उद्देश्यहीन-भावसे घूमते-घूमते थक जाता, तो आकर सो रहता। शारीरिक शैथिल्य, मनकी अस्थिरता पर काबू पा लेता था। वह घूमनेकी प्रवृत्ति आज फिर उसके मनमें असाधारण रूपसे जाग उठी।

उठकर प्रदीपने अपने फुल-बूट पहिन लिये और खद्दरकी चादर ओढ़कर बाहर निकल पड़ा। बाहर प्रकृति कितना भयावह रूप धारण किये थी, इसकी मानो उसे चेतना ही नहीं रही हो। मनके भीतर, तो भीषण उथल-पुथल मची थी। उसकी तुलनामें यह बाहरका हवा-पानी अत्यन्त हल्का होकर रह गया। शीतकालकी अर्द्ध रात्रि और ऊपर से यह मूसलाधार पानी, सोचकर ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं। पर जिसको हृदयकी उन्मत्त भावनाओंके अन्धड़का अनुभव है, वह मानव-प्राणी द्वारा वस्तु-स्थितिकी इस भारी अवहेलना पर विस्मय नहीं कर सकेगा। ऐसा ही तूफ़ान उठा था प्रदीपकी छातीके भीतर। उसका कारण अज्ञात, दिशा-विधि अनिश्चित, बस अचानक एक बवण्डर-सा उठकर सारी शान्ति, सारा धैर्य निगल गया। ऐसे समयमें न बैठा रहा जाता है, न कुछ करनेको सूझता है। शरीरके लिये मनका बोझ दूभर हो उठता है। जी चाहता है कि चलते रहें, अनथक, उद्देश्यहीन गतिसे।

विचार-शून्य अवस्थामें जीनेसे उतरकर प्रदीप मकानके बड़े, सदर दरवाजे पर जा पहुँचा और अर्गल हटाकर इतने आवेगसे किवाड़ खोले कि बराबरकी दीवारोंसे टकराकर वे चीत्कार कर उठे और साथ ही एक मानव-देह लुढ़ककर उसके पैरोंके पास आ रही।

"कौन है?"—विचलित-सा होकर प्रदीप चिल्लाया।

कोई उत्तर नहीं मिला। विमूढ़-भावसे वह खड़ा रह गया। बादल गरजा और बिजली चमकी। प्रदीपने देख लिया कि सामने फुट-पाथ पर दिनभर बैठकर भीख मांगनेवाली बुढ़िया संज्ञाहीन अवस्थामें उसके सामने ऐंठी पड़ी है! एक क्रूर-भावसे उसने उस भीगी देहको घसीटकर मकान

के भीतर कर दिया और अपनी चादर उसके ऊपर डाल, बाहर निकलकर किवाड़ बन्द कर दिये और पल भर भी रुके बिना, वह फुट-पाथपर बढ़ता चला गया। वर्षाके हलके पड़नेका कोई लक्षण नहीं था। पर उधर ध्यान दिये बिना ही वह चलने लगा। शरीर पर एक कुरता मात्र था और पैरोंमें लट्ठेका पायजामा। वे दो मिनटमें भीगकर उसकी देहसे चिपट गये। छुरीके समान, हड्डियां बेंध देनेवाली हवा चल रही थी और ऊपरसे पड़ रहा था बरफ-सा पानी। पर प्रदीपने एक बार रुककर सोचा तक नहीं कि वह किधर जा रहा है, क्यों जा रहा है? तूफ़ान उमड़ रहा था उसके भीतर और झोंकमें वह बढ़ता चला गया।

बिजली चमकती थी, तो वह देख लेता था कि दोनों ओरकी दुकानोंके बाहर बने तख्तों पर, टीनके शेडोंके नीचे या आगे तक बढ़ाकर बनाये गये छज्जोंके नीचे, भिखमंगोंका समाज जमा था। जिस-तिस तरह फटे-पुराने गुदड़ोंमें शरीर ढाँपकर लेटे हुए, उठंगकर बैठे हुए, वे लोग आत्मरक्षा कर रहे थे। कोई रो रहा था, कोई गा रहा था कोई बड़बड़ा रहा था। एक जगह उसने देखा कि एक ऊबड़-खाबड़ घिनौना अधेड़ एक काली-कलूटी, मैली-कुचैली लड़कीको बाहोंमें भरे तड़ातड़ उसके चुम्बन ले रहा था और उनके बराबरमें पड़ा हुआ घिघियाकर बिलबिला रहा था एक बच्चा। हठात प्रदीपके मुँहसे निकल गया 'साले कुत्ते!'

पर वह रुका नहीं, बढ़ता गया। उसे इन लोगोंके प्रति न करुण-भाव था, न सहानुभूति। मनमें एक उत्कट-घृणा और असहिष्णुता भरती जा रही थी। उसकी समझमें नहीं आता था कि, ये लोग क्यों

जीते हैं। आत्म-सम्मानके अहसासको इस प्रकार भुलाकर नारकीय कीड़ोंकी तरह ज़िन्दगीका बोझा ढोना पशुता है या पागलपन। इन्हें चाहिये कि या तो विद्रोह करके उस व्यवस्थाका अन्त कर दें, जिसने इनको इस हीन-आवस्था तक पहुँचा दिया है, अन्यथा ज़हर खाकर अपने नगण्य और कुत्सित जीवनका अन्त कर दें।

किन्तु उसकी दार्शनिक, विप्लवी बुद्धिमें यह सीधा-सा सत्य नहीं समा सका कि जीवनकी समस्यापर सोचना प्रत्येक व्यक्तिका काम नहीं। सभ्य और शिक्षित समाजमें ही कितने लोग उस विषयपर सोचने-समझनेका कष्ट उठाते हैं? फिर ये तो ठहरे भिखमंगे, समाजके गलित-विगलित, परित्यक्त प्राणी, सर्वथा मूढ़। निरक्षर और कुसंस्कारोंमें पालित-पोषित। उनमें इतनी समझ कहां कि सृष्टि-विधान, समाज-व्यवस्था पर चिन्तन करें। दर्शन नहीं पढ़ा, विज्ञान नहीं जानते, कला नहीं सीखी, समाज-शास्त्रसे अपरिचित, काव्य-साहित्य द्वारा अपरिमार्जित, भला उनमें वे युक्तियां लड़ाने और भावनायें सहेजनेकी सामर्थ्य कहांसे आती? उनके लिये तो संसार, समाज, मानव, जैसा जो कुछ है, ठीक है। राजा-रंक दोनों ठीक हैं। परमात्माकी रचना है, विधाताका विधान है, भाग्यका खेल है—बस, फिर इधर-उधरकी बात सोचकर डांवाडोल होनेसे और असन्तोष बटोरनेसे क्या लाभ? जो कुछ है, है, बस और आगे क्या? सवाल ही नहीं उठता इसके आगे। अपना-अपना भाग्य, अपना-अपना भोग।

पर प्रदीप नहीं समझ सका यह सब। वह तो सृष्टि-विधानके प्रति संशय-ग्रस्त था। सामाजिक व्यवस्थापर उसके क्षोभ और ग्लानिकी सीमा

नहीं थी। न्याय, धर्म, नीति और कानून—सबके चालू ढंग-ढर्रोंसे उसे बेहद चिढ़ थी। आजका मानव उसे पशु जँचता था, भूखा, ईर्ष्यालु, हिंस्र। और इन सब विचारों और विधानोंको नष्ट करके वह नव-निर्माणके स्वप्न देखा करता—विचार-जगत्में और भाव-जगत्में। वह चाहता था—एक सुन्दर, स्वस्थ एवं सम्पूर्ण मानवका उदय। नव-निर्माणके ये स्वप्न उसके लिए विश्वास बन जाते; पर वह अटक जाता था, अन्ततः सृष्टि-चक्रकी बात सोचकर। यहाँ आकर उसकी धाँधली सुलझनेमें नहीं आती थी। यदि यह सारा पसारा ही उद्देश्यहीन है, अर्थ-रहित है, यदि मनुष्य मिट्टीके पुतलेसे अधिक कुछ नहीं है, यदि कालके प्रवाहमें सब बह जाता है, अच्छा भी, बुरा भी; तो ये सारे आदर्श, ये सारे स्वप्न व्यर्थ हैं। उस नव-निर्माणके मायने क्या, जिसकी गारन्टी अन्ततः सृष्टि-नियमनके मूल शिलाधारोंमें मौजूद नहीं? कौन बनेगा उसका ट्रस्टी, उसका संरक्षक; कौन देगा उसके अबाध्य, अमिट जीवनकी जमानत? कोई तो नहीं। तो सब व्यर्थ है।

वास्तवमें अपने सत्यं शिवं सुन्दरम् के आदर्शोंको क्रियात्मक रूप देनेका बीड़ा उठानेके लिए उसे आवश्यकता थी एक विचारशील, न्यायकारी सृष्टि-नियन्ता की जो यह सब सम्भाल ले। पर वह सत्ता कहाँ थी, वह होती तो यह गोलमाल, यह घुटाला होता ही क्यों? वह यदि नहीं रही, तो आएगी कहाँसे। पर उसके बिना तो कुछ करना व्यर्थ है। भला कौन सम्भालेगा पीछेसे यह सब? प्रदीपके चले जानेपर उसके नव-निर्माणोंका रखवाला कौन होगा?

इसी प्रकार वह अहंकारी युवक अपने विचारोंके जालमें अपने-आपको बुरी तरह फाँसकर छटपटाने लगता। पर सुलझाव किधर था? और यह उसने एक दिन भी नहीं समझा कि यह समस्या और सोचनेका यह ढंग, सब एकदम गलत है।

उन भिखमंगोंकी भीड़पर ताव खाता, उलझा, भूला वह चल रहा था। अचानक एक रोषपूर्ण स्वर सुना।

"अबे, सिरपर चढ़ेगा क्या? देखता नहीं मैं लेटा हूँ?"

"लेटा है तो लेटा रह, जगह तो मोल नहीं ली।"—एक दूसरे गले ने उसी उत्तेजनासे उत्तर दिया।

"पहले मैंने घेरी जो थी।"

"घेरी थी तो क्या? तेरे नाम हो गई।"

"देख बे, कहे देता हूं, मुझसे ज्यादा चलाई, तो बस.........।"

"बस क्या, देखता हूं तू क्या करेगा, जगह क्या तेरे बापकी है?"

"अच्छा, तो समझता हूं, बेटा!"

इसके बाद माँ, बहिन और न-जाने किस-किसको लेकर उत्तेजित स्वरमें गर्हित गाली-गलौज होने लगा। प्रदीप ठिठक गया। अचानक न-जाने क्यों, कुछ दिलचस्पी-सी हो गई।

आस-पाससे भिखमंगोंकी टोली पुकार उठी—"हाँ, होने दो, दे सालेके।"

क्षण-भरमें बिजलीके प्रकाशमें प्रदीपने देखा कि दो अर्द्धनग्न, काले-किचटे शरीर एक-दूसरेसे गुथकर सड़ककी कीचड़में लोट रहे हैं और

उनके चारों ओर जुटती जा रही है तमाशगीर भिखमंगोंकी भीड़—स्त्री, पुरुष, बूढ़े, नौजवान, बालक।

भड़ककर प्रदीप उस ओर झपटा और उन गुत्थी हुई देहोंपर भरपूर पैरकी ठोकरें मारकर चिल्ला उठा—

"अबे हरामजादो, तुम्हें शरम नहीं आती।"

दोनों सहमकर खड़े हो गए। एकने रोनी आवाज़में कहा—

"मेरा क्या कसूर है बाबूजी, मैं तो······।"

"चुपकर हरामजादे, नहीं तो······।"—प्रदीप गरज उठा। और वह चुप हो गया।

उस अजीब समाजको जलती आँखोंसे घूरकर प्रदीप फिर चीख उठा—"भाग जाओ यहाँसे, वरना एक-एककी हड्डी तोड़ दूंगा।"

और काई-सी फटकर लुप्त हो गई वह भीड़। एक सभ्य-समाजके व्यक्तिकी इस अनधिकार दखल-अन्दाजी और भर्त्सनापर किसीने कान तक न हिलाया, चूँ तक न की!

उलटकर फिर बढ़ चला प्रदीप। शारीरिक बल प्रयोग करनेके पश्चात् उसका रुद्ध आवेग कुछ कम पड़ने लगा। फिर भी उसे चलाते रहनेके लिए काफी बचा था।

अजमेरी गेटके मोड़पर एक पुलिसका सन्तरी बरसाती ओढ़े, डण्डा लिए मुस्तैद था। आहट पाकर बोल उठा—"कौन है?"

"मैं हूँ।"—प्रदीपने चमककर उत्तर दिया।

"मैं कौन?"—और एक मूर्त्ति बढ़कर उसके पास आ गई। वह ठिठक गया, कुछ बोला नहीं। पास आकर सन्तरीने फिर प्रश्न किया—

"कौन है भाई तू ?"

"मैं, यूँ ही······।"

"तुम्हारा नाम क्या है ?"

"प्रदीप ।"

क्या करते हो ?"

"कालेजमें पढ़ता हूं ।"

सहसा सिपाहीका स्वर नरम पड़ गया ।

"तो इतनी रातको, ऐसेमें आप कहाँ निकल पड़े ?"

"नींद नहीं आ रही थी, घूमनेको जी चाहा······।"

"पर यह तो घूमनेका कोई वक्त नहीं, और फिर आप जानते हैं कि यह अजमेरी गेट है। यहाँ बारह बजेके बाद चलना-फिरना आवारा-गर्दी कहलाता है और कानूनन जुर्म है।"

प्रदीप चौंक उठा। सहसा उसे वस्तु-स्थिति का ज्ञान हो चला। उधर किसी कोठेपरसे साजपर चलती हुई पायलकी छूमछननके साथ किसी स्त्रीका विकृत, बैठा स्वर गा रहा था।

"गोरे गालोंने दिल छीना"

और साथ-साथ मस्तानोंकी "वाह-वाह" "हाय-हाय" और "मार डाला" का मिला-जुला हो-हल्ला सुन पड़ता था। सिपाही कह रहा था "देखिये आप लौट जाइये, इस तरह घूमना-फिरना ठीक नहीं। कहीं जाना-आना हो तो थोड़े वक्तसे आइये, अब तक तो सारी महफ़िलें जम चुकी।"

प्रदीप इस संकेतका अर्थ कुछ समझा और कुछ नहीं समझा। मुंह उठाकर सिपाहीकी ओर ताकने लगा। वह कह रहा था—

"पहले तो आपने कुछ पहना नहीं, फिर जो कुछ बदनपर है, सब भीगकर कीचड़ हो गया है, कहीं ठण्ड-वंड लग जायगी, तो मुसीबत हो उठेगी।"

सिपाहीके स्वरमें आशातीत सहानुभूति थी। पर प्रदीप कुछ कह न पाया।

"कहां रहते हैं आप ?"

"यहीं, पासमें, नई सड़क पर।"

"तो जाइये, कपड़े बदलकर सो रहिये, फिजूलमें हैरान होना बेजा है।"

वह बिना कुछ बोले मुड़ पड़ा। दूसरी ओरसे, पहले गीतके स्वरको दबाता हुआ, किसी पुरुषका चिकना पर फटा हुआ गला कह रहा था—

"भूल हम पाये न सूरत बेवफा दिलदार की"

और साथ-साथ बरसनेवाली तबलेकी धिन-धिन और नियमित तालियोंकी ताल स्पष्ट बता रही थी कि कोई कव्वालोंका अखाड़ा जमा है। पानी उसी रफ्तारसे बरस रहा था।

पर प्रदीपके भीतरका तूफ़ान उतरने लगा। शरीर शिथिल पड़ने लगा और साथ ही साथ उसके दांत बज उठे। आँखें फेरकर उसने पहले-पहल जैसे देखा और समझा कि चारों ओर क्या क़यामत बरपा है। वह सिहर उठा, उसका दिल दहलने लगा।

सहसा उसे अपने गाँवकी याद आई और याद आई अपने मिट्टीके बने पुराने घर की। वह घर न जाने कब बना था। उसकी छतकी कड़ियां झूल आयीं थी और करंजोंमेंसे मिट्टी झड़ती थी।

क्या ऐसी भयानक वर्षा उसके गांवमें भी हो रही होगी? तो उसका मकान क्या बचा होगा? उसकी मां कहाँ गयी होगी?

और उर्मिला? अब तो वह अपने बापके घर है। किन्तु एक दिन तो उसे भी उसी मकानमें आना होगा। कैसे रहेगी वह वहाँ?

एक दुर्वह व्यथासे उसका हृदय भरने लगा। आँखोंसे आँसू झड़ चले। इस दुनियाँमें इतनी अट्टालिकायें हैं, इतने बड़े-बड़े मकान, पर किसीमें भी उसका साझा नहीं। कैसा अभागा है वह!

खुद उसके गांवमें कितने पक्के, आलीशान मकान खाली पड़े हैं। किसी समय जरूरत समझकर पैसेवालोंने बनाये थे, वे सब मर-खप गये अथवा शहरमें जा बसे और मकानोंमें पड़ गया ताला। आज उनके भीतर बसते हैं बन्दर, कबूतर, चिमगादड़ और यदि गांववालोंके विश्वासों को सत्य माना जाय, तो भूत, प्रेत, चुड़ैल भी। सबको अधिकार हैं, अधिकार नहीं तो एक अकेले मानवको। हाय रे मानव, और हाय रे मानव-समाज!

अत्यधिक मात्रामें करुण हो उठा प्रदीप। भावनाके इस नवीन प्रवाहमें वह न जाने और क्या सोच जाता और क्या कर बैठता, पर अपने शरीरकी चेतनाकी और अवहेलना उससे न बन पड़ी। उसे बुरी तरह सर्दी सता रही थी। थोड़ी गर्मी पानेके लिये वह पानीसे बचकर, किनारे-

किनारे, सायबानों और छज्जोंके नीचे-नीचे लम्बे-लम्बे डग भरता हुआ चल पड़ा।

जब वह उस स्थलके निकट पहुँचा जहाँ उसने भिखमंगोंको ठोकरें लगाई थीं, तो उसका मन अपने दुर्व्यवहारकी बात सोचकर ग्लानिसे भर उठा। उसने चाहा कि उन लोगोंसे माफी मांगे, पर दूसरे ही क्षण उसका सभ्य, सामाजिक वर्ग-मानव संकोचसे सिहरने लगा। जहाँ अन्याय और अत्याचारके प्रति सहिष्णुता है, शत्रुता नहीं, वहां क्षमा-प्रार्थना कैसी? किससे माँगे वह माफी? कोई हो तो।

और विना रुके चलता हुआ वह अपने मकानके निकट आ पहुँचा। किवाड़ खोले। सामने वही बुढ़िया, उसी तरह उसकी चादरसे ढकी पड़ी थी। यत्न-पूर्वक उसने द्वार बन्द किया और झुककर बुढ़ियाकी नब्ज टटोली। नाकपर हाथ रखकर देखा कि कुछ साँस चल रहा है। तो कुछ प्राण बाकी हैं, शायद सुबह तक बच जाये। हस्पतालको फोन कर देगा वह। चादर ज़रा और सम्भाल दी। इससे अधिक उपचार करनेकी शक्ति उसमें नहीं थी।

ऊपर जाकर उसने कपड़े उतारे, शरीर पोंछा और सूखे कपड़े पहनकर लिहाफमें दुबक गया। बत्ती खुली छोड़ दी जिससे कुछ गर्मीका अहसास होता रहे। अन्धेरा न जाने क्यों शीतल होता है?

ज़रा शान्त स्थिर होते ही उसे अंग-प्रत्यांगमें थकावटकी मधुर पीड़ा का आभास होने लगा। उसे ऐसा लगा मानो वह केवल शरीर मात्र है, मन इत्यादि कुछ नहीं। केवल शरीरकी ही एक बोझिल चेतना

उसे आत्मसात किये जा रही थी। ज्यों-ज्यों गर्मी आने लगी, वह नींदके झोंकोंसे दबता गया और एक घड़ी भरमें वह जीता, जागता, चलता-फिरता तूफ़ान उतर कर सो गया।

वर्षाका उद्वेग भी कम पड़ता जा रहा था। पवन भी मानो थककर सुस्त पड़ने लगा था।

२

प्रातःकाल प्रदीप जब उठ बैठा, तो दो घड़ी दिन चढ़ चला होगा। पूर्वकी खिड़कीसे आनेवाली सुबहकी गुलाबी धूप सारी कोठरीको भरे दे रही थी। और मन्दिरसे आनेवाली घड़ियाल और शंखकी आवाज जता रही थी कि पुजारियोंके भगवान् भी जाग उठे हैं। आँख खुलते ही प्रदीपकी पहली नजर पड़ी टाइमपीस पर—आठ बजनेवाले थे।

यह क्या किया ? ठीक सात बजे तो उसे अपनी पहली ट्यूशनपर पहुँचना था और यह बज गए आठ—जब कि उसकी दूसरी ट्यूशनका वक्त होता था। सुनयनाको तो वह अब जाकर पढ़ा देगा, पर तारा क्या कहेगी ? एक तो खुद उसका मिजाज़ तेज़ है, ज़रा देर होते ही मुँह बनाकर बैठ जाती है और फिर उसके पिता—उनको यदि पता चल

जाता है कि आज मास्टरजी देरसे आए हैं, तो बस। उनकी भाव-भंगिमा याद कर प्रदीप सिहर उठा।

पर साथ-ही-साथ वह तैयार होता जा रहा था। हाथ-मुँह धोकर कपड़े बदले, बाल ठीक करके जूते पहनने लगा। बदन अभी तक दुख रहा था, सिर भारी था, आँखोंमें बोझ-सा जान पड़ता था। पर इन सबकी परवाह किए बिना वह चल निकला। नौ बजे लौटकर उसे नहाना-धोना है और पौने दस बजते-बजते तो उसे यह कोठरी छोड़ देनी होगी। बाहर कमरेमें क्लास लगती है, स्कूलका मकान है, सुबह पौने दस बजे तक और शामको छः बजे बाद ही वह यहाँ रह सकता है, बीचमें नहीं।

पास ही था सुनयनाका घर। जल्दी-जल्दी क़दम बढ़ाता वह वहाँ पहुँचा। सुनयना बिस्तरपर बैठी चाय पी रही थी, वहींपर कुर्सी डालकर पढ़ाया करता प्रदीप उसे।

"आज तो आप कुछ लेट हैं!"—वह बोली।

"हाँ।"—थकी-सी आवाजमें प्रदीप बोला।

"क्या ताराके पास अटक गए थे?"

"नहीं, वहाँ तो आज जाना भी नहीं हुआ।"

"क्यों?"

"ऐसे ही, आँख देरसे खुली। बस बिस्तरसे उठकर आ रहा हूँ।"

"अब आँख भला क्यों खुलने लगी, उर्मिलाके सपने जो देखनेको मिलते हैं?"—प्याला रखकर शोख़ आँखोंसे वह मुस्करा दी।

प्रदीपको अच्छा लगा यह मज़ाक। काश! कि यह सच होता! वह कुछ बोला नहीं।

"बैठिए तो, खड़े क्यों रह गए? आप खोए-खोए-से क्यों रहते हैं?"

"नहीं, ऐसा तो कुछ नहीं, सोच रहा था—तुम चायसे निपटो, तो इतनेमें ताराको फोन ही कर लेता।"

"रहने भी दीजिए, क्या जरूरत पड़ी है भला आपको। एकाध दिन तो ऐसे हो ही जाता है।"

"फिर भी···नहीं तो वह कहेगी कि गुम रहे और खबर तक न दी।"

"ओहो, तो आप बहुत डरते हैं उससे।"

"अरे भइ, डरना पड़ता है।"

"मुझसे तो नहीं डरते आप।"

"तुमने भला डराना ही कब चाहा।"

सुनयना फिर मुस्करा दी और बिना कुछ बोले ही वह दूसरा प्याला बनाने लगी।

"चाय मंगाऊँ आपके लिए? रोज तो आप इन्कार कर देते हैं।"

"अच्छा, आज पीऊँगा, मँगाओ······पर पहले जरा ताराको फोन कर लूँ।"

सामनेके कमरेमें एक घरेलू आफिस था, वहाँ सुनयनाके पिता फुरसतके वक्त बैठकर काम किया करते थे। वहीं जाकर प्रदीपने चोंगा उठाकर चक्का घुमा दिया। उधरसे आवाज आई—

"हल्लो, कौन साहब हैं?"—ताराके पिता बोल रहे थे।

"मैं हूँ जी, प्रदीप।"

"अच्छा आप हैं, मास्टरजी! कहाँ रहे आप?"

"जी ऐसे ही, रातको पढ़ते-पढ़ते देर हो गई थी, सुबह आँख नहीं खुली।"

"तो साहब जितना ध्यान आप अपनी Studies का रखते हैं, उतना ही अपने Students का भी तो रखना चाहिए न।"

"सो तो है, पर कभी-कभी······।"

"कभी-कभी क्या······महीनेमें चार तो इतवार पड़ते हैं और चार-पाँच रोज़ आप वैसे छुट्टी मना लेते हैं—आखिर यह तो ठीक नहीं न।"

इधरसे प्रदीप चुप रहा। फिर आवाज़ आई—

"बोलिए न, चुप क्यों रह गए?"

"अब क्या बोलूँ, गलती हो जाती है। आप माफ कर दीजिए।"

"माफी-वाफीकी बात नहीं मास्टरजी, मैं कहना चाहता हूँ कि आपको अपनी ड्यूटी realise करनी चाहिए। After all I pay and I want work."

प्रदीपका जी चाहा कि चोंगा पटक दे। पर इतना साहस वह न बटोर सका। सहसा उसके हाथसे रिसीवर किसीने ले लिया। मुड़कर देखा, सुनयना कुर्सीके पीछे रिसीवर कानसे लगाए खड़ी है। शायद वह चुपके-चुपके सब कुछ सुन रही थी।

सुनयनाने सुना—

"अच्छा, एक मिनट ठहरिए, ताराको बुलाता हूँ।"

सुनयना रिसीवर थामे रही। उधरसे ज़ोरका स्वर सुन पड़ा—

"ओ तारा, ओ तारा, देख तो फोनमें कौन बोल रहे हैं?"

"आई पापाजी।"

और एक मिनट पीछे एक कोमल स्वर सुन पड़ा—

"हल्लो !"

"कौन, तारा ?"—सुनयना बोली।

"हाँ, कौन हैं आप ?"

"सुनी।"

"अरी हाँ, आज प्रदीप साहब गुम हैं, तुम्हारे पास भी नहीं आए क्या ?"

"यही तो मैं तुमसे पूछना चाहती थी, न जाने कहां रह गये।"

"बस मैं तो तंग आ गई, सारे courses पड़े हैं। इम्तिहान सिरपर आ गया और इनके ये हाल हैं। जीमें आता है इन्हें छुड़ाकर किसी औरको लगा लूँ।"

"हां, सोच तो मैं भी यही रही हूं, वाक़ई ये बड़े खराब है, बिल्कुल बे-परवाह।"—और प्रदीपकी ओर देखकर सुनयना मुस्करा दी।

तारा कह रही थी—

"मैंने यही सोचा था कि ये सारे subjects पढ़ा सकते हैं, अकेले और किसीके बसकी बात नहीं, पर ये पढ़ायें तब तो।"

"अजी बस पढ़ा लिया इन्होंने, मुफ्तके पैसे लेते हैं, थोड़ा और खर्च करो तो दो-दो प्रोफेसर रक्खे जा सकते हैं। यही कौनसे ऐसे सस्ते हैं।"

सुनयनाके मुखकी ओर देखकर समझा जा सकता था कि वह बड़ी मुश्किलसे हँसी दबाये हुए हैं। उसकी आँखें प्रदीप पर जमी थीं, कान पर रिसीवर था। उन आँखोंमें न जाने कैसी एक मौन भाषा थी कि प्रदीप भूला-सा एकटक उधर देखता रहा।

उधरसे तारा बोली—

"अबकी बार आने दीजिये, एक ही बार फैसला कर लेना है। पढ़ाना है तो ठीकसे पढ़ायें, नहीं तो ना कर दें। ऐसा भी कहीं हुआ करता है।"

"हाँ सच ऐसा भी कहीं हुआ करता है ?"

"अच्छा, खैर देखा जायेगा। हाँ, तुम क्या कर रही हो ?"

"कुछ भी नहीं, चायसे निपटी हूं। जी चाहता है ज़रा फिर सो रहूं।"

"अरी हट, कालेजका टाइम होता जा रहा है और तुझे सोनेकी सूझी है।"

"पर मेरा तो पहला घंटा खाली है आज। फुरसत है, सो लिया जाय तो क्या हर्ज होगा।"

"लेकिन दूसरी बस तो साढ़े नौ बजे निकल जाती है और अब बज गये.........पौने नौ होनेवाले हैं।"

"चलो तांगेमें आ जाऊँगी, कौन-सी बात है।"

"तो कालेजमें मिलेंगे, आज प्रदीप साहबके बारेमें फैसला करना है।"

"अच्छा"—और सुनयनाने रिसीवर रख दिया। प्रदीप उसके मुँह की ओर देखता रह गया।

अचानक वह समझा कि क्या गोलमाल हो गया है। कैसा मज़ाक़ किया है सुनयनाने। ताराके पितासे बात की उसने खुद और सुनयनाने कह दिया तारासे कि वह गुम है। बातका बतंगड़ बन जायगा।

सुनयनाने जैसे उसके चिन्तित भावको देखा ही नहीं। बोली—"चलिये, उधर बैठते हैं।"

"पर तुमने यह क्या कर डाला ?"

"क्या कर डाला, कुछ तो नहीं !"

"नहीं कैसे, ताराके पितासे बात मैं कर रहा था और तारासे तुमने कह दिया कि मैं आया ही नहीं। जब भेद खुलेगा, तो कितनी बात फैलेगी।"

"क्या बात फैलेगी, सुनूँ तो ?"

"अरे तुम नहीं समझती, सुनयना।"

"तो आप समझा दीजिये।"

"क्या समझाऊँ भला, जानकर नादान बनती हो।"

सुनयना फिर मुस्कराने लगी।

"वाकई तुम बड़ी वैसी हो।"—प्रदीप बोला।

"कैसी हूं, बताइये तो।"

"नटखट, शरीर······और क्या ?"

"अच्छा मानती हूं, पर यह बताइये कि आज कुछ पढ़ाने-लिखानेकी भी मर्जी है, या यँ ही बातोंमें टालना चाहते हैं।"

"यह भी मेरा कसूर है, आप ही तो टेलीफोन पर तुमने बीस मिनट लगा दिये।"

"भला कोई बात भी न करे। आप भी खूब कहते हैं।"

"बात करती तब तो। यह क्या···मुफ्तकी एक misunderstanding पैदा कर दी।"

"आप तो सचमुच बातको बढ़ावा दे रहे हैं। ऐसे हंसी-मज़ाक तो हुआ ही करते हैं। देखिए तो कैसा बनाया है ताराको। क्या कहेगी कोई मिला था।"

"अरे भइ, तुम्हारी आपसकी बात दूसरी है। चाहे जो मज़ाक़ करो। पर यह मुझे जो बीचमें डाल दिया।"

"ओहो! आप इतना डरते क्यों हैं?"

"सचमुच डरता हूं, उन लोगोंका स्वभाव तुम क्या नहीं जानती?"

"जानती हूं, पर आपको क्या, ज्यादा होगा ट्यूशन छुड़ा देंगे। छुड़ा दें, अपने घर बैठें।"

"और ट्यूशन चले जाने पर मेरी worries जो बढ़ जायेंगी।"

"आप मुफ्तमें हैरान होते हैं, आपको भला ट्यूशनोंकी क्या कमी। और बहुत जुट सकती हैं। ऐसे लोगोंके यहां तो आपको खुद ही नहीं जाना चाहिये। कहां गई आपकी self-respect?"

"self-respect से क्या पेट भर जाता है।"

"पर भूखे मरनेको कौन कहता है। आप यह ट्यूशन छोड़ दीजिये। दूसरी तैयार है। प्रमीला न जाने मुझसे आपके बारेमें कितनी बार कह चुकी। मैंने कह दिया था कि आपको फ़ुरसत नहीं है।"—सुनयनाने कहा।

प्रदीपका मानों किसीने कांटा निकाल दिया हो। कृतज्ञ-सा होकर वह सुनयनाकी ओर देखने लगा। वह फिर बोली—

"सच आप खुद अपने आपको गिराते हैं। आपको अपनी कीमत समझनी चाहिए।"

"अपने-आप अपनी कीमत समझनेसे क्या होता है, दूसरे समझें तब तो ?"

"दूसरे नहीं समझते, यह नतीजा आपने कैसे निकाल लिया। पर वे समझते हैं तब, जब कि हम खुद समझें। क्या कभी आपने स्वयं अपना आत्म-सम्मान सम्भालकर देखा है ?"

सहसा न-जाने सुनयनाका भाव कैसा हो गया। प्रदीपकी समझमें कुछ नहीं आया। वह अनमना-सा बोला।

"क्या मतलब तुम्हारा ? मुझे क्या आत्म-सम्मानका ज्ञान नहीं है ? यह तुम कैसे कहती हो ?"

"हाँ, कहती हूँ। देखती जो हूँ। आप सदा नैराश्य और कातरताका भाव लिये रहते हैं। जरा कोई आपकी सुनने लगे और आप अपने दुःख की अन्तहीन गाथा सुनाने बैठ जाते हैं। आप चाहते हैं दूसरोंकी सहानुभूति, दूसरोंकी करुणा। मान-प्रतिष्ठा पाकर तो आपका मन नहीं भरता। मैं तो आपकी बातचीत और व्यवहारमें आत्म-सम्मानकी चेतनाका लेश-मात्र भी नहीं देख पाती।"

सुनयनाके मुखपर आवेश-सा फैलता जा रहा था। उस सुडौल, श्यामल मुख पर एक तेज-सा छलक पड़ा और उन आँखोंमें चमक उठी एक तीव्र, सारग्राही दृष्टि। मानों वे आंखें प्रदीपके अन्तरतममें पैठकर ही रुकेंगी।

प्रदीपको जैसे किसीने चोट मार दी। उसका ध्यान सुनयनाकी बातमें भरे तथ्य-वितथ्य पर नहीं गया, गया केवल उसकी कठोरता पर। आत्म-रक्षाके लिए तैयार होकर बोला—

"यह तुम्हारा अन्याय है सुनयना। मैं यों ही तो निराश और कातर नहीं बना रहता। तुम भला क्या समझोगी कि मैंने क्या-क्या सहन किया है? जिसपर पड़ती है, वही जानता है। जिसने दुःख कभी सहा ही नहीं, वह भले ही बढ़-बढ़कर बातें करे; पर दुःख सहते-सहते जिसका दिल छलनी हो चला है, उससे भी तो पूछो। वह तो चाहेगा कि उसकी कोई सुने, उसे कोई समझे। उसे तो करुणा भी चाहिए, सहानुभूति भी चाहिए। उसका नैराश्य भी ठीक है और कातरता भी। आत्म-सम्मानका सवाल तो यहाँ उठता नहीं।"

"उठता कैसे नहीं प्रदीप बाबू, अवश्य उठता है। यहींपर तो आपकी तीव्रतम बुद्धि भी काम नहीं कर पाई। दुःख आप पर बहुत आया है, मैं जानती हूं, और शायद मैं जितना जानती हूं, उससे भी कहीं अधिक आया हो। यह सब माना। पर इसका मतलब यह तो नहीं कि आप निराश हो जाएँ, कातर बने रहें, करुणा और सहानुभूतिकी भीख माँगते फिरें। दुःख आदमीपर आता है, और उसे सहना पड़ता है, भागकर छुटकारा नहीं मिलता। पर धीरजके साथ मुसीबतोंका सामना करना और उनपर विजय पाना एक बात है, और मुसीबतोंसे घबराकर बच्चोंकी तरह रोते फिरना दूसरी बात......।"

कहते-कहते सुनयना रुक गई, पर उसके होंठ फड़क रहे थे—मानो अभी उसने अपनी बात पूरी नहीं की—कुछ और कहना चाहती हो। पर प्रदीप भी कुछ कहनेको अधीर हो चला था, उसे अवसर मिल गया—

"तो क्या तुम्हारी समझमें मैं बच्चोंकी तरह रोता-फिरता हूं?"

"नहीं तो यह निराशा और कातरताका अमिट भाव क्यों, यह सहानुभूति एवं करुणाकी अजस्र याचना क्यों ?"

"सो तुम नहीं समझ पाओगी सुनयना। यह भाव और यह याचना इसलिए नहीं कि मैं दुःखसे घबरा उठा हूँ। उसका कारण और है। दुःख-सुखको लेकर मैं सृष्टि-चक्रका न्याय-विधान समझना चाहता हूँ। पर अन्ततः जब मुझे जान पड़ता है कि कोई विधान ही नहीं, सब अर्थ-हीन, मूढ़ प्रत्यावर्तन है, तो सिवाय नैराश्य और कातरताके मेरे पास कुछ नहीं बच रहता। मेरा नैराश्य, मेरी कातरता अपने व्यक्तिगत दुःख-सुखको लेकर तो नहीं। वह तो मानव-बुद्धिकी उस असफल भावनाके प्रतीक हैं, जो नियम और न्यायके आँकड़ोंमें समस्त विश्वको आँक लेना चाहती है। और यह सहानुभूति तथा करुणाकी याचना-मात्र है, यह मत समझना, दान भी है ; क्योंकि मानवके भाग्य और विडम्बनाको सोच-कर और कुछ देने-लेनेको नहीं रह जाता।"

प्रदीपके स्वरमें गाम्भीर्य और विजयका आभास भरता जा रहा था। उसे लगा कि जैसे पढ़ाते-पढ़ाते वह सुनयनाकी अनेकों कठिनाइयाँ और ना-समझियाँ दूर कर देता है, वैसे ही यह भी है। भला उसके तर्कका उत्तर हो सकता है ?

पर उसने देखा कि सुनयना तनिक भी विचलित नहीं हुई। उसी दृढ़तासे बोली—

"यह दार्शनिकता ही तो आपका सबसे बड़ा मिथ्या अभिमान है और आपकी सबसे भारी दुर्बलता। मैंने तत्त्व-शास्त्र नहीं पढ़ा, सृष्टि-चक्रकी समस्यापर कभी सोचा भी नहीं और न सोचनेको जी चाहता है। पर

इतना जानती हूँ कि आप इस तर्क-जालमें पड़कर बुरी तरह भूल बैठे हैं। अपनी भावनाकी कमजोरीको इतना बृहद् और आडम्बर-मय दार्शनिक रूप देकर, आप इसे बनाए रखना चाहते हैं। उस कमजोरीसे ऊपर उठनेकी आपको कभी आकांक्षा ही नहीं हुई, अन्यथा मैं जानती हूँ कि आपके दार्शनिक-निष्कर्ष कुछ और होते।"

प्रदीप मुस्करा दिया। फिर गम्भीर होकर बोला—

"तुम्हारा मतलब है कि तर्क भावनाका गुलाम है, उसके इशारे पर चलता है। पर यह तो एक बड़ी controversial और fundamental problem है, जो अभी तक decide नहीं हो सकी। इन दो दृष्टिकोणोंको लेकर तो Philosophy के दो system बने हुए हैं—Rationalism और Naturalism। इतनी आसानीसे फैसला कर दिया तुमने। पर बात इतनी आसान तो नहीं।"

उसे आशा थी कि अबकी बार वह जरूर सुनयनासे उसकी भूल मनवा लेगा। भोलेपनमें उसने कैसी foundational issues raise कर दीं।

पर अबकी बार भी सुनयनाका भाव नहीं बदला। बोली—

"बस रहने दीजिए अपना पाण्डित्य। क्यों यह बड़े-बड़े नाम लेकर मुझे डरानेकी कोशिश कर रहे हैं? इन सब विषयोंपर मैं कुछ नहीं जानती और जाननेकी इच्छा भी नहीं। पर इतना जरूर समझती हूँ कि आप यह philosophy जो लेकर बैठे हैं, सो इसलिए नहीं कि आप सत्यकी खोजमें हैं। आप तो उसकी आड़में अपनी कमजोरियाँ छिपाने चले हैं। शायद सच्चे philosopher होते होंगे, उनके लिए

ये सब समस्याँएँ शुद्ध रूपमें उपस्थित हो सकती हैं। पर आप तो कोरे पाखण्डी हैं, ऊपरसे नीचे तक मिथ्याचारी। फिर आपकी यह दार्शनिक डींग कैसी?"

"अरे बस करो भाई, पाखण्डी, मिथ्याचारी, डींग हाँकनेवाला—न-जाने क्या-क्या कह डाला। मुझे डर लगता है कि तुम्हें और क्रोध न आ जाए। तुम मार बैठी तो मैं क्या करलूँगा?"

प्रदीप बातको हल्की करनेका प्रयास करने लगा। सुनयनाने भी तुरन्त अपना स्वर बदल डाला। बोली—

"कभी-कभी तो सचमुच जी करता है कि आपको दो चपत जड़कर आपका दिमाग ठिकाने कर दूं। बड़ा बचपन है आपमें।"

"तब तो भई सचमुच तुमसे डरना चाहिए। एक तो तुम regular Psychoanalyst हो, लोगोंकी कमजोरियाँ समझते तुम्हें देर नहीं लगती। यही काफी भयप्रद बात है। फिर तुम तो दिमाग़ दुरुस्त करनेका भी दावा करने लगी हो, अरे बाप रे......!"

"आप मुझे बनायेंगे तो सच कहती हूं एक-बारगी रो दूंगी। फिर आपके संभाले न संभलेगा।"

"ना रे बाबा, ऐसा मत कर बैठना। कान पकड़ता हूं, कभी तुमसे गुस्ताखी नहीं करूँगा।"

"फिर वही बात...तो लीजिये मैं जाती हूं"—और वह सचमुच उठकर अपने कमरेकी ओर चल दी।

ठीक इसी समय घरर करके घण्टा बोल उठा। प्रदीपने आंख उठाकर देखा, साढ़े नौ बजे हैं। सहसा उसे ध्यान आया कि उसे

नहा-धोकर कालेज जो जाना है, शेष रह गये पन्द्रह मिनट स्कूल लगने में।
उसके हाथ-पांव फूल गये। हड़बड़ाकर उठ खड़ा हुआ और आफिससे निकलकर ड्योढ़ीकी ओर बढ़ा।

पीछेसे सुनयनाकी आवाज़ आयी—"सुनिये तो।"

जैसे किसीने खींचकर रोक लिया हो। प्रदीप ठिठक गया। बोला—

"मुझे बुलाया क्या, सुनयना?"

"हाँ, ज़रा इधर आइये, एकदम ही क्यों भागे जा रहे हैं।" वह बाहर निकल आई।

"देर हो गई, स्कूल लग जायगा और मेरा नहाना-धोना बाकी पड़ा है। तुम तो जानती हो मैं कैसी परिस्थितिमें रहता हूं।"

"सो सब पीछे सुनूँगी, ज़रा इधर तो आइये।" और वह फिर अपने कमरेमें चली गई।

विवश होकर प्रदीपको लौटना पड़ा। कमरेमें सुनयना अपने पलङ्ग पर बैठी थी प्रश्नसूचक दृष्टिसे प्रदीपने उसकी ओर देखा। कुर्सी की ओर आँखें घुमाकर सुनयनाने सिरके हलके इशारेसे मानो जताया "बैठ क्यों नहीं जाते।"

"पर बैठनेका समय कहाँ है, दस-बारह मिनट रह गये, नहीं होगा हाथ-मुंह धोकर कपड़े तो बदल लूँगा।"

"अच्छा तो जाइये।" उदासीन भावसे सुनयना बोली—

"बुलाया जो था, क्या कहना है कहो न?"

"अब आपको जल्दी ही पड़ी है तो जाने दीजिए। आप जाइए।"

पर जानेकी बजाय कुर्सी पर बैठ गया प्रदीप। बोला—

"तुम्हारी भी न जाने क्या आदत है ?"

"क्या आदत है ?"

"यही सबको झूटमूठ तङ्ग करनेकी।"

"आपको क्या तंग किया, बताइए तो। पढ़ाने आये थे आप, बोलिये क्या पढ़ाया ? यूंही बातोंमें समय बिताकर चल पड़े।"

"वाह यह भी मेरा कसूर है। पहले तो फोनपर ताराको बनाती रही और फिर मुझ पर बिगड़ बैठी, भला मैंने कब पढ़ानेसे इन्कार किया था ?"

"इन्कार नहीं किया तो जी भी नहीं था आपका। यह मैंने आते ही भाँप लिया था, वरना भला मुझे क्या पढ़ना नहीं आता ?"

"यह तुमने कैसे जाना कि पढ़ानेकी मेरी इच्छा नहीं थी ?"

"समझनेवाले सब समझ जाते हैं, जनाब। सभी आप जैसे भोंदू तो नहीं।"

"गालियां देनेमें तो तुम कमाल कर गई, सुनयना। भला यह तो सोचो कि आखिर मैं तुम्हारा ट्यूटर हूँ।"

"अच्छा, यह गुरुदेव बननेकी आकांक्षा आप छोड़ दीजिए। मेरा जो भाव है, वह बदलेगा नहीं, कहे देती हूं।"

प्रदीप मुस्कराए बिना न रहा। उधरसे सुनयना भी मुस्करा दी। उसका श्यामल मुखड़ा सफेद दाँतोंकी एक झलक दिखलाकर फिर स्थिर हो गया। वह कहने लगी—

"ज़रा आरामसे बैठिए, आपका स्कूल एक बार लगेगा जरूर, पर

आधे घण्टे बाद छुट्टी हो जाएगी। इसलिये आपको चिन्तित होनेकी आवश्यकता नहीं। ज़रा ठहरकर चले जाइयेगा।"

प्रदीप चौंक पड़ा। बोला—

"तुम्हें कैसे मालूम कि छुट्टी हो जाएगी?"

"रातको स्कूलके प्रेसीडेण्ट साहब संसारको सलाम दे गए। बूढ़े थे, पर ज़रा मातम मनानेकी परम्परा है, इसीलिए।"

"वाह भई। तुम तो बड़ी खोज-खबर रखती हो।"

"और नहीं तो क्या आपकी तरह फिजूलकी बातोंसे दिमाग़ भरकर दुनियासे बेखबर हो जाऊँ?"

"मैं दुनियासे बेखबर रहता हूँ?"

"तो खबर ही कौन-सी रखते हैं। पढ़ लिया, पढ़ा दिया, सोच लिया, बस।"

"अच्छा, यही सही। दुनियाकी खोज-खबर रखना ही कौन विशेष बात है?"

"उस झमेलेमें मैं नहीं पड़ूंगी। मुझे कामकी बात करनी है, आपकी तरह हरएक बात पर झगड़ा नहीं जाता।"

"मैं झगड़ता हूँ?"

"फिर वही बात। कह तो दिया कि मैं आपके किसी प्रश्नका जवाब नहीं दूंगी। जो मुझे कहना है, सुनते जाइए।"

"अच्छा बाबा, कहो। तुमसे भी कौन जीतेगा।"

"बस, इतनी-सी बात पहलेसे समझ लेते, तो आज इतना वाद-विवाद नहीं होता।"

प्रदीप फिर मुस्करा दिया। सुनयनाने पासमें लगी हुई घण्टीका बटन दबाया। नौकर आने पर उसे चायके लिये कहकर वह बाहर चली गई। कहती गई—"आप चाय पीजिए, मैं अभी आती हूँ।"

प्रदीप चुपचाप बैठा रहा।

सोचने लगा, "कैसी लड़की है। कितनी सूझ-बूझ है इसमें, कितनी दया-माया। साधारणतः सुखके बीच मनुष्यकी बुद्धि और भावना परिपक्व नहीं हो पाती, फिर भी न जाने यह किस प्रकार अपनी परिस्थितियोंका अतिक्रम करके स्पष्टता और सौजन्यताके इस स्तर तक उठ चली है!

एक ओर वह है, अपनी अनुभूतिके कारागारमें बन्दित। उसके बुद्धि-ज्ञानकी सीमा नहीं, फिर भी भावनाकी उच्छृङ्खलतासे वह छुटकारा नहीं पा सका। बुद्धि न जाने कितनी बार उसे रास्ता दिखाती है, यथार्थतासे परिचय कराती है। किन्तु भावना अपना मार्ग नहीं छोड़ती। फिर भावनाकी मांगें यदि परस्पर सम्बद्ध हों तो चल सकता है, पर यहां तो उसके आन्तरिक द्वन्द्वका ठिकाना नहीं! द्वन्द्व बुद्धिका हो तो झेला जा सकता है, किन्तु भावनाका संघर्ष तो एक-बारगी मन-प्राणका दिवाला निकाल देता है न।

एक समय था, जब नवीन सम्पर्कोंसे जाग्रत उसकी भावना उसके बुद्धि-विनिर्मित आशा-विश्वासों पर झपट बैठी थी। बड़ी भीषण थी अन्तर्द्वन्द्वकी वह बेला, किन्तु उसका किनारा था। बुद्धिने धीरे-धीरे भावनाका दासत्व ग्रहण कर लिया, पथ-परिचायिकासे पथानुयायिका बन बैठी। विद्रोही-भावनाने जो-जो खण्डन-मण्डन किए, जो-जो मौलिक

निर्णय किए, वे सब बुद्धिने नत-मस्तक होकर स्वीकार लिये, यही नहीं, बल देकर उनकी पुष्टि की। सोचा था कि रास्ता निकल गया, उलझनें सुलझ गईं, किन्तु तब यह मालूम नहीं था कि यह नया रास्ता उसे ऐसे बीहड़में ले जाकर छोड़ देगा, जहां सारे रास्ते एकबारगी बन्द हो जाते हैं, यह सुलझाव ऐसी उलझनें प्रस्तुत कर देगा कि नए सिरेसे सुलझाव पानेकी आशा-मात्र साथ छोड़ देगी। आज तो······

और वह सोचे जाता, यदि सुनयना आकर उसे झकझोर न देती।

"चाय पी चुके क्या ?"

"नहीं, अभी पीता हूँ"—और अनमनेसे भावसे उसने केतली उठाकर पानी उंडेलना शुरू किया।

चाय पीते-पीते प्रदीप एक शून्य-मुद्रासे चारों ओर देखने लगा। सुनयनाका कमरा बड़ी सुरुचिके साथ बनाया और सजाया गया था, एक अंशमें वह सुनयनाके व्यक्तित्वका परिचायक था। एक-एक वस्तु सौन्दर्य और व्यवस्थाके साथ उपयोगका मेल मिलाती दीख पड़ती थी। सहसा एक कोनेमें रक्खी हुई सितारपर प्रदीपकी आंखें अटक गईं। बोला—

"आज तो तुम सितार सुनाओ, सुनी।"

"सो फिर किसी दिन होगा। आज तो मुझे जल्दी-जल्दी कालेज भागना है। कलके लिये बहुत कुछ व्यवस्था करनी है।"

"क्यों, कल क्या है ?"

"सुनिए तो, मैंने इसीलिये तो आपको जाते-जाते रोक रक्खा था। बात यह है कि हमने एक कवि-सम्मेलनका आयोजन किया है, कल शामके पाँच बजे। आप भी उसमें निमन्त्रित हैं। यह लीजिए सेक्रेटर

का पत्र, आपके नाम लिखा लाई हूँ।"—और अपने तकिएके नीचेसे एक नीला लिफाफा निकालकर प्रदीपके हाथमें दे दिया। झिझकते हाथसे लेकर, प्रदीप बोला—

"पर भइ, मैं तो कोई कवि नहीं, फिर मुझे क्यों······?"

"आप जितने कवि हैं उतने ही काफी हैं। आखिर वहीं कौनसे महारथी आएंगे। यही स्थानीय अधकचरे लोग हैं। कुछ आप भी गुनगुना दीजिये।"

मुस्कराकर बोली सुनयना। प्रदीपको फिर छेड़ दिया उसने। शैथिल्य छोड़कर वह कहने लगा—

"कवि मानकर जिन लोगोंको कवि-सम्मेलनमें बुला रही हो, उनके प्रति कुछ श्रद्धा तो रक्खो, सुनयना। तुम तो उनका तमाशा-सा बना रही हो।"

"तमाशा नहीं तो और क्या होते हैं ये साहित्य-जीवी। सब ओरसे पराजित, कुछ भी कर सकनेमें असमर्थ और इसपर इतने अभिमानी। तमाशा ही तो हैं।"—उसी चंचल भावसे वह बोली—

"खैर, पर मैं तमाशा बननेका तनिक भी इच्छुक नहीं।"

"पर आपकी इच्छा-अनिच्छा पर निर्भर करे तब तो। आप तो खिंचे चले आएंगे।"

"क्यों ऐसी क्या बात है?"

"आप जानते हैं कि आपको कहां बुलाया जा रहा है? गर्ल्स कालेजमें। इतना मैं जानती हूँ कि वहाँ जानेका लोभ संवरण कर सकने वाले कम ही व्यक्ति हैं और आप उनमेंसे नहीं।"

उत्तरमें प्रदीप कुछ नहीं बोला। लिफाफा जेबमें रख लिया और एक चंचल, मुस्कराती हुई भंगिमासे सुनयनाकी ओर देखकर गर्दन हिला दी। फिर उठता हुआ बोला—

"अच्छा तो अब चलता हूँ।"

"पर याद रखिए कि कल आपको कविता सुनानी है। कोई नई चीज़ होनी चाहिए।"

"देखा जाएगा।"—जाते-जाते वह कह गया।

३

प्रदीप जब कालेज पहुँचा, तो दूसरी घण्टी बज चुकी थी। उसकी क्लास लग चुकी होगी, देरसे जाना ठीक नहीं, यह सोचकर वह 'कैफे' की ओर चल दिया। क्लासमें बैठकर लेक्चर सुनने योग्य मानसिक अवस्था उसकी आज नहीं थी। विचार और भावनाके उद्वेगका किनारा जब ढूँढ़े नहीं मिल पाता, तो मन थककर शिथिल पड़ जाता है; उस अवस्थामें कुछ करनेको जी नहीं चाहता और एक शून्य भावका आश्रय लेना बड़ा सुखद मालूम पड़ता है। ऐसा ही शून्य भाव लेकर वह 'कैफे' के एक कोनेमें बैठकर चाय पीने लगा।

उर्मिलाकी याद, सुनयनाकी बातें, गर्ल्स कालेज का निमन्त्रण—कई बातें उसे अस्थिर करनेके लिए प्रस्तुत थीं। पर सब ओरसे एकबारगी

मनको खींचकर बैठा रहा और अर्थहीन दृष्टिसे टुकुर-टुकुर देखने लगा इधर-उधर।

चारों ओर गोल बाँध-बाँधकर छात्र लोग खाने-पीनेमें मग्न थे। हँसी-मजाक और शोर-गुलका तूफान बरपा था। प्रोफेसरोंकी नकलें उतारी जा रही थीं एवं कालेजकी लड़कियोंकी चर्चा चल रही थी। इस सारी बातचीतमें अश्लीलता, भद्देपन और बेहूदगीका अंश अधिक था।

बेरा लोग खाने-पीनेकी चीजें देते और बिल चुकाते इधर-उधर दौड़ रहे थे। उधर दूसरे कोनेमें काउन्टरके पास खड़ा मैनेजर हिसाब-किताबमें मशगूल था। आने-जानेवालोंका ताँता लगा था।

एक ही अनमनस्क भावसे बैठा प्रदीप यह सब कुछ देखता-सुनता रहा। न तो उसे कुछ दिलचस्पी हुई और न हुई कुछ ग्लानि। वे सब बातें उसके विचार और भावनाकी परिधिके बाहर की थीं। दार्शनिक, साहित्यिक अथवा राजनीतिक चर्चा होती, तो उससे एक ओर चुपचाप बैठे न रहा जाता, पर यहाँ तो कोरी गप्पोंके अतिरिक्त कुछ था ही नहीं।

उसके अकेलेपनको किसीने तोड़ा भी नहीं। इस 'खाऊ पीउ शोर मचाऊ' मण्डलीमें किसीसे उसका विशेष परिचय नहीं था। वह थका-उदासीन-सा बैठा रहा और देखता रहा।

एक भद्रवेशी, किताबोंसे लदा नवयुवक उसके सामने आ बैठा। वह प्रदीपके साथ पढ़ता था, किन्तु था प्रदीपके दायरेसे एकदम बाहर। हरएक स्कूल-कालेजमें छात्रोंके टाईप होते हैं। यह रामकुमार भी एक टाईप था। जरूरतसे ज्यादा शरीफ और जरूरतसे ज्यादा संकुचित।

इम्तिहान पास करके नौकरी प्राप्त कर लेनेके बाहर ऐसे लड़कोंकी आशा आकांक्षा जाती ही नहीं। ये पढ़ते बहुत ज्यादा हैं और समझते बहुत कम। प्रोफेसरका एक-एक शब्द इनके लिए वेद-वाक्य होता है और क्लासके तीव्रबुद्धि छात्र इनके मर्यादा पुरुषोत्तम। कालेजके जीवनसे इनका इतना ही सम्बन्ध होता है कि ठीक समय पर नियमित रूप से क्लासमें उपस्थित होकर लेक्चर सुन लेते हैं। खाली वक्तमें या तो एक ओरको जाकर जेबमें रखे हुए फल इत्यादि खा लेते हैं अथवा हलवाई या कुँजड़ेकी दूकान पर जा बैठते हैं। कालेजके खेल-कूद, पार्टीबाजी, सभा-सोसाइटी, बहस-मुबाहसे और दंगा-फिसादमें कभी इनका साझा नहीं होता। हाँ, एक जैसे दो-तीन मिल बैठते हैं, तो खूब घुटती है। पर चर्चा का विषय एक ही होता है—"इम्तिहानमें क्या-क्या आएगा।" कोई भूलसे यदि लड़कियोंके विषयमें इनसे बात कर बैठे, तो ये शरमाकर उल्लू-जैसी सूरत बना बैठते हैं। इनको कभी किसीने किसी प्रकारके आवेशमें आते नहीं देखा। एकदम भेंड़-जैसे सीधे होते हैं ये।

हाँ, तो रामकुमार इन्हींमें से था। मेजपर किताबें रखकर, खिसयाना-सा प्रदीपके सामने आ बैठा। पता नहीं आज कैफेमें घुस आनेकी हिम्मत यह कहाँसे लाया। शायद प्रदीपको देखकर उसे लालच हो उठा।

वह चुपचाप बैठा रहता, यदि परिचयके नाते प्रदीप एक शुष्क भाव से मुस्करा न देता। पर इतना प्रोत्साहन पाकर वह बोल सका—

"कई दिनमें दीख पड़े, प्रदीपजी!"

"कालेजमें तो रोज़ आता हूँ।"

"पर क्लासमें तो हफ्तोंसे नहीं आए।"

"दरअसल मैं Philosophy की classes में जाता हूं।"

"क्यों, History छोड़ दी क्या?"

"नहीं तो।"

"तो क्या इम्तिहान देनेकी मर्जी नहीं है?"

"मर्जी क्यों नहीं है।"

रामकुमार बिचारा चकरा गया। कुछ अटक कर उलझा-सा बोला—

"इम्तिहान दोगे न?"

"हाँ, हाँ, दूंगा भई।"

"History में?"

"और नहीं तो काहे में।"

रामकुमारकी समझमें कुछ नहीं आ रहा था। यह प्रदीप न तो कभी History की क्लासमें आता है, न किताब कापी साथ रखता है, फिर भी कहता है कि हिस्ट्रीमें M. A. Previous का इम्तिहान देगा। अजीब बात थी।

कालेजकी घण्टी बजी। रामकुमार उलझा-सा बैठा था, सहसा कुछ कहनेको मिल गया।

"चलिए, क्लासमें चलिए।"

"किसकी क्लास है?"

"प्रो० रामसिंह, Ancient India पढ़ा रहे हैं।"

प्रदीपको कुछ रुचि नहीं हुई। पर न जाने क्यों उससे इन्कार करते भी न बन पड़ा। उठकर रामकुमारके साथ-साथ हो लिया।

क्लासमें अभी प्रोफेसर साहब नहीं आए थे। पाँच-सात छात्र बैठे इधर-उधर की बातें करनेमें तल्लीन थे। सहसा प्रदीपको देखकर सब चुप हो गए और उसकी ओर देखने लगे। सबके मुखपर एक ही भाव था—"कहो, आज कैसे ?" पर कहा किसीने कुछ भी नहीं। प्रदीपसे सब लोग एक प्रकारका अलगाव-सा महसूस करते थे। पर फिरसे वे लोग बातोंमें नहीं लग सके। मानो कोई नई बात हुई हो, कोई सदमा पहुँचा हो। प्रदीप चुपचाप विना इधर-उधर देखे एक सीट पर बैठ गया और उसके पास ही रामकुमारने अपना शरीर टिका दिया।

दो मिनट पीछे प्रोफेसर साहब और उनके पीछे-पीछे दो लड़कियाँ, एक दुबली, पीली, बंगालिन और एक मोटी, साँवली पञ्जाबिन कमरेमें प्रविष्ट हुईं। सब उठकर खड़े हो गये। लड़कियाँ सबसे आगे अपनी सीटोंपर जा बैठीं और प्रोफेसर साहब भी कुर्सीके पास पहुँच, हाथके हलके इशारेसे सबको बैठनेका आदेश देकर बैठ गये। क्लासमें सन्नाटा-सा छा गया।

प्रोफेसर साहबने जेबसे चश्मा निकालकर रुमालसे साफ किया और रजिस्टर खोलकर हाजिरी लेने लगे। प्रदीपका नाम बोलना वे बहुत दिनसे छोड़ चुके थे, सो आज भी नहीं बोला। रजिस्टर बन्द करने ही वाले थे कि प्रदीपने रोक दिया। वह खड़ा होकर बोला—

"मेरी भी हाजरी लगा दीजिये, प्रोफेसर साहब!"

सारी क्लासने एक बार प्रदीपकी ओर और फिर प्रोफेसर साहबकी ओर देखा। प्रोफेसरका हाथ एक बार ठिठका, पर फिर उन्होंने रजिस्टर बंद कर दिया। कुछ बोले नहीं और न प्रदीपको कुछ उत्तर दिया।

बस, एक बार प्रदीपकी ओर देखकर कन्धे सिकोड़कर थोड़े ऊपर-नीचे कर लिये। प्रदीप बैठ गया। एक बार फिर सबने उसकी ओर देखा। पञ्जाबिन लड़कीने उसकी ओर देखकर धीरेसे बंगालिनके कानमें कुछ कहा और वह हल्का-सा मुस्करा दी। पर प्रदीपका ध्यान उस ओर नहीं था।

गला साफ करके, चश्मा बदलकर और दोनों जेबोंमें हाथ डालकर प्रोफेसर साहब मेजके सहारे खड़े हो गये। एक सरसरी नजर क्लास पर दौड़ाई और लेक्चर शुरू कर दिया। प्राचीन आर्य-जातिके राजनीतिक-जीवनकी चर्चा थी। सब लड़कोंने कापियाँ खोलीं और बिना इधर-उधर देखे नोट लेने लगे। दोनों लड़कियाँ प्रोफेसर साहबके तनिक पीछेको पड़ती थीं। उन्होंने भी कापियाँ खोलीं और पेनकी टोपी उतारकर पीछे लगा लीं। पर लेक्चरकी ओर उनका ध्यान नहीं था। एक-दूसरी की ओर देखकर आँखों-ही-आँखोंमें बातें कर रही थीं। कभी-कभी एक-दूसरीके कानमें भी कुछ कह देती थीं।

प्रदीप सजग हो उठा। दोनों कुहनियाँ डेस्क पर टिकाकर, दोनों हथेलियोंके बीच सिर थाम, आगेको तनिक झुका-सा वह तन्मय भावसे लेक्चर सुनने लगा।

प्रोफेसर रामसिंह पिछले पचीस वर्षसे इतिहास पढ़ा रहे थे। किन्तु प्रथम दिनसे लेकर आज तक प्रत्येक विषय पर एक-सी नपी-तुली बातें कहते थे। उन्होंने अपने छात्र-जीवनमें जो पुस्तकें पढ़ी थीं, उनके बाहर जानेका प्रयास उनसे नहीं बन पड़ा। साल-दर-साल बोलते-बोलते उनका प्रत्येक लेक्चर बँधकर उन्हें याद हो गया था और प्रत्येक नई क्लासके

आगे वे एक-सी बातें कहते थे। सुना जाता है कि एक छात्रने उनके शार्ट-हैण्ड नोट ले लिये थे, पर भाग्यसे फेल होकर अगले साल फिर उनकी क्लासमें आया। उसने एक बार फिर नोट लेने शुरू किये। एक दिन उसे ऐसा लगा कि इन्हीं शब्दोंमें यही बातें वह पहले भी सुन चुका है। घर जाकर उसने अपनी पुरानी कापी निकाली और पहले नोटोंसे तुलना करके देखी। एक-एक शब्द वही था। दूसरे दिन वह अपनी पुरानी कापी साथ ले गया और लेक्चरमें खोलकर बैठ गया। बी० ए० की बड़ी क्लास थी और वह छात्र प्रोफेसर साहबसे दूर पिछले बैंचों पर बैठा था। अपने सहपाठियोंको सुना-सुनाकर, धीरे-धीरे वह प्रोफेसरके आगे-आगे बोलता रहा और प्रोफेसर साहबके सारे लेक्चरमें कठिनतासे दो-चार शब्दोंका हेर-फेर पड़ा होगा। बिजलीकी तरह यह बात सारे छात्रोंमें फैल गई और प्रोफेसर रामसिंहके परिचयात्मक रूपमें परम्परा बनकर साल-दर-साल चलती रही। तबसे प्रोफेसर साहब 'पैरट' नामसे प्रसिद्ध थे। फिर भी परीक्षाके दृष्टिकोणसे पढ़ानेमें उनको अद्वितीय माना जाता था। हाँ, तीव्र बुद्धि छात्र अवश्य उनकी उपेक्षा करते थे।

बड़े तन्मय भावसे प्रोफेसर साहब प्राचीन आर्योंके राजनीतिक-जीवन का चित्रण करते जा रहे थे और प्रदीपके अतिरिक्त सारे छात्र सिर झुकाए बड़ी लगनके साथ नोट ले रहे थे।

सहसा उनकी वाग्धारा जैसे एक झटकेके साथ रुक गई। सबने सिर उठाकर इधर-उधर देखा। प्रदीप अपने स्थान पर उठकर खड़ा

हो गया था। दूसरे क्षण प्रोफेसर साहबने अपने स्वरको भरसक सामान्य बनाते हुए उपहास भरी एक हल्की मुस्कानके साथ कहा—

"बोलिये।"

"मैं कहना चाहता हूं कि आर्य लोगोंकी राजनीतिक-जीवन-सम्बन्धी आपकी व्याख्या जिस धारणा पर टिकी हुई है, वह सर्वथा भ्रान्त है और पाश्चात्य साम्राज्यवादके उत्थान-कालमें गढ़ी हुई पाश्चात्य इतिहासकारोंकी मिथ्या कपोल-कल्पनासे अधिक कुछ नहीं।"—आवेशपूर्ण स्वरमें प्रदीप बोला।

"जी!"—प्रोफेसर साहबने उसी उपहासभरे स्वरमें कहा, और फिर गर्दन घुमाकर एक विजेताके भावसे सारी क्लासकी ओर देखा।

प्रदीपको मानो किसीने चोट मार दी। और भी भावाविष्ट होकर बोला—

"मेरा अभिप्राय है कि प्राचीन भारतके विषयमें जो सर्वाङ्गीण गवेषणा इन थोड़ेसे वर्षोंमें भारतीय इतिहासकारों द्वारा हुई है, उसे आप न भूल जाएँ।"

"जी! और कुछ?"—प्रोफेसर साहबका भाव नहीं बदला। प्रदीप तिलमिला उठा। स्वरको और भी प्रखर कर बोला—

"मैं देख रहा हूँ कि आप मेरी बात समझनेके स्थानमें उसका उपहास कर रहे हैं। किन्तु याद रखिए कि एक अध्यापकके नाते आपके जो उत्तरदायित्व हैं, उनकी हिंसा कर रहे हैं आप। भारतका भविष्य जिन नवयुवकोंके हाथोंमें हैं, उनकी ऐतिहासिक चेतनाकी नींव मिथ्याके ऊपर बनाकर......।"

"प्रदीप!" प्रोफेसर साहब क्रुद्ध स्वरमें मानो गरज उठे। सारी क्लासका कलेजा दहल गया। किन्तु प्रदीप विचलित नहीं हुआ।

"गुस्सा होनेकी बजाय यदि......।"

"मैं कुछ नहीं सुनना चाहता। तुम्हें चेता देता हूं कि यह अवज्ञा मुझे बिल्कुल पसन्द नहीं।"

स्थिर होनेकी चेष्टा करते-करते प्रोफेसर साहबने प्रदीपकी बात काटी।

"किन्तु......।"

"अगर तुम मेरे लेक्चरमें बैठना चाहते हो, तो चुपचाप बैठना होगा। मैं नहीं चाहता कि झूठमूठ तुम क्लासका और मेरा समय बर्बाद करो। तुम तो regular student नहीं, फिर......।"

"आपकी class का regular student भले न हूँ, किन्तु इस विषयका अध्ययन तो मेरा regular और upto-date है।"

"हो सकता है, परीक्षामें देखा जायगा।"

"किन्तु परीक्षक तो आप ही होंगे न?"

"तो इससे क्या?"

"मेरा मतलब है कि जब आपके और मेरे मतका मेल नहीं खाता, तो मैं आपसे क्या आशा कर सकता हूं?"

"यह तुम्हारी भूल है, प्रदीप। परीक्षक मत पर ध्यान नहीं देता, मतकी पुष्टिपर ध्यान देता है। यदि तुम पर्याप्त आंकड़े देकर अपने मत की पुष्टिकर डालो तो परीक्षक पर तुम्हारा अधिकार हो जाता है।"

प्रोफेसर साहब एकदम शान्त हो चले थे। सहसा प्रदीप सोच नहीं सका क्या कहे और एक असमंजसके भावमें वह बैठ गया।

उसने देखा कि पंजाबिनने बंगालिनके कानमें कुछ कहा और दोनों उसकी ओर देखकर मुस्कराने लगीं। उसका मन संकोचसे भर उठा। न जाने इन लड़कियोंकी उसके विषयमें क्या राय है?

और अवशेष रहे लेक्चर पर उसका ध्यान नहीं जम सका।

क्लाससे बाहर निकलकर वह लक्ष्यहीन गतिसे एक ओरको बढ़ चला। किन्तु चार क़दम गया था, किसीने पीछेसे पुकारा।

"प्रदीपजी।"

मुड़कर देखा, दोनों लड़कियां एक तीव्र-मन्थर गतिसे उसकी ओर आ रही हैं। छातीके भीतर न जाने कैसे-कैसे होने लगा। एक संकोच-सा, फिर भी एक तृप्ति-सी उसे अनुभव हो रही थी।

शुरू सालसे ये दोनों लड़कियां इसकी सहपाठिनी थीं। किन्तु इससे अधिक वह उनके विषयमें कुछ नहीं जानता था। आठ-दस महीनेमें वह जो दो-चार बार इतिहासकी क्लासमें गया था, तो उनको देखा भर था। किन्तु बोल-चालका अवसर न तो कभी आया न उसने खोजा। अभी तक उनकी ओरसे वह उदासीन था। फिर भी वह इतना जानता था कि लड़कोंमें जिस ज्योत्स्ना गांगुलीकी इतनी चर्चा रहती है, वह यही उसकी सहपाठिनी बंगालिन है। सुशीला खन्नाके नामसे भी वह परिचित था, पर इससे अधिक कुछ भी नहीं।

पर आज अनायास ही ये दोनों—ज्योत्स्ना और सुशीला—उसके निकट आ खड़ी हुईं। क्यों?

वह उलझा-सा ठिठक गया और एक प्रश्न-सूचक दृष्टिसे उनकी ओर देखा।

"आप एक कृपा कर सकते हैं?"—सुशीला बोली।

"बोलिये ना।"

"ज़रा अपने notes हमें दे दें!"

"कैसे notes?"

"History के notes, और कैसे?"—सुशीला ज़रा हल्की होकर बोली।

"पर मैं तो कभी notes लेता नहीं। भला क्लासमें ही कितनी बार आया हूँ।"

"क्लास के notes से हमारा मतलब नहीं, आप घर पर study करके जो notes लेते हैं, वे दे दीजिये।"—कुछ याचनाके से स्वरमें सुशीलाने कहा। प्रदीपको मानो कुछ निराशा-सी हो चली। बोला—

"किन्तु मैं तो घर पर भी notes नहीं लेता।"

"तो फिर आप क्यों कह रहे थे कि आपका अध्ययन regular और upto-date है?"—ज्योत्स्नाने मानो उलाहना-सा दिया। उसका बंगाली-स्वर प्रदीपको बड़ा प्यारा लगा। बंग-बालाका कण्ठ-स्वर सुननेका यह पहला अवसर उसे मिला था।

"वह तो अब भी कहता हूँ।"—मुस्कराकर प्रदीप बोला।

"किन्तु यह माना कैसे जाय? बिना notes लिये आप पढ़ कैसे सकते हैं?"—सुशीलाने प्रश्न किया।

"मैं जो कुछ पढ़ता हूँ उसे समझ लेता हूँ और जो समझ गया, सो बोलने या लिख डालनेमें मुझे मुश्किल नहीं रहती।"—कुछ आत्म-प्रशंसा और आत्म-विश्वासके भावसे प्रदीप बोला।

"फिर भी, बहुत-सी बातें ऐसी होती हैं, जो सदा याद नहीं रखी जा सकतीं—जैसे नाम, तिथि इत्यादि-इत्यादि। उन्हें तो लिखकर रख छोड़ना होता है, जिससे समय पर दोहरा लिया जाए।" सुशीलाने कहा।

"किन्तु वह सब तो बच्चोंको जो इतिहास पढ़ाया जाता है, उसकी बातें हैं। सच्चे इतिहासके लिये तो यह सब आवश्यक नहीं।"—प्रदीपने कहा।

अबकी बार ज्योत्स्ना बोली—"जान पड़ता है कि आप इतिहासको तत्त्व-शास्त्र बना बैठे हैं! यह अधिक फिलासफी पढ़नेका असर है। किन्तु याद रखिए कि इतिहास फिलासफी नहीं, विज्ञान है। उसमें पद-पद पर शुद्ध तथ्योंकी जितनी आवश्यकता पड़ती है, उतनी सिद्धान्तोंकी नहीं।"

"आप कैसे कहती हैं कि इतिहास फिलासफी नहीं, विज्ञान है? मैं तो बिलकुल प्रतिकूल समझता हूं।"—शास्त्रार्थके लिये कटिबद्ध-सा होकर प्रदीप बोला।

"उस बहसमें अब नहीं पड़ सकती, फिर कभी देखूँगी। किन्तु इतना कहे जाती हूं कि इतिहासके विषयमें आपका दृष्टिकोण सर्वथा भ्रान्तिमूलक है!"—ज्योत्स्नाने सुशीलाका हाथ पकड़ा और दोनों मुड़ चलीं।

प्रदीप खोया-सा खड़ा रह गया। अभी संभल भी नहीं पाया था, किसीने पीछेसे कन्धे पर हाथ रखकर कहा।

"क्यों वे?"

मुड़कर देखा, छः फुट लम्बा, तीन फुट चौड़ा 'गुल्लो' खड़ा मुस्करा रहा था।

यह कालेजका अजीब लड़का था। इतना लम्ब-तड़ंगा और बलिष्ठ शायद ही कोई दूसरा होगा। पर था एकदम हँसमुख और मज़ाकिया। कुछ लोग उसे बेहूदा भी समझते थे। प्रदीपकी उससे विशेष जान-पहचान नहीं थी। पर यह जानता था कि गुल्लो परिचय-अपरिचय की परवाह नहीं करता। सबके साथ उसका एक ही रवैया है, अत्यन्त घनिष्ठता, मानो युग-युगका परिचित हो।

प्रदीप समझ नहीं सका कि आज अचानक इन साहबका रुख इधर कैसे हुआ। फिर भी उसकी विचित्र भाव-भंगिमा देखकर प्रदीप मुस्कराये बिना न रह सका। बोला—

"क्यों, क्या बात है?"

"हमसे पूछते हो, बात क्या है? अभी जो शिकार खेल रहे थे, सो भूल गए।"—कभी एक आँख और कभी दूसरी मीचकर गुल्लो कह रहा था। प्रदीप समझ तो गया। हँसकर बोला—

"कैसा शिकार, किसका शिकार?"

"बस क्यों पूछते हो? इस छोकरीने दिल छलनी कर रखा है। आज तुम्हारी क़िस्मत देखकर, खुदा क़सम, कलेजे पर छुरियां चल गयीं।"—नाटकीय मुद्रासे गुल्लो कह गया।

"जाने दो यार, तुम तो मज़ाक़ करते हो।"

"नहीं मज़ाक़ नहीं, वाक़ई इस बंगालनने मुझपर ग़ज़ब ढा रखा है। तुम्हारी तो यार दोस्ती मालूम होती है। ज़रा हमारी भी फ़रयाद उन तक पहुँचा दो। तुम्हारा अहसान नहीं भूलूँगा······।"

गुल्लो कहता रहा और धीरे-धीरे दस-पाँच लड़कोंकी एक मंडली वहाँ जुड़ गई। सब उसीके साथी थे। उनका अपना दौर चल पड़ा।

मौक़ा पाकर प्रदीप वहाँसे खिसक गया। चारों ओर देखा, लड़कोंसे कालेज भरा था। सहसा मानो उसका दम घुटने लगा। उसें लगा कि वह एकान्त चाहता है, उसके भीतर जो सब कुछ उलझ-पुलझ गया है, उसे सुलझानेके लिये। और वह सीधा कालेज गेटसे निकलकर यमुनाकी तरफ चल पड़ा।

सुनयना, प्रोफेसर साहब, ज्योत्स्ना, गुल्लो—चार व्यक्तित्व आज एकके बाद एक आकर उसकी चेतनासे टकरा गए थे। उसके भीतर जो उथल-पुथल मची थी, उसका किनारा वह चाहता था।

विविध भावों और विचारोंके वीचि-विलासमें डूबता-उतराता वह बढ़ चला—धीरे-धीरे, लक्ष्यहीन गतिसे।

४

अगले दिन इतवार था। फिर भी मुँह अँधेरे ही उठकर प्रदीप घूमने चल दिया। साधारणतः वह इतवारके दिन देरसे उठता था, क्योंकि सब ओरसे उसे छुट्टी रहती थी। किन्तु कल सुनयनाने उसे कवि-सम्मेलनमें आनेका निमन्त्रण देकर भयङ्कर दुविधामें डाल दिया था। रात भर वह इसी उधेड़-बुनमें रहा कि वहां जाए या न जाए। रह-रहकर उसे सुनयनाकी बातें याद आती थीं—उसने कहा था कि गर्ल्स कालेजमें आनेका लोभ वह नहीं छोड़ सकेगा। क्या सचमुच ऐसी बात है? वह तो लड़कियोंके प्रति विशेष अनुराग नहीं रखता, अधिकतर उनके प्रति उदासीन ही रहा है। तो कैसे कह डाली सुनयनाने यह बात? नहीं, वह नहीं जाएगा। सुनयनाको समझना पड़ेगा कि हरेक पुरुषको एक ही माप-दण्डसे नहीं आंका जा सकता। वह कुछ भी हो, किन्तु जन-समूहसे विभिन्न अवश्य है।

उसने इरादा किया कि सुबह जाकर सुनयनाको अपनी इच्छासे सूचित कर आएगा। इसके पश्चात् वह पढ़नेका उपक्रम करने बैठा। किन्तु देखा कि मन नहीं लग रहा है। रह-रहकर कवि-सम्मेलनका नकशा उसकी आँखोंमें घूम जाता है। अपने कालेजमें ही उसने कितने कवि-सम्मेलन देखे थे। कितने लोगोंकी आँखें जम जाती थीं कवियों पर! और जहाँ उन सब आँखोंकी मालिक नवयुवती किशोरियां होंगी, वहाँ का तो भला कहना ही क्या? भाव-मग्न-सा प्रदीप अपने आपको मंचपर

बैठा हुआ कविता सुनाते हुए देखने लगा। कोई कुछ भी सोचे, पर यह तो ऐसा अवसर नहीं जिसकी अवहेलना की जा सके। नहीं, वह जाएगा अवश्य।

पर सुनायेगा क्या ? उसने तो कभी कवि-सम्मेलनके लिये लिखा नहीं। जो कुछ लिखा है सो अपने अन्तर्जीवनकी गाँठोंको भावना-स्तर-पर सुलझानेके लिये। उनका तो दूसरोंके लिये कोई महत्व नहीं। हो भी सकता है, किन्तु फिर भी कवि-सम्मेलनके वातावरणको तो उसकी आज तककी कोई भी रचना नहीं झेल सकेगी। तो वह क्या करे ? एक बार अपनी कविताकी कापीको उठाकर उलट गया प्रदीप। एक भी नहीं जँची और सुनयनाने भी कहा था कि कोई नई चीज़ होनी चाहिए। क्या वह समझती थी कि ठीक मतलबकी चीज़ उसके संग्रहमें नहीं है ?

धीरे-धीरे उसने निश्चय किया कि वह कवि सम्मेलनमें जाएगा ही। इसके लिये उसको नई कविता लिखनेका प्रयास करना पड़ेगा तो वह करेगा। आज तक उसने कविता लिखनेका प्रयास कभी नहीं किया था और न कभी बैठकर कुछ लिखा था। जब-जब भावनामें कुछ उथल-पुथल मचती थी, वह घूमने निकल जाता था और उस समय तक सोचता या कविता करता रहता था, जब तक कि उसका मन हलका नहीं हो जाता, शरीर थक नहीं जाता। प्रयास द्वारा कविता लिखना उसे कुछ अनहोनी-सी बात लगी। फिर भी उसका निश्चय नहीं बदला। यदि वह उस रातको बहुत थका नहीं होता तो अवश्य घूमने निकल जाता। उसने इरादा कर लिया था कि सुबह वक्तसे उठकर चल देगा।

शहरको पार करके वह फिरोज़ शाह कोटलाकी ओर बढ़ चला। अधिकतर शहर सोया पड़ा था, किन्तु बाहर प्रकृतिमें जागरणका प्रथम संकेत पक्षियोंके कलरवमें अँगड़ाइयाँ ले रहा था।

घासके लान पार करके टहलता हुआ वह कोटलेके दक्षिण-पूर्वमें बिखरे खंडहरों तक जा पहुँचा। वहाँसे पूर्वका आकाश साफ़ दीख पड़ता था। किसी वक्त उधर ऊँची दीवार रही होगी, किन्तु आज वह ढहकर समतल हो चली थी। किन्तु कोटलेकी कुर्सी उस ओरसे ऊँची होनेके कारण और आगे नहीं बढ़ा जा सकता था। यहीं ठहरकर प्रदीप एक टूटे, बेडौल शिला-खण्ड पर, जो वर्षासे धुलकर निखर गया था, बैठ गया और प्रातःकालका वैभव निहारने लगा।

पूर्वी क्षितिजके दक्षिणी कोनेमें एक लालिमा क्षण-प्रतिक्षण गाढ़ी होती जा रही थी। कुछ इधर हटकर एक नीली-सी रेखा हेमन्त कालीन यमुनाका अस्तित्व जता रही थी और उससे इधर ठीक कोटलेकी जड़ तक फैले थे हरे-भरे मटरके खेत। सारे वातावरणमें एक अद्भुत शान्तिका प्रसार होते हुए भी एक मधुर आवेगका आभास मिलता था। युग-युगसे प्रकृतिकी यह सौम्य किन्तु जीवन्त-मूर्त्ति कविके मानसमें स्फूर्ति और भावावेश जगाती आई है। यही आशा लेकर तो प्रदीप यहाँ आया था।

किन्तु प्रकृति ज्यों-ज्यों अपना रूप सवाँरती गई, प्रदीपकी निराशा भी बढ़ती गई। वह अपने-आपको भुला देना चाहता था—उसकी इच्छा थी कि एक अमूल्य अनुभूतिमें डूबकर जीवनका एक नवीन संकेत पा जाए। पर उसके भीतर न-जाने क्या छटपटा रहा था, जिसने उसको

तल्लीन होनेसे रोक रखा था। आँखें देख रही थीं क्षितिज-पथ पर डूबते-उतराते रङ्गोंका मेला, कान सुन रहे थे अन्तरिक्षमें प्रसारित होते अनेक स्वर। वस्त्रोंका आधिक्य न होनेके कारण शरीरके लिए भी वायुके प्रतिपल बदलनेवाले स्पर्शोंका अभाव न था। इन्द्रियोंके द्वार खुले होनेपर भी उसके मानस-कक्ष पर ताला-सा पड़ा रहा। वहाँ तक पहुँचकर प्रकृति के सारे जीवन दूत माथा ठोंकते निकल आये और भीतर उसके व्याकुल प्राण वन्दी बने, बेबस, असहाय अवस्थामें पड़े रहे।

प्रदीपको ऐसा अनुभव होने लगा, जैसे वाह्य-जगत् और उसके प्राणोंके बीच एक ऐसी दीवार है जिसके आर-पार देखा जा सकता है; किन्तु जिसको भेदा नहीं जा सकता—सहसा वह बेतरह विरक्त हो उठा और एक दूर्वह ग्लानिसे उसका जी तिलमिलाने लगा। यह कैसी बेबसी, यह कैसा बीभत्स कारागार !

वह तमक कर उठ खड़ा हुआ, जैसे किसीने पूरे जोरसे चाबुक मारा हो और द्रुत-वेगसे पीछेकी ओर लौट चला। सौ क़दम चलकर वह खण्डहरोंके उस पार जा पहुँचा और उसी चालसे वह लान पार करके कोटलेके बाहर निकल जाता, अगर उस ओरका एक दृश्य उसे पीछे धकेलकर रोक न लेता। सामने एक सुन्दर, यौवनशील यूरोपियन दम्पति हाथ-में-हाथ लिये, मन्थर गतिसे उस ओर बढ़े आ रहे थे। पुरुष और स्त्री दोनों अत्यन्त चुस्त और एकदम श्वेत वस्त्र पहने हुए थे और दोनोंके हाव-भावसे गाढ़ सन्तोष प्रकट हो रहा था। दोनोंके शरीर मांसल, गठे हुए और खूब फुर्तीले थे, मानो अंग-प्रत्यंगमें जीवन-सुधा लहरें ले रही हो। स्त्रीका कद छोटा होनेके कारण वह बार-बार

अपना सुन्दर मुख ऊपर उठाती थी। उस समय उसका सुनहरा केशपाश जो खूब घना और सुव्यवस्थित था, एक मनोरम ढङ्गसे लहरा उठता था। अपनी प्रेमिकाकी बातें सुनकर पुरुषके मुख-मण्डल पर एक स्वच्छ मुस्कान फैल जाती थी और उसकी आँखोंसे अनवरत मौन-चुम्बन बरस पड़ते थे।

प्रदीपके भीतर ईर्ष्याका छुपा हुआ ज्वालामुखी फट पड़ा और वह उलट कर फिर पीछेकी ओर चल दिया। उसके रोम-रोममें काँटे उठ रहे थे। पीछे मुड़कर एक बार देखनेका भी साहस वह न कर सका।

हठात् उसकी अवरुद्ध वेदनाका बाँध टूट गया और उसकी व्यथा मुखरित हो चली। अभिभूत-सा वह गुनगुना उठा—

"जगके सुखी प्राणियो,
मेरी आँखोंसे ओझल हो जाओ।"

इसके बाद वह खोया-खोया-सा उन खण्डहरोंके बीच इधरसे उधर घूम-घूमकर कविता करने लगा। उसके भीतर मानो सरस्वती जाग उठी और शब्दोंका स्रोत उमड़ता चला गया।

बहुत देर पीछे जब उसे चेत हुआ, तो देखा कि दिन काफी चढ़ चुका है। सूर्यदेव अपने जन्म-कालकी लालिमा और मार्दवको क्रमशः त्यागकर किशोरावस्थाका तेज और दृढ़ता ग्रहण करते जा रहे थे। फिर भी धूप मीठी और प्यारी लग रही थी। उसे कुछ थकान-सी अनुभव होने लगी, पर मनमें एक अद्भुत शान्ति और सन्तोषकी चेतना भरती जा रही थी। बदहज़मीसे फूले हुए पेटवालेको कै कर डालनेके बाद जैसा होता है, ठीक वैसा ही। उसके भीतर जो ज़हर भरा था, वह उसने

कविताके रूपमें उगल डाला और उसके उपरान्त एकदम स्वस्थ हो गया। फिर एक शिला-खण्ड पर जा बैठा और मुग्ध-सी दृष्टिसे खण्डहरोंको निहारने लगा।

वह इतिहासका विद्यार्थी था, सो भी साधारण नहीं। इस विषय का ज्ञान उसे खूब गहन था। उसकी कल्पना उन खण्डहरोंके आधार पर चौदहवीं शताब्दीके अन्तिम वर्षोंका सजीव निर्माण करने लगी।

इस कोटलेके खण्डहर किसी समय प्रशस्त प्राचीरों, प्रासादों और सभा-मण्डपोंके रूपमें मध्यकालीन भारतकी वास्तुकलाके शिरमौर थे। आज जिस जन-विरल स्थानमें केवल दो-चार मानव-प्राणी इधर-उधर घूमते-फिरते अथवा बैठे दिखाई देते हैं, वहीं समस्त भारतके एकाधिपति सम्राट्का निवास स्थान था। इस टूटी-फूटी मस्जिदके पत्थरोंका न-जाने कितने धर्म-धुरन्धरों, महापण्डितों, महारथियों और देश-विदेशके प्रख्यात पुरुषोंसे मूक परिचय रहा होगा। इस जीर्ण-बावड़ीमें न-जाने कितनी सुकुमार, चन्द्र-वदना, मृग-नयना ललनाएँ अपने अङ्ग-रागोंकी सुगन्धि बिखेर गई होंगी और न-जाने कितनी जल-कीड़ाओंकी मधुर-स्मृति इन तिरस्कृत शिलाओंके पाषाण-हृदयमें सदा-सर्वदाके लिये संचित हैं। ये जो चारों ओर छितरे खण्डहर पड़े हैं, इनमें न-जाने कौन-सा सभा-मण्डप रहा होगा, जहाँ राजमन्त्री, विद्वान्, शूरवीर और न्यायार्थीगण अपनी गाथाएँ अंकित कर गये; न-जाने कौन-सा अन्तःपुर रहा होगा, जहाँ अनेकों दास-दासियोंसे घिरी बेगमें और रखेलियाँ रूप एवं यौवनके मदमें मखमूर अपनी-अपनी वासना-सिद्धिके लिये षड्यन्त्र रचा करती थीं; न-जाने कहाँपर बैठकर बादशाह लोग शराब एवं नाच-गानकी मन्थर-

लहरोंपर झूलकर बहिश्तका साक्षात्कार करते थे और न-जाने किस कक्षमें बैठकर उनकी वे गुप्त-मन्त्रणाएँ और सलाह-मशविरे चलते थे, जिनके द्वारा इस विशाल भू-खण्ड पर उनकी सत्ताका ध्वजा फहराता रहता था।

इसी प्रकार वह स्वप्नशील नवयुवक भूतकालके गर्भमें पैठकर उसके एक-एक क्षणको सजीव करने लगा। उसे प्रतीत होने लगा—मानो कालके अनन्त और अजस्र प्रवाहमें अनेकों साम्राज्य, सभ्यताएँ और संस्कृतियाँ बुद्‌बुद्‌-सी उठीं और विलीन हो गईं! विश्व-मानवने न-जाने क्या-क्या देखा, भोगा और सहा है। न उसका वैभव टिक सका, न उसकी विभीषिका। दोनों ही आये और दोनों ही चले गये। रह गईं केवल उन घटनाओंकी छायास्मृतियाँ, जिनको दुहराकर मनुष्य अपनी सामूहिक विराटता और व्यक्तिगत-क्षुद्रताका अनुभव कर सके।

प्रदीपको अपने ऊपर हँसी आने लगी। अपने छोटेसे व्यक्तित्वको लेकर उसने कितनी बड़ी समस्याएँ खड़ी कर लीं? मानवीय दुःख-सुखके महासागरमें उसका अपना दुःख-सुख भला क्या मायने रखता है? अनन्त-काल और सीमाहीन दिशाओं तक फैले मानव-जीवनके विस्तारमें उसका अस्तित्व कितना क्षुद्र, कितना अकिंचन है? तो फिर यह हाथ-पैरोंकी पटक क्यों, यह मन-बुद्धिके तूफान क्यों? कितना मिथ्या है यह अहङ्कार, जो अपने क्षुद्र व्यक्तित्वके रंगसे समस्त मानव-जीवनको लीपकर उसके असली और नानाविध रंगोंका विलोप कर देता है। जीवनकी अपनी सत्ता है, अपनी गतिविधि है। उसके साथ तो बुद्धिकी जबर्दस्ती चल नहीं सकती। बुद्धि यदि उसका हिसाब-किताब न समझ सके और अपने आँकड़ोंमें उसका गणित करके मूल्यांकन न कर सके, तो जीवनमें व्यर्थता

थोड़े ही आ जाती है ? जीवनको बुद्धिके ढाँचेमें कसनेकी कोशिश करना जीवनका अपमान करना है।

धीरे-धीरे उठकर वह लौट चला। सारे शरीरमें मधुर थकान भरी थी ; किन्तु सदाका पीड़ित, बोझिल मन न-जाने कहाँ लुप्त हो गया था। सारे अवयवोंको एकबारगी ढीला छोड़कर अत्यन्त धीमी चालसे शरीरको आगे ढकेलनेमें उसे बेहद आनन्द अनुभव होने लगा। एक हल्के नशेमें सराबोर हो उठा। यह अनुभूति उसके लिए सर्वथा नवीन थी।

कोटलेमें अनेकों स्त्री-पुरुष घूम-फिर रहे थे, बैठे थे, खान-पान एवं हसने-गानेमें तल्लीन थे। न उसे किसीसे ईर्ष्या हुई, न किसी पर क्रोध आया। मानो उसके भीतर युग-युगसे प्रसुप्त कोई ममताका भण्डार छलछला उठा। आज वह सबका दुःख-सुख बँटानेको तैयार था, सबके लिये हँसने-रोनेको उद्यत। सारे मानव-प्राणी आज उसके लिये एक कौतूहल बन चले। कितने व्यक्तित्व हैं संसारमें, कितनी जीवन-गाथाएँ। माना कि सबकी सब इतिहास नहीं बनतीं, सबकी सब अंकित नहीं होतीं ; किन्तु उनमें एकका भी महत्त्व दूसरीसे कम नहीं। महाविराट, चिरन्तन मानव सबका साक्षी है, सबकी यादगार।

इसी प्रकार चलता, ठिठकता और अपने भीतरसे उमड़ते हुए शान्तिमय आनन्दको सब ओर बिखेरता वह लगभग दो मीलका लम्बा रास्ता तय करके अपने डेरे पर पहुँच गया।

उसने स्नान किया और होटलमें जाकर खाना खाया। खानेकी टेबुलके चारों ओर अनेक लोग इकट्ठे होते थे। युद्धका जमाना, खूब गपशप उड़ती थी। ब्रिटेनके विरुद्ध कटुतासे परिपूर्ण भारतीय लोग

जर्मनी और जापानकी विजय-गाथा सुन-सुनाकर एक अजीब संन्तोष लाभ किया करते थे। वे सब लोग इस बातपर सहमत थे कि जो कुछ हो रहा है, ठीक हो रहा है। ब्रिटेनको पिटना ही चाहिए। उनका मतभेद यदि कुछ था, तो खबरोंके झूठ-सच होनेपर जिनको सुनानेमें उनकी आपसमें होड़ लग जाती थी। कोई रेडियोका नाम लेता, कोई किसी अखबार और कोई ज्योतिषी, सरकारी अफसर एवं फौजी कप्तान इत्यादि अनेक विश्वस्त-सूत्रोंकी दुहाई देकर अपनी खबरोंका तथ्य प्रमाणित करता। इनमें अधिकतर गप्पें होती थीं, जिनको सुनकर प्रदीपको बे-तरह हँसी आ जाया करती। वैसे भी वह उन लोगोंका मज़ाक उड़ाता रहता था। इन लोगोंसे उसे कुछ चिढ़ हो चली थी और कभी-कभी तो उनको चिढ़ानेके लिये ऐसी-ऐसी बातें कह बैठता, जो वह खुद भी नहीं मानता था। क्रियात्मक रूपमें उसने राजनीतिमें कभी भाग नहीं लिया था। वह अच्छी तरह समझता था कि इस कामकी उसमें तनिक भी सामर्थ्य नहीं। फिर भी इस विषयमें इसके कुछ विश्वास थे, कुछ निष्कर्ष थे, जिनपर डटनेके लिये वह हमेशा तत्पर रहता था। साम्यवादमें आस्था होनेके कारण भारतके जन-साधारणसे उसका राजनैतिक दृष्टिकोण अलग था। इसलिये होटलके इन लोगोंसे लगभग नित्य ही उसकी गरमा-गरम बहस हो जाया करती। सब लोग उससे चिढ़ते थे और वह सब लोगोंसे चिढ़ता था।

आज भी उसके प्रवेश करते ही वे लोग सजग होकर बैठ गये। किन्तु वह न-जाने कैसा अनमना-सा बना रहा। रोजकी तरह आज भी लोगोंने हिटलर, मुसोलिनीके गुण गाकर, चर्चिल, रूजवेल्टको गाली देकर

उसे उकसानेकी चेष्टा की; पर उसने तनिक भी ध्यान नहीं दिया। चुपचाप शान्त-भावसे अपना खाना खाता रहा। आखिर जब वह हाथ धोनेके लिये उठा तो एक सज्जन कह ही बैठे—

"क्यों साहब, हार मान गये ना?"

प्रदीपने उधर देखकर धीरेसे मुस्करा दिया। बोला अब भी नहीं। सभाका रंग फीका रहा, लोगोंको कुछ निराशा-सी हुई।

होटलसे निकलकर वह वापिस डेरेपर पहुँचा। बड़े दरवाजे पर ही उसको सुनयनाका नौकर मिला। देखते ही बोला—

"बीबीजीने आपको एक बार बुलाया है।"

"क्यों?"

"बहुत जरूरी काम है। कहा है बाबूको बिना साथ लिये मत आना।"

"तुम जाओ, मैं आ जाऊँगा।"—कुछ उपेक्षाके-से भावसे प्रदीपने कहा।

"पर उन्होंने कहा है कि लेकर अभी-अभी आना।"—नौकर कुछ उत्सुकताका भाव लेकर बोला।

"मैं नहीं जा सकता......मेरा जी नहीं चाहता।"

बिना कुछ कहे अथवा उत्तरकी आशा किये वह सीढ़ियाँ चढ़ने लगा। मुड़कर देखा तक नहीं कि नौकर खड़ा है या चला गया।

अपनी कोठरी खोलकर उसने कपड़े उतारे और बिस्तर बिछाकर लेट रहा। एक सिगरेट फूँकी, कुछ अखबार उलटा-पलटा और धीरे-धीरे पढ़कर सो गया।

जब उसकी आँख खुली, तो देखा कि तीसरे पहर के नीले प्रकाशमें सुनयना उसके सम्मुख खड़ी मुस्करा रही है। उसके कुछ कहनेसे पहले ही वह बोल उठी—

"कवि-सम्मेलनका समय हो गया और आप पड़े सो रहे हैं!"

बिना उत्तर दिये ही उठकर वह चलनेकी तैयारी करने लगा। एक ओर रखे स्टूल पर सुनयना बैठ गई।

५

मोटरमें बैठकर सुनयनाने एक वार ध्यानसे प्रदीपको निहारा। पर यह क्या रोजका प्रदीप था? कितना उद्विग्न, उत्तेजित, आलोड़ित था रोजका प्रदीप। पर यह तो एकबारगी शान्त, सौम्य, गम्भीर मूर्त्ति बैठी थी उसके बराबर। कुछ देर तक वह कुछ कह न सकी। फिर बोली—

"क्या हो गया है आपको आज?"

"कुछ तो नहीं।"—धीरेसे प्रदीप बोला और साथ ही हल्केसे मुस्करा दिया। ऐसी मुस्कराहट सुनयनाने पहले-पहल उसके होठों पर देखी थी। वह फिर विचलित हो उठी और उस तरफसे मुख फेरकर बाहरकी ओर देखने लगी, अनमनी-सी शून्य दृष्टिसे।

मोटर दौड़ी चली जा रही थी। चान्दनी चौक पार करके वह माल रोड पर मुड़ गई और साथ ही उसकी रफ्तार भी तेज हो उठी।

हेमन्तके सान्ध्य-कालीन सूर्यकी मीठी लाल रोशनी लाल किलेकी दीवारोंको अत्यन्त रक्तिम किये दे रही थी। इधर हटकर फैले हुए घासके मैदानों की हरीतिमा साँझकी छायाओंमें लिपटकर अत्यन्त शीतल जान पड़ती थी। पत्थरके मैदानमें कुछ लोग फुटबाल खेल रहे थे और एक भीड़ किनारेसे खड़ी होकर म्यूनिसिपल रेडियोका युद्ध-प्रचार सुननेमें निमग्न थी। ढलान के नीचे उतरकर मोटर एक बार रुकी, सामने कुछ आदमी एक शवको लिये जा रहे थे। लाल ओढ़नी होनेसे मालूम पड़ता था कि किसी सधवा हिन्दू-स्त्रीकी अर्थी है। किसीने पुकारा—"राम नाम सत्य है।"

पर दूसरोंका कण्ठ-निनाद ऊपर पुल परसे जाती हुई रेल गाड़ीकी ह्विसलमें डूबकर रह गया। चौंककर सुनयनाने प्रदीपकी ओर मुँह फेरा।

वह दूसरे कोनेमें अधलेटा-सा आँख मूँदे पड़ा था। मुखपर वही शान्त, सौम्य गाम्भीर्य। अबकी बार सुनयनाको न जाने क्यों कुछ झुँझलाहट आ गई। तमक कर बोली—

"आपने अफीम खाई है?"

"हूं!"—एक जिज्ञासाके भावसे प्रदीपने आँख उठाकर उसकी ओर देखा और तनिक सीधा होकर बैठ गया।

"मैं पूछती हूं कि आज यह मौन-व्रत कैसा ले लिया। याद रहे कि आप सम्मेलनमें जा रहे हैं।"

"क्यों......क्या बातें करना जरूरी है?"

कैसा अज़ीब आदमी है। सुनयनाको कोई उत्तर नहीं सूझ पड़ा। फिर बाहरकी ओर देखने लगी। मोटर काश्मीरी गेटको पार करके

अलीपुर रोड पर दौड़ रही थी। ज़रा अपने-आपको संभालकर सुनयना फिर बोली—

"आज जो कविता सुनानी है वह तो लाए हैं ? कापी तो आपकी नहीं दीख पड़ती।"

"कापीमें वह नहीं है, मुझे याद है।

"नई रचना है क्या ?"

"हां।"

"इसीलिये शायद मेरे बुला-भेजने पर भी दोपहरको आप नहीं आए।"—मन ही मन प्रसन्न होकर कुछ छेड़नेके स्वरमें वह कह उठी।

"नहीं आनेका यह कौन-सा कारण था ?"—प्रदीप जैसे जागकर बोला।

"आपको घमण्ड जो हो गया होगा।"

"घमण्ड काहे का ?"

"यही, कवि होने का।"

"कवि तो मैं हूँ ही, घमण्ड······।"

"ख़ाक कवि हैं।"—सुनयनाको भीतर ही भीतर बेतरह हँसी छूट रही थी।

"तो सम्मेलनमें मुझे क्यों निमन्त्रित किया ?"

"यों ही······तमाशा बनानेके लिये।"

सहसा ड्राइवरके कन्धे पर हाथ रखकर प्रदीप चिल्ला उठा।

"ड्राइवर, गाड़ी रोको।"

जोरसे ब्रेक लगे और एक आवाज़के साथ मोटर रुकने लगी, पर उससे पहले ही सुनयना बोल चुकी थी।

"नहीं, बनवारी चलो।"—मोटर फिर बढ़ चली। प्रदीप उत्तेजित होकर कहने लगा।

"देखो, सुनी, मुझे यह सब नहीं अच्छा लगता। मैं सम्मेलनमें नहीं जाऊँगा, मुझे उतार दो।"

और फिर ड्राइवरको छूकर बोला—

"ड्राइवर गाड़ी रोको।"

"नहीं, बनवारी चलो।"—सुनयनाने दोहराया। आल इण्डिया-रेडियोके पास मोटर पहुँच चुकी थी। बावला-सा होकर प्रदीप बोला—

"मैं मज़ाक नहीं करता······मोटरसे कूद जाऊँगा।"

"कोशिश कीजिये"—और सुनयना मुँह फेरकर मुस्कराने लगी। वह फिर बाज़ी जीत चुकी थी।

कालेज गेट पर पहुँचकर उसने देखा कि प्रदीप रोनी सूरत बनाए आपा मारे, घुटनों पर कुहनियां टेककर हथेलियोंमें मुँह छुपाए बैठा है।

ड्राइवरने दरवाज़ा खोल दिया। उतरकर वह स्वस्थ, सुन्दर स्वरमें बोली—

"आइए।"

और यन्त्रवत उतरकर, सिटपिटाया-सा प्रदीप उसके बराबरमें खड़ा हो गया।

दो क़दम चलकर गेटके दोनों ओर कुछ लड़कियाँ खड़ी थीं। खूबसूरत, बदसूरत, गोरी-काली—अनेक वेश-भूषाओंसे सज्जित। ध्यानसे

क़िसीको देखनेकी फ़ुरसत सुनयनाने प्रदीपको नहीं दी, उसका जी भी नहीं था। परिचय होने लगा। सुनयनाने किसके विषयमें क्या कहा सो प्रदीप नहीं सुन सका, वह बेमना-सा हो रहा था। पर मज्जागत शिष्टताके नाते उसने लड़कियोंके नमस्कारके बदलेमें हाथ जोड़कर सिर हिला दिया।

साफ़ स्वच्छ, लाल बजरी बिछे रास्तेसे कालेजका लान पार करके वे लोग सामने बड़े हालके बरामदेमें पहुँचे। आँख उठाकर देखते ही प्रदीप स्तम्भित रह गया। सम्मुख कुछ लड़कियोंसे घिरी जो एक नारी खड़ी थी, उसीको देखकर। प्रदीपने अनेक युगों और देशोंके अनेक कवियोंकी रूप-कल्पनामें डुबकियाँ लगाई थीं। पर उसने कभी नहीं सोचा था कि वास्तवमें ऐसा रूप पृथ्वी पर पाया जा सकता है। बाणभट्ट की कादम्बरी और शेक्सपीयरकी ल्यूकरीस इन दोनोंको वह रूप-कल्पना की पराकाष्ठा माना करता। इन दोनों काव्योंको पढ़कर न-जाने वह कितनी बार आपा खो बैठा था ; किन्तु आज तो उसने साक्षात देखा कि उसके आगे कवियोंके सारे चित्र मलिन होकर मिट गए। खोया-सा वह उस उर्वशीके अवतारको आँखें फाड़कर निहारता रहा। इसी समय वह मनोरम चित्र दो कदम आगे बढ़ा और साथ ही सुनयनाने प्रदीपकी ओर इंगित करके कहा—

"आप हैं श्री प्रदीप—एक कवि !"

रमणीने हाथ जोड़कर नमस्कार किया। उसके उत्तर देनेसे पहले ही सुनयना फिर बोल उठी—

"आप हैं मिस—प्रोफेसर आफ इङ्गलिश, हमारी साहित्य-सभाकी प्रधान।"

प्रदीपसे कुछ कहते न बना। इन सब अनुभवोंके लिये वह बिल्कुल तैयार नहीं था। प्रोफेसर बोलीं—

"आइये इधर बैठिये, और लोग आये हैं, अभी कुछ देर है न।"

उसके साथ-साथ चलकर प्रदीप बड़े हालके बगलवाले छोटेसे कमरेमें पहुँचा। वहाँ पाँच-सात स्त्री-पुरुष बैठे गपशप कर रहे थे। वह भी एक ओर बैठ गया। एक लड़की आकर एक रिकाबीमें पान, इलायची और सिगरेटका डिब्बा रख गई। प्रोफेसर साहिबा एक बार मुस्करा कर चली गईं। मुड़कर प्रदीपने देखा, सुनयना भी कहीं नहीं थी।

अचानक उसे कुछ अकेलापन-सा महसूस हुआ। सामने कई लोग उसकी ओर देख रहे थे; किन्तु वह तो किसीको जानता नहीं! यह प्रोफेसर भी कैसी अजीब है—परिचय तक नहीं कराकर गई।

उधर बैठनेवालोंमें एक मोटी, काली, भद्दी-सी अधेड़ उम्रकी स्त्री उच्च स्वरमें कुछ बोल रही थी। कुछ साहित्यिक चर्चा है, इतना प्रदीप समझ गया। उसके बराबरमें बैठी दूसरी स्त्री, जो कुछ रुग्ण-सी मालूम होती थी, अपने चश्मेमें से शून्य-दृष्टिसे एक ओर देख रही थी। साहित्य-गोष्ठीमें शायद उसे कोई दिलचस्पी नहीं थी। कुछ हटकर एक ईज़ी-चेयर पर चूड़ीदार पायजामा और अचकन पहने, सिर पर गांधी टोपी जमाये, एक छोटी-सी सुन्दर छड़ी पर भार दिये एक बूढ़े सज्जन आगेकी ओर झुककर ध्यानसे उस मोटी औरतकी बातें सुन रहे थे। बीच-बीचमें आँखें मींचकर सिर हिला देते थे। उन्हींके बराबर धोती, कुरता और

नेहरूकट वास्केटसे सुसज्जित एक नवयुवक अत्यन्त उत्कण्ठित भावसे मुखरित होनेके भावमें बैठा था। वह कुछ कहना चाहता था; किन्तु वह पहली स्त्री उसे अवसर नहीं दे रही थी। हताश-सा वह अपने लम्बे और अस्त-व्यस्त बालों पर हाथ फेर कर रह जाता था। इनके अतिरिक्त और भी कतिपय युवक-युवतियाँ इधर-उधर बैठे थे; किन्तु वे सब सीधे-सादे लोग देख पड़े। हाँ, सबके मुखों पर एक वेदनाकी छाप अवश्य थी, मौन, अज्ञात।

पहले-पहल प्रदीपको लगा कि कवियोंमें दो तरहके लोग होते हैं—पेशेवर और पागल। वह स्वयं तो पेशेवर नहीं—शायद पागल है! वह यहाँ क्यों आया—अपने पागलपनसे दूसरोंको सूचित करनेके लिये?

एक अपूर्व ग्लानिसे उसका अन्तर भर उठा।

सहसा वह उठकर बाहरकी ओर बढ़ चला। प्रोफेसर और सुनयना दोनोंमें से कोई भी नहीं दीख पड़ती थी—शायद दोनों हालको ठीक-ठाक करनेमें व्यस्त थीं। किसी औरने उसकी तरफ ध्यान नहीं दिया और वह बे-रोक-टोक, लम्बे डग भरता हुआ गर्ल्स कालेजके फाटकको पार करके सड़क पर निकल गया। न-जाने क्या उसको आगेकी ओर ठेल रहा था। पीछे मुड़कर भी न देखा—जैसे किसी भयानक दुर्घटनासे बचकर भागा हो।

काश्मीरी गेट तक आते-आते उसको बुरी तरह पसीना छूट पड़ा, गला सूख गया। मैगनोलिया फाउन्टेनमें घुसकर धमसे एक कुर्सीपर बैठता हुआ वह बोला—

"ब्राय, एक मिल्क शेक!"

वैभवसे नितान्त अनभिज्ञ और उदासीन भी। नीचे-ऊपर कुछ और भी नौकाएँ आ जा रही थीं। सारे वातावरणमें गहरी शान्ति और साथ-साथ कुछ मादकता-सी फैली थी। निष्परिश्रम भावसे प्रदीप पतवार चलाने लगा।

आज भी उसने वाह्य-प्रकृतिके साथ ऐकात्म्य अनुभव करने की चेष्टा की और असफल रहा। उसके मस्तिष्कमें भावों और विचारोंका तांता लगा था—वही पुराने ढङ्गकी गढमढ, उलझ-पुलझ, संसृति, समाज और अपने आपको एक सूत्र द्वारा समझनेकी बौद्धिक ऊहापोह। इस विचारधारा को वह प्रोत्साहन नहीं दे रहा था, सहयोग भी नहीं। वह चाहता था कि ये सब फ़िजूलकी बातें वह न सोचे। फिर भी बार-बार वह देखता था कि यन्त्रवत् वही समस्यायें, वही सवाल और वही उलझनें उसके भीतर सिर उठाती हैं और मचलती है। उसकी इच्छा-अनिच्छाके जैसे कोई मायने ही नहीं।

अचानक उसने सिर उठाकर देखा कि वह अनायास और अजानेमें काफ़ी ऊपर चला आया है। वाटर'वर्क्स भी नीचे रह गए और कोई सौ गज ऊपर दीख पड़ा मजनूका टीला, जहाँसे नदी धीरे-धीरे उत्तरकी ओर मुड़ती चली जाती है। सूर्यदेव तनिक पश्चिमकी ओर झुक चले थे, किन्तु अभी वायु-मंडलमें शीतका प्रसार होनेमें कमसे कम दो घण्टे की देर थी। प्रदीपका जी चाहा कि नाव किनारे लगाकर टीलेके आसपास बिखरी घासपर कुछ सुस्ता लिया जाए। धीरे-धीरे नौका उस ओर बढ़ चली।

नदी-तट और टीलेके बीच कोई पचास गज़का अन्तर है। बरसातमें नदी चढ़ती है तो टीलेसे लगकर बहती है, किन्तु शरद्में उतरकर अपने-पुराने स्थान पर आ लगती है। टीले का प्रसार पूर्वसे पश्चिम तक एक फर्लाङ्ग भर होगा, किन्तु पश्चिमको जाते-जाते नदी दूर-दूर हटती जाती है, क्योंकि स्रोतका उठान उत्तरकी ओर है।

किनारेकी रेतीको पार करके प्रदीप घास तक पहुँचा, पर देखा कि वहां तो बैठनेकी कोई जगह नहीं है। दूरसे जो घास इतनी घनी और हरी-भरी दीख पड़ती थी, वह पास आनेपर छितरी और सूखी-सी मिली। प्रदीप और आगे बढ़कर टीलेके नीचे-नीचे पश्चिमकी ओर चलने लगा। वह देख रहा था कि कोई ऊपर जानेका रास्ता मिले तो उस पार पहुंचा जाय। थोड़ी दूर चलकर वह सहसा ठिठका और सांस रोककर कुछ सुनने लगा। पहले तो उसे कुछ भ्रम-सा हुआ, पर धीरे-धीरे विश्वास हो गया कि उस पार कुछ दूर हटकर कोई वायलिन बजा रहा है। उसने इधर-उधर देखा। टीले पर चढ़नेकी कोई पगडण्डी आसपास नहीं थी। किन्तु वायलीनके स्वरसे झरने वाले हृदय-भेदक कारुण्यने उसे अधीर बना डाला। ऐसा-सा लगा मानो समस्त ब्रह्माण्डकी पीड़ा एकीभूत होकर आत्म-निवेदन करने चली है। वह ऊबड़-खाबड़ रास्तेसे टीलेके ऊपर चढ़ने लगा और कुछ मिनटमें ही चोटी पर जा खड़ा हुआ।

संगीत समाप्त होनेपर उसने ध्यानसे देखा कि टीलेके पीछे फैले हुए छोटेसे बनमें कुछ दूर पर दस-बारह स्त्री-पुरुष बैठे हैं। पिकनिककी पार्टी-सी जान पड़ी। कुछ देर तक वह इस आशासे खड़ा रह। कि शायद

फिर कोई वायलीनके स्वर साधकर उसे गहन अभिभूतिके पारावारमें डूबा दे। किन्तु वह मण्डली बिखरने लगी। प्रदीपको कोई विशेष कौतूहल नहीं था, फिर भी वह धीरे-धीरे टीलेके नीचे उतरकर उनकी ओर चल पड़ा।

अभी कुछ दूर ही बढ़ा होगा कि एक नारी-कण्ठ सुन पड़ा।

"हल्लो, प्रदीप बाबू"—और वह कुछ चमककर खड़ा हो गया। इन लोगोंमें कोई उसकी जान-पहचानका हो सकता है, यह तो उसे अनुमान तक न था और फिर एक नारी—प्रदीप विस्मित-सा उस ओर देखने लगा। नीली साड़ीसे सज्जित एक नारी-देह उसकी ओर आ रही थी। कुछ पास आने पर उसने पहिचाना—ज्योत्स्ना गांगुली।

"आप इधर कैसे?"—बिल्कुल निकट आकर ज्योत्स्ना बोली।

प्रदीपसे कुछ उत्तर न बन पड़ा। ज़रा मुस्करा भर दिया।

"आइए, आप भी हमारी पार्टीमें शामिल हो जाइए।"—ज्योत्स्ना फिर बोली।

"किन्तु···मैं तो इन सबको जानता नहीं।"—ज़रा झेंप कर प्रदीप बोला।

"सो तो मैं परिचय करा दूंगी।"

"अच्छा···चलिए।"

दोनों चलकर वहाँ पहुँचे। ज्योत्स्नाने सबसे प्रदीपका परिचय करा दिया। उनमेंसे कईको तो प्रदीपने कालेजमें देखा था, पर कोई बातचीत कभी नहीं हुई थी। साधारणतः बंगालियोंका एक अलग समाज रहता था, फिर प्रदीप जैसे एकाकी जीवके लिए तो पड़ोसी भी अनजान रहते हैं।

वे लोग स्टोव वगैरा लिए कुछ खाने-पीनेका प्रबन्ध कर रहे थे। प्रदीप भी एक तरफ बैठकर ज्योत्स्नासे बातें करने लगा। उसे अजीब-सा लग रहा था। यह ज्योत्स्ना वैसे उसकी सहपाठिन थी, पर प्रदीपको तो कभी उससे मिलने या बात करनेका विशेष संयोग नहीं मिला था। केवल एक दिन वह सुशीला खन्नाके साथ क्लासके बाहर दो मिनटको उससे बोली थी। प्रदीपने भूलकर भी नहीं सोचा था कि यह लड़की जिसकी सारे कालेजमें चर्चा रहती है, इतनी सीधी-सादी और अकृत्रिम होगी।

चाय इत्यादि बीचमें रखकर सब लोग चारों ओर बैठ गए। बंगाली लड़के और लड़कियां अपनी भाषामें गप-शप करने लगे। प्रदीपकी कुछ समझमें नहीं आ रहा था और न ही उनमेंसे प्रदीपकी ओर कोई ध्यान दे रहा था, सिवाय ज्योत्स्नाके। धीरे-धीरे प्रदीपको बुरा-सा लगने लगा। वह सोच रहा था कि कुछ बहाना करके वहाँसे खिसक जाए। इसी समय सामने बैठी एक सांवली-सी लड़की जिसका नाम अरुणा मुखर्जी था, बोल उठी—

"कविता सुनाएँगे, प्रदीप बाबू !"—प्रदीप चमककर उसका मुँह ताकने लगा। वह समझ न सका कि अरुणा कैसे उसके कवि होनेका भेद जानती है। यह तो ज्योत्स्नाको भी मालूम नहीं था। वह भी कुछ चकराकर अरुणाकी ओर देखने लगी। अरुणा फिर बोली—

"आज आप उस दिनकी तरह भागकर पीछा नहीं छुड़ा सकेंगे।"—प्रदीपको और भी विस्मय हुआ। उसके कवि-सम्मेलनसे भाग आनेकी बात अरुणाको कैसे मालूम हुई। ज्योत्स्नाने अरुणासे पूछा।

"अरी तू यह सब क्या कह रही है ?"

"तुम जानती नहीं, दीदी, उस दिन इनका कितना मज़ाक उड़ा हमारे कालेजमें। सम्मेलनकी लिस्टमें इनका नाम छपा—ये आए भी। पर ठीक वक्त पर न जाने कहाँ रफूचक्कर हो गए।"

ज्योत्स्नाने प्रदीपकी ओर देखा। वह धीरे-धीरे मुस्करा रहा था। वह एक ठण्डी साँस भरकर आंखोंमें हँसती-हँसती बोली—

"हूँ, तो ये बात है। आप कवि भी हैं। मुझे बताया क्यों नहीं, आपने ?"

"आपने भला पूछा ही कब था ?"—प्रदीप स्थिर-भावसे बोला—

ज्योत्स्नाने कोई उत्तर नहीं दिया। हाथ फैलाकर बराबरमें रक्खी हुई वायलीन उठा ली। प्रदीप संभलकर बैठा, प्रतीक्षा में। पर बजानेका कोई प्रयत्न न करके ज्योत्स्ना वायलीनके तार ढीले करने लगी और फिर बाक्स उठाकर वह मनोहर वाद्य उसमें रख दिया। प्रदीप ललचाकर बोला—

"क्यों, क्या बजाएँगी नहीं ?"

"जी नहीं चाहता, समय अधिक हो गया है। अब उठना चाहिए।"

प्रदीपने अधिक उत्कण्ठा प्रकट नहीं की। वह ज्योत्स्नाके निकट नहीं आ पा रहा था। न जाने क्यों। उधरसे कोई अवहेलनाका संकेत भी नहीं था। फिर भी।

धीरे-धीरे वह पिकनिक पार्टी अपना साज-सामान समेटकर चलनेको तैयार हो गई। प्रदीपने सबसे विदा मांगी। सहसा ज्योत्स्ना पूछ उठी—

"आप यहां तक कैसे आए हैं, भला ?"

"नौकासे, टीलेके उसपार किनारेसे लगी है।"—अन्यमनस्क-सा उत्तर दिया प्रदीपने।

"मैं आपके साथ चलूँ तो आपको कोई आपत्ति होगी ?"—कुछ चिन्तित-भावसे बंगाली समाजकी ओर देखते हुए ज्योत्स्नाने फिर पूछा।

"नहीं मुझे क्या आपत्ति हो सकती है"—उत्फुल्ल भावसे प्रदीप बोला।

"आपको नाव तो चलानी आती ही होगी ? कहीं डुबा तो नहीं डालेंगे ?" हँसकर ज्योत्स्ना बोली—

"अब यह तो कैसे कह सकता हूं ?"

"देखिये मैं अपने मां बापकी अकेली लड़की और चार भाइयोंकी एक बहिन हूं। यदि अजानेमें भी मेरी हत्या कर डाली तो सात जन्म भी आपको मुक्ति नहीं मिल सकेगी।"—ज्योत्स्नाके साथ-साथ सब लोग हँस दिए। प्रदीप भी हँसी नहीं रोक पाया। फिर बोला—

"अच्छा तो चलिए।"

"अरुणा ! आओ तुम भी मेरे साथ। अकेले जाते डर लगता है। कवियोंका क्या भरोसा।"—ज्योत्स्नाने अरुणाको हाथ पकड़ते हुए कहा।

इसके पश्चात् शिष्टाचारके नाते प्रदीपने फिर दूसरी ओर जाने वाले बंगाली-समाजसे बिदा मांगी और दोनों लड़कियोंको लेकर टीलेकी तरफ चल पड़ा। ज्योत्स्नाने मानो उसको भुला दिया। वह अरुणासे बंगलामें बात करती चली। प्रदीप कुछ नहीं समझ पा रहा था।

उसे बड़ा अजीब लग रहा था। उसकी छातीमें भय, अभिमान, औत्सुक्य ओर हर्षकी अनिर्वचनीय भावनाएँ आपसमें लथपथ होकर फूलती जा रही थीं। उनको सुलझानेका प्रयत्न वह नहीं कर सका। बस कुछ आलोड़ित-सा होकर तन्मय-सा बढ़ता चला जा रहा था।

नावके अगले भागकी सीट साफ करके उसने दोनों बालओंको उस पर बैठा दिया। अरुणा कुछ डरी, सहमी, किन्तु ज्योत्स्ना स्थिर भावसे बैठ गई। एक धक्का लगाकर वह भी नाव पर चढ़ गया और खूब संभालकर पतवारें चलाने लगा। बीच धारमें लाकर उसने नावको घुमा डाला।

उधर उत्तर-पूर्वमें फैले गेहूँ, चने, सरसों, और मटरके खेत अस्तायमान सूर्यकी गुलाबी धूपमें रंगकर अद्भुत छटा धारण करते जा रहे थे। प्रदीपकी स्थिर दृष्टि उसके सम्मुख बैठी युवतियोंके सिर पर होती हुई क्षितिजके नीचे बिखरे नैसर्गिक सौन्दर्यको सहेज रही थी। उस पृष्ठ-भूमिके तट पर बैठी उन दो नारी-मूर्तियोंने उसके रोम-रोममें गहन उन्माद छलका दिया। वह अपना अस्तित्व भुला बैठा।

नाव बिना प्रयासके ही नदीकी मन्थर-धाराके साथ बहती जा रही थी। बहुत हलके हाथसे, कोई शब्द किए बिना, दो चप्पू रंगीली सांझमें कुछ पीत-वर्ण धारण करते हुए यमुनाके नीले जलका आलिंगन-सा करके हट जाते थे, बार-बार और वे दो युवतियाँ—उनको प्रदीपका ध्यान ही नहीं था, आपसमें बातें कर रही थीं, इधर-उधर आँखें उठाए बिना। प्रदीप भी उनको सम्बोधित करनेका साहस नहीं कर सका। बीचके

अन्तरको वे चाहें तो पार कर लें—वह नहीं कर सकेगा। सहसा अरुणाने हलकी-सी चीख़ मारी—"ओः माँ।"

प्रदीपने हड़बड़ा कर कहा—

"क्या बात है?"

उत्तर दिया ज्योत्स्नाने—

"भला इस बेवक्तकी होलीका क्या मतलब है?"

अरुणा ठिठुरती-सी साड़ीके आंचलसे अपना परिधान झाड़ रही थी। चप्पूके एक छपाकेसे पानी उछलकर उसके ऊपर गिर पड़ा था।

"क्षमा कीजिये—हाथ बहक गया।"—प्रदीप वास्तवमें दुःखित होकर बोला।

"मैं तो पहले ही जानती थी कि आप अनाड़ी निकलेंगे।"—कृत्रिम क्रोधकी मुद्रासे ज्योत्स्ना बोली।

"इसमें अनाड़ीपनेकी कौन-सी बात है, दीदी?" उसका भाव समझे बिना ही अरुणा कह उठी।

"तो रहने दो—मैं तो तेरा साथ दे रही थी, तू इनकी वक़ालत करने लगी।"

सब लोग हँस पड़े।

"देखिये प्रदीप बाबू, बड़ी देर हो रही है, जरा जल्दी कीजिये।"—ज्योत्स्नाने कहा।

प्रदीप सम्भलकर बैठा और जोरसे चप्पू चलाने लगा। नाव धारके बीचोबीच उड़ चली। कोई बात फिर होने नहीं पाई।

स्विस होटलके पाससे तिमारपुरकी बसमें उठते-उठते अरुणा बोली—"सुनयना जीजीसे आजकी भेंटका जिक्र मत करना प्रदीपजी, वह ईर्ष्याके मारे जल उठेगी।"

बसकी घण्टी बजी और शोर मचाती हुई वह दौड़ चली। प्रदीप एक क्षण अवाक् रहा। फिर मुड़कर शहरकी ओर चल पड़ा।

चलते-चलते सोचने लगा ज्योत्स्नाके विषयमें। उस लड़कीका व्यवहार प्रदीप नहीं समझ पा रहा था। बार-बार वह उसे अपने निकट खींचकर छोड़ देती थी। भला किस आशासे?

उसको शरत् बाबूकी राजलक्ष्मी याद आई। वह भी तो श्रीकान्तको अपनी ओर खींचकर छोड़ देती थी। तो क्या बंग-देशकी स्त्रियाँ पुरुषके साथ खेला करती हैं? किन्तु अरुणाका रङ्ग-ढङ्ग तो ज्योत्स्नासे भिन्न था। वह तो प्रदीपके निकट आना चाह रही थी। केवल ज्योत्स्ना बीचमें अड़कर उसका प्रयास निष्फल कर डालती थी। फिर भी वह साँवली लड़की चलते-चलते सुनयनाका नाम लेकर कैसी चुटकी काट गई!

प्रदीप जैसे जागा। उसने अरुणाके शब्दों पर अधिक ध्यान दिया। क्या मतलब था अरुणाका? इतनी भारी बात वह कैसे कह गई? मज़ाक था, फिर भी कितना तीखा। 'सुनयना ईर्ष्याके मारे जल उठेगी!'

अरुणाको कैसे मालूम कि सुनयना और उसका कुछ गहरा सम्बन्ध है? शायद सुनयना उसके विषयमें चर्चा करती हो अपने कालेजमें। वहीं यह अरुणा कुछ सुन-समझ पाई हो।

पर कैसी बेढब बात है ? सुनयना और उसका गहरा सम्बन्ध है— यह बात वह कितनी आसानीसे सोच गया। गहरा सम्बन्ध ?

सुनयनासे सम्पर्क हुए तीन महीने हुए होंगे। किन्तु प्रदीपने कभी सोचकर देखा ही नहीं था कि इतने थोड़े दिनोंमें वे लोग घुल-मिल गये हैं। अरुणाकी बात एक भारी चाबुक-सी पड़ी उसके ऊपर। एक निरपेक्ष दृष्टिसे वह सुनयना और अपने-आपको साथ बैठे, जाते-आते, बातचीत करते देखने लगा। वास्तवमें यह सम्बन्ध, यह तौर-तरीका एक ट्यूटर और छात्राका नहीं ; और चाहे कुछ भी हो।

पलक मारते उर्मिलाकी मासूम मूर्त्ति और भोली बातें उसके मानस-पटल पर थिरक उठीं। वह उर्मिलाका है—और किसीका नहीं। फिर क्यों भला औरोंके साथ अपनी भावनाएँ उलझाता है या औरोंको अपने साथ उलझने देता है ? सुनयना कुछ भी हो, उसके वर्गकी नहीं, समाजकी नहीं। फिर उसके साथ यह मेल-जोल कैसा ? उसे पढ़ाता है, पेटके लिये ; इससे अधिक उनका सम्बन्ध क्यों बढ़े। और सम्बन्ध बढ़ चला है, इसमें सन्देहको गुँजाइश नहीं—अन्यथा अरुणा ऐसी बात क्योंकर कह सकती थी ? अवश्य ही सुनयना कालेजमें उसके विषयमें ऐसे ढङ्गसे बातें करती होगी कि सुननेवालोंको कुछ दालमें काला दीखने लगे।

तो क्या वास्तवमें सुनयना उससे प्रेम करती है ? एक सीधा सवाल प्रदीपके मनमें उठा ; किन्तु उसकी हिम्मत नहीं हुई कि सहज भावसे हाँ कह दे। वह कैसे अपने-आपको सुनयनाके प्रेमका पात्र समझ सकता

है ? उसमें कुछ भी तो नहीं जिसपर सुनयना रीझ सकती हो। तो अरुणा यह बात कैसे कह सकी ?

प्रदीपका सिर भिन्ना उठा। एक सवाल था, जिसका एक ही उत्तर हो सकता था; किन्तु वह उत्तर देनेकी क्षमता वह नहीं जुटा सका।

विचारकी गति बदली। वह उर्मिलाके विषयमें सोचने लगा। कुछ भी हो, उर्मिलाको वह धोखा नहीं दे सकेगा।

तेजीसे चल रहा था प्रदीप। अनजानेमें वह रास्ता पार कर गया। स्कूलकी सीढ़ियाँ चढ़ते-चढ़ते उसने निश्चय किया कि उर्मिलाको एक प्रेम-पत्र लिखना चाहिये।

किन्तु इस बातका उसे ध्यान तक नहीं रहा कि उर्मिलाके प्रति उसकी भावना प्रेममय नहीं, करुणामय थी। करुणा प्रेम नहीं हो सकती, और कुछ भी हो।

प्रदीपका पश्चात्ताप भी आत्म-वञ्चनासे आगे नहीं बढ़ सका।



७

प्रदीप स्कूलके जिस बड़े मकानमें रहता था, वह शाम होते ही जनशून्य हो उठता था। नीचेके खण्डमें भंगी अधिकतर शराब पीकर बारह बजे रात तक अश्लील गाने गाया करता ; नन्नूके शोर-शराबेकी प्रदीपको ऐसी आदत-सी पड़ गई थी कि कभी उसकी उपस्थिति तक उसने महसूस नहीं की। हाँ, उसीके खण्डमें दूसरे कोनेपर बाल-बच्चों सहित रहनेवाला स्कूलका चपरासी अवश्य कभी-कभी चिट्ठी पढ़वाने अथवा लिखवानेके बहाने उसका एकान्त भङ्ग कर जाया करता।

उर्मिलाको पत्र लिखते-लिखते प्रदीप बे-तरह विकल हो चला। जितना लिखता गया, उतनी ही उसकी भूख बढ़ती गई। उसके भीतर कुछ सिर पटक-पटककर पुकार रहा था कि उर्मिलाके प्रति जो अपराध वह कर बैठा है, उसकी मार्जना किसी प्रकार नहीं हो सकेगी। उस लड़कीके प्रति अपने जिस प्यारकी दुहाई देकर उसने समाज, परिवार और सगे-सम्बन्धियोंकी घोर अवहेलना की थी ; आज वही प्यार दूसरी ओर बह चला है—यह देखकर उसकी विडम्बनाका किनारा नहीं रह गया। उसने कभी नहीं सोचा था कि उसके अव्यवस्थित, असंयमित व्यक्तित्वके गहन स्तरोंमें इतनी दुर्जय नैतिक अन्तरात्मा सोई पड़ी है। एक दुर्वह ग्लानिसे उसका मानस भर गया।

उर्मिलाका पत्र समाप्त करके वह सुनयनाको लिखने बैठा। वह पत्र द्वारा उसको जता देना चाहता था कि कई कारणवश वह और उसको

नहीं पढ़ा सकेगा ; किन्तु सम्बोधन पर ही अटक कर रह गया प्रदीप। वह क्या लिखकर सुनयनाको सम्बोधिक करे ? बोल-चालमें तो वह उसे "सुनी" कहकर पुकारता था ; किन्तु पत्रमें···पत्रमें क्या लिखे ?

अचानक कमरेकी बत्ती बुझ गई। शायद मेन स्विचका फ्यूज उड़ गया था। प्रदीप समझ नहीं पाया कि क्या करे। सहसा बाहरसे हल्की-सी आवाज आई—

"बाबूजी !"

"कौन है ?"—चमककर बोला प्रदीप।

"मैं, मैनाकी माँ।"

यह फगवा चपरासीकी स्त्री थी—तीसरी स्त्री—दो पहली मर जानेपर इसने फगवाका घर बसाया था। इसकी उम्र यही १८-१६ सालकी होगी; किन्तु ब्याह के चार सालमें ही उसने फगवाको दो लड़की और एक लड़का दे डाले। फगवा बड़ा शौक़ीन आदमी था ; किन्तु किसी प्रकार भी मैनाकी माँका फूहड़पन दूर नहीं कर सका। वह बेहद मैले कपड़े पहने रहती और सूखे मोटे बाल बिखेरे इधर-उधर घूमा करती। प्रदीपने उसकी ओर कभी आँख उठाकर भी नहीं देखा था ; किन्तु आज न जाने कैसे उसकी आवाज सुनते ही उसकी रगोंमें बिजली-सी दौड़ गई। काँपतेसे स्वरमें बोला—

"क्यों, क्या बात है ?"

"बिजली चली गई·········।"

"फगवा कहाँ है, उससे कहो मिस्त्रीको बुला लाएगा।"

"वे तो सिनेमा चले गए, बारह बजे आएँगे।"

"ओ.........!"

कुछ देर तक सन्नाटा-सा रहा। मैनाकी माँ फिर बोली—

"आप नहीं ठीक कर सकते ?"

"कर तो सकता हूँ, पर अन्धेरा जो है।"—कहते-कहते प्रदीप अपनी कोठरीकी चौखट पर आ खड़ा हुआ। कुछ हटकर खड़ी थी मैनाकी माँ। धीरे-धीरे एक छाया-सी प्रदीपके आगे झिलमिलाने लगी। उसकी सांस जोर-जोरसे चल रही थी।

"मैं डिबिया जला लाती हूं।"—मैनाकी माँ बोली।

"अच्छा।"

और वह चली गई। प्रदीप वहीं खड़ा रहा। एक भयानक नशा-सा उसे चढ़ता जा रहा था। संभलनेकी कोशिश तक उससे न बन पड़ी।

डिबिया लेकर मैनाकी माँ बाहर वाले दरवाजे पर आ खड़ी हुई। कुछ बोली नहीं। प्रदीपने देखा कि उसी मैली धोतीमें किसी प्रकार लिपटकर वह ठण्डमें कांप रही है। आधे चेहरे पर बिखरे बालोंमेंसे दीख पड़ते हैं उसके अत्यन्त सफेद दाँत अथवा निस्तब्ध किन्तु चमकीली आँखें। कुछ नीचे नज़र उतरने पर देखा कि आँचलसे ढकी हुई उसकी लटकती छातियोंका उभार पेटसे कुछ ही ऊपर रह गया है। उसे कुछ आत्म-चेतना-सी होने लगी। दो क्षण और देखता रहता तो उसका नशा उतर जाता, किन्तु मैनाकी माँ मुड़कर जीनेकी ओर चल पड़ी। वह बिना कुछ बोले ही खड़ाऊँ पहनकर उसके पीछे-पीछे हो लिया।

प्रदीपने डिबियाके उजालेमें मेन स्विचका ढक्कन खोला। मैनाकी मां कुछ पीछे खड़ी हाथ ऊँचा किए उजाला दिखा रही थी। एक मिनट तक वह बोर्ड पर लगी चीनीकी सफेद टोपियों पर आँखें दौड़ाता रहा। पर उनको खोलकर देखनेका प्रयास किए बिना ही उसने ढक्कन बन्द कर दिया।

"क्यों?"—मैनाकी माँने पूछा।

"सब ठीक है यहां तो।"—प्रदीप बोल गया।

मैनाकी माँ असमंजसमें चुप खड़ी रहीं। प्रदीप स्थिर दृष्टिसे उसकी ओर देख रहा था। धीरे-धीरे बोला—

"मालूम होता है कि कहीं लाइनमें खराबी हुई है। मुझसे ठीक नहीं हो सकती। कल मिस्त्रीको बुलाकर दिखाना होगा।"

"अच्छा।"—विश्वास करते हुए मैनाकी माँ बोली।

साथ ही साथ फूँक मारकर प्रदीपने डिबिया बुझा डाली। पर उसके शरीरको जैसे काठ मार गया। एक उँगली तक मैनाकी माँसे न छुआ सका। हठात् उसके मुँहसे निकला—

"धूएँसे दम घुटा जा रहा था।"

और उत्तर सुने बिना ही वह जल्दी-जल्दी सीढ़ियां चढ़ गया। अपनी कोठरीमें पहुँचकर उसने दरवाजा बन्द किया और भीतरकी सिटकनी चढ़ा दी। लिहाफ ओढ़कर अन्धेरेमें लेट गया प्रदीप।

पर उसकी शिराओंमें मानों रक्तकी जगह पेट्रोल था, जिसमें किसीने दियासलाई दिखा दी हो। बेहद बेचैनीसे वह करवटें बदलने और एड़ियां रगड़ने लगा। भूख स्पष्ट हो चली। उसका रोम-रोम एक नारी-देहसे

लिपटनेको तड़प रहा था। कुछ भी तो उसका बुखार नहीं उतार सका।

बिलकुल पागल-सा होकर वह उठा और दरवाज़ा खोलकर दबे पांव फगवाकी कोठरीकी ओर चला। कोठरीके किवाड़ केवल ढके थे, यह ज़रा ठेलते ही वह समझ गया। झांककर उसने देखा कि जमीन पर बिछे मैले-कुचैले कपड़ोंमें तीन बच्चे और एक स्त्री सोए पड़े हैं। एक ओर आलेमें वही डिबिया जल रही थी। सारी कोठरीमें धूआँ और बदबू भरी थी। वह सांस रोके बाहर ठिठककर देखता रहा। नीचेसे केवल नन्नूका भद्दा, बेसुरा राग आ रहा था। शेष सब सन्नाटा था।

अपने आपको तनिक संभालकर वह भीतर घुस गया। सांस रोककर फिर सुना। किन्तु नन्नूके हंगामेमें डूबी हुई उन सोए प्राणियोंकी चलती हुई गहरी सांसके अतिरिक्त और कुछ उसके कानों तक नहीं पहुँचा। इतना वह जानता था कि सदर दरवाजेको छोड़कर स्कूलमें आनेका रास्ता नहीं और सदर दरवाजे पर भीतरसे ताला लगाकर चाबी मैनाकी माँ रक्खा करती है। नन्नू पर यह जिम्मेदारी नहीं छोड़ी जा सकती थी। फगवा जब आएगा, तो बाहरके कुण्डेकी चोटसे बड़ा दरवाज़ा चीख उठेगा। पर फगवा यदि सचमुच सिनेमा गया है, तो उसके लौटनेमें बहुत देर थी। प्रदीपका साहस बढ़ा। वह सचमुच मैनाकी माँके पास जा पहुँचा और झुककर उसके शरीर पर ढका लिहाफ खींच डाला। कुछ बड़बड़ाती-सी वह उठकर बैठ गयी और आँखें मसलती हुई बोली—

"कौन, मैनाके बापू?"

"नहीं, मैं हूं प्रदीप।"

भड़ककर वह अपने सिर और छाती परका आंचल संभालने लगी।

प्रदीपकी छातीके भीतर उद्वेलित भावनाएँ एकबारगी जमकर रह गईं। कुछ बोलते न बना, बस निश्चल भावसे अपने सन्मुख, नीचे जमीन पर बैठी उस काली-कलूटी, अस्तव्यस्त नारी-मूर्त्तिको एकटक निहारता रहा। मैनाकी मां बोली—

"क्या बात है, बाबूजी?"

"ज़रा चाबी दो तो, बाहर जाना है।"

"इत्ते वक्त आप बाहर जाएँगे, भला क्यों?"

"जी नहीं लग रहा। कुछ समझमें नहीं आता क्या करूँ?"

"जी कैसे लगे। बहूरानीकी याद आई होगी। सच, बाबूजी, आप क्यों रहते हैं, ऐसे, अकेले, साधू-संन्यासीकी तरह। ब्याह हो गया, अब घर-बार बसाकर टुक दुनियादारी देखो। इन मरी किताबोंमें न जाने आपको क्या मिलता है······?"

प्रदीप कुछ नहीं बोला। बोल ही नहीं सका। घर-बार बसानेकी बात कहकर मैनाकी माँने उसके दबे घावोंको हरा कर डाला। उसकी आँखोंमें आँसू छटपटाने लगे।

चुपकेसे उसने चाबी ली और कोठरीके बाहर निकल गया। अँधेरे में ही कपड़े पहनकर वह बाहर आया और यन्त्रवत् सीढ़ियां उत्तर द्वार खोल सड़क पर बढ़ चला।

एक पल पहलेके अपने अन्ध-उन्मादकी याद आई प्रदीपको। किन्तु उसे ग्लानि अथवा लज्जाका अनुभव नहीं हुआ, शुद्ध कौतूहलसे मानस

मचलने लगा। मानवकी भावनाएँ कितनी गूढ़, रहस्यमय और विकट होती हैं—यह उसने मानो आज पहले-पहल जाना हो।

सन्ध्या समय अरुणाकी बातसे ठेस पाकर उसका सारा संसार उर्मिला-मय हो उठा था। यहाँ तक कि वह सुनयनासे भी सम्बन्ध-विच्छेद करनेको प्रस्तुत हो गया था। किन्तु उसके बाद—न जाने एक कैसी, नग्न, बीभत्स भूख किधरसे आकर उसके आत्म-त्यागी व्यक्तित्वको निगल बैठी। भला क्यों?

चलते-चलते प्रदीप ठिठक गया। इस प्रश्नका उत्तर दिए बिना क्या वह आगे बढ़ सकेगा? मस्तिष्ककी शिराओंमें रक्त फूलने लगा। मेरे भगवान, कैसी अजीब बात है? जो व्यक्ति समस्त संसारको समझनेका बीड़ा उठाता है, वह अपने प्रति इतना अविज्ञ! नहीं, नहीं, सबसे पहले अपने आपको समझ डालना होगा।

दो लड़कियाँ हैं उसके जीवनमें—सुनयना और उर्मिला—नहीं, उर्मिला और सुनयना। दोनों यौवनसे भरपूर और वह दोनोंके प्रति आसक्त है। दोनोंके प्रति? हां। किन्तु क्या एक भावसे? नहीं, सो तो नहीं कहा जा सकता। तो फिर?

दोनों हाथोंकी मुट्ठियाँ बाँधे, निश्चल खड़ा प्रदीप भीतर ही भीतर भभक रहा था। एक तांगा पास आकर रुका।

"आइये बाबू, पहुंचा दूंगा।"—अभ्यर्थनाके स्वरमें तांगेवाला बोला। प्रदीपने नज़र उठाकर इधर देखा तक नहीं और निराश होकर तांगेवाला घोड़ा बढ़ा ले गया।

एक भावसे वह सुनयना और उर्मिलाको नहीं चाहता। उर्मिला खूब सुन्दर है—कम-से-कम उसकी आँखोंमें। उसके एक-एक अङ्गमें यौवन लहराता है। उस सुन्दर, स्वस्थ देहके लिए प्रदीपकी भूखका किनारा नहीं।

सुनयनाको सुन्दर नहीं कहा जा सकता। वह स्वस्थ भी नहीं है। पर उसकी बुद्धि, उसका व्यक्तित्व—वह तो हजारोंमें एक है। प्रदीप को उसके शरीरके लिये कभी रुचि अनुभव नहीं हुई ; किन्तु उसके पास बैठकर उससे बातें करते-करते उसका मन नहीं भरता।

अपनी इन दो प्रवृत्तियोंमें से वह किसको सत्य अथवा शुभ माने। कौन-सा वास्तविक प्रेम है?

समस्या कुछ सुलझती जा रही थी। प्रदीपने मोड़पर जाकर एक सिगरेट खरीदी और धीरे-धीरे चलने लगा। मनका बोझ उतरता जा रहा था।

शरीर और मन, दोनोंकी मांगें सत्य हैं। एकको भी झुठलाया नहीं जा सकता। इतना अवश्य है कि शिक्षित, संस्कृत, चेतनाशील व्यक्तित्वमें मनकी मांग स्थायी बन जाती है। शरीरकी भूख मिटाकर ही ऐसे व्यक्तित्वको तृप्ति नहीं मिलती ; किन्तु मनकी मांग पूरी होती रहे, तो शरीरकी उद्दाम वासना बहुत हद तक ढीली पड़ जाती है।

सुनयना प्रदीपके मनकी मांग पूरी करती थी और रही-सही वासना को भी वह सुनयनाके शरीरसे तृप्त कर सकता था। सच, सुनयना तो उसके समस्त व्यक्तित्वको सार्थक बना सकती थी। तो वह उसकी तरफ भला क्यों न आकर्षित होता? प्रेम यदि समस्त व्यक्तित्वकी मांग और

तृप्तिको लेकर उत्पन्न होता और पनपता है, तो सुनयनासे उसका प्रेम होना अनहोनी बात नहीं। वह सुनयनाको प्रेम करता है, इस बातसे इन्कार नहीं किया जा सकता।

तो क्यों उसने आज इस प्रेमका गला घोंटनेकी कोशिश की? अरुणाकी बातको स्तुति न मानकर व्यंग क्यों मान बैठा? किसलिये उसने उर्मिलाको लेकर भावावेशका ढकोसला खड़ा किया? क्या जरूरत थी उस उथल-पुथलकी, जिसके फलस्वरू उसके भीतर उर्मिलाके प्रति अनन्य प्रेमका उद्भाव न होकर केवल एक नारीदेहके लिये कुत्सित कामना उमड़ चली?

किन्तु वह और क्या करता?

प्रदीपको एक झटका-सा लगा और फिर ठिठककर खड़ा हो गया। समस्या सुलझ कर फिर उलझ गई।

माना कि वह सुनयनासे प्यार करता है; पर क्या वह उसे पा सकेगा? कभी नहीं! वह उसके इतने निकट होकर भी बहुत दूर है। केवल व्यक्तित्वका मेल ही तो मेल नहीं। उन दोनोंके बीच वर्गकी जो भयानक खाई है, उसको कैसे पार किया जा सकेगा। अब तो एक और बाधा भी उत्पन्न हो गई है—उर्मिलाके साथ उसका विवाह। जीवन-भर उसके साथ रहना होगा। सुनयना उसे चाहे भी तो कैसे चाह सकती है।

नहीं, प्रेम करनेका अधिकार प्रदीपको नहीं! यह उसके वर्गसे परे की बात है। वह समाजके उस स्तरमें पैदा हुआ है, जहाँ मनुष्यको शरीरकी भूख-प्यास मिटानेका अवसर ही बड़ी मुश्किलसे मिलता है।

उसके समाजमें केवल नारी देह मिल सकती है, उसके परे कुछ नहीं। तो क्यों वह एक असम्भवके प्रति लालायित है? नहीं, यह सब भूल जाना ही होगा उसे।

वासनामें तारतम्य कैसा? वह अन्ध है, ठोस, रुचिविहीन, शुद्ध भूख, जिसके जोर पकड़ने पर मैनाकी माँ और उर्मिलामें भेद-भाव करना फिजूलकी नकचिढ़ी है।

बराबरके किसी मकानसे घण्टा बजा। ध्यानसे गिनने लगा प्रदीप। एक-दो……दस, ग्यारह। अभी भी समय है। सेकेण्ड शो तो बारह बजे खतम होता है। फगवाके आनेमें अभी भी काफी देर है। क्यों न चलकर फिर चेष्टा की जाए।

बुद्धिके तर्क-वितर्कके नीचे दबकर बहनेवाली वासनाकी पार्थिव धारा उफनकर फिर ऊपर आ गई। प्रदीप लम्बे-लम्बे कदम बढ़ाकर लौट चला। अबकी बार वह कुछ नहीं देखेगा, कुछ नहीं सोचेगा। जिस तरह भी हो, मैनाकी माँके शरीरको हथियाना है।

स्कूलके दरवाजे पर धक्का देकर जाना कि भीतरसे बन्द है। वह तो खुला छोड़ गया था। शायद मैनाकी माँने बन्द कर लिया हो, पीछे-पीछे आकर। कुण्डा पटकते ही सारा मकान भड़भड़ा उठा। प्रदीप रुका नहीं। अनवरत कुण्डा पटकता रहा।

सहसा द्वार खुला। प्रदीपने खोलनेवालेको बिना देखे ही बाहु-पाशमें बाँध लिया। एक पुरुषकी आवाजने उसे सचेत किया।

अरे, यह तो फगवा है।

यदि प्रदीपके पास कुछ होता, तो उसका खून कर डालता। लड़-खड़ा कर वह हटा और एक साँसमें सीढ़ियाँ चढ़ चला। फगवाकी बात उसने न सुनी, न उत्तर दिया।

और सारी रात उसने तकिये पर सिर पटक-पटक कर बिता डाली।

८

सुबह किसी तरह अपनेको संभालकर प्रदीप ताराको पढ़ाने चल दिया। सुनयनाके जोर देनेपर भी वह बिना कारणके वह ट्यूशन नहीं छोड़ सका था। हाँ, प्रमिलाको पढ़ानेके लिये शामका टाइम निकाल लिया था। रातकी दो ट्यूशनें और थीं। इस तरह वह सुबह छः बजे जो उठता था, तो रातके ग्यारह बजे तक साँस नहीं ले पाता था। फिर उसकी कुछ ऐसी आदत तो थी नहीं कि घड़ी देखकर काम करे। रातको जहाँ बैठा, वहीं दो घण्टे लगा दिए। कई दफा तो छात्र लोग याद दिलाते थे कि उसे दूसरी जगह जाना हैं। हाँ, सुबह के वक्त स्कूलसे नहा-धोकर ठीक साढ़े नौ बजे निकल जानेका एक बन्धन ऐसा था, जिसकी अवहेलना वह नहीं कर सका, एक दिन भी।

ताराके पास पहुंचा। वह अच्छी-भली बैठी कुछ लिख-पढ़ रही थी। किन्तु उसको देखते ही मुँह बना लिया। प्रदीपको तो इसका अभ्यास था। बिना ध्यान दिए वह बैठने लगा। किन्तु बीचमें ही तारा बोल उठी—

"आपको पापाजीने बुलाया है।"

प्रदीपका माथा ठनका। कुछ उद्वेगसे बोला—"क्यों क्या बात है?"

"मुझे तो मालूम नहीं। उन्होंने कहा था कि मास्टरजी आएँ तो भेज देना।"

बिना मुँह उठाए, या प्रदीपकी ओर देखे ही वह कह गई।

प्रदीप मुड़कर बराबरके कमरेमें घुस गया। वकील साहब गरम कपड़ोंमें लिपटे, काउचमें सारा शरीर धँसाकर बड़ी निश्चिन्ततासे अखबार पढ़ रहे थे। प्रदीप इतने धीरेसे भीतर गया कि उनका ध्यान ही न डिग सका। तनिक ठहरकर प्रदीप गला साफ़ करते हुए बोला—"मुझे याद किया था आपने?"

वकील साहब ज़रा चेते और एक बार प्रदीपको देखकर, अपने आपको संभाला। ज़रा आगेको झुककर बैठते हुए बोले—"आ गए आप"

शिष्टताके नाते प्रदीपसे बैठने तकको न कहा उन्होंने। प्रदीप चुप रहा किन्तु भीतर ही भीतर उसे रोष आने लगा था।

"आप चुप कैसे हैं, मास्टरजी?"

"बोलिए क्या कहूं?"

"मुझे आपका यह तौर-तरीक़ा ठीक नहीं।"

"हो सकता है।"

"क्या मतलब?"—जैसे क्रोधको दबाते हुए वक़ील साहब बोले।

"मतलब तो आप अपना बताइये!"—दृढ़ताके साथ प्रदीप बोला और वह बराबरसे कुर्सी खींचकर बैठ गया। आज उसने एक मिनटमें

फैसलाकर डाला कि और-और दिनकी तरह गर्दन झुकाकर वह नहीं सुनेगा।

वकील साहबकी आशाके विरुद्ध रुख रहा प्रदीपका। वह कुछ अटके। फिर बोले—

"आप कल क्यों नहीं आए?"

"कल तो बसन्त-पञ्चमी थी, मैं कहीं भी काम पर नहीं गया।"

"देखिए ये रोज़-रोजकी छुट्टियां स्कूल कालेजमें तो चलती है, किन्तु काम-धन्धेमें नहीं।"

"पर बसन्त-पंचमी तो रोज़-रोज़ नहीं आती, साहब!"—प्रदीप असहिष्णु होता जा रहा था। वकील साहब समझ गए कि आज पुराने हथियार काम नहीं दे सकेंगे। कुछ नरम होकर बोले—

"देखिये, मास्टरजी, मेरे कहनेका मतलब यह नहीं है कि आप बसन्त न मनाएँ। किन्तु आपको ताराकी studies का ध्यान रखना चाहिए। उसके इम्तिहान कितने निकट आ गए है, यह तो आपसे छुपा नहीं।"

"यह आपको कैसे महसूस हुआ कि मैं उसकी studies का ध्यान रखता?"—ज़रा और भी अकड़कर बोला प्रदीप।

"मुझे तो कुछ ऐसा ही लगा। शायद मेरी ग़लती हो सकती है। खैर। आप खुद जिम्मेदार हैं।"

प्रदीपने कुछ उत्तर नहीं दिया। यह देखकर उसे कुछ ताज्जुब हो रहा था कि यह आदमी जो साधारणतः इतना कठोर बना रहता है, ऐसा कमज़ोर है।

झुका हुआ सिर ऊपर उठाकर वकील साहब बोले—"अच्छा, जाइए, तारा बैठी आपका इन्तज़ार देख रही है।"

प्रदीप उठकर कमरेके बाहर निकल आया और ताराके कमरेकी ओर न जाकर सहन पार करने लगा। सामने बैठी ताराने देख लिया और चिल्लाई—

"प्रदीपजी !"

वह मुड़कर खड़ा हो गया। बोला कुछ नहीं।

"आप तो चले जा रहे हैं ?"

"हां।"

"पढ़ाएँगे नहीं, आज ?"

"मैं तुमको और न पढ़ा सकूँगा, तारा।"

तारा चौंकी। यह तो एकदम अप्रत्याशित बात थी। सहमकर बोली—

"आप कैसी बातें कर रहे हैं ?"

"ठीक ही कह रहा हूं।"

"आखिर क्या हुआ ? क्या पापाजीने······?"

"असल बात यह है कि और यहां आनेको मेरा जी नहीं चाहता।"

पलक मारते प्रदीप मकानके बाहर हो गया।

आज उसने फैसलाकर लिया था कि लड़कियोंको पढ़ानेका काम वह नहीं करेगा। उसे करना ही नहीं चाहिये। सुनयनाका मकान रास्तेमें पड़ता था। वह इधर देखे बिना ही आगे निकल गया। किन्तु दो क़दम ही गया था कि पीछेसे किसीने पुकारा—"प्रदीप बाबू !"

वह ठिठका और मुड़कर देखा कि सुनयनाका नौकर उधर आ रहा है।

"बीबीजी आपको बुला रही हैं!"

"मैं नहीं आ सकता। मुझे बहुत जरूरी काम है। समझे, सुनयना से कह देना।"

"पर बाबू, वे ऊपर छज्जे पर खड़ी देख रही हैं। कहती हैं कि आपसे दो बातें करनी हैं, एक मिनटसे ज्यादा समय नहीं लगेगा।"

प्रदीपने ऊपर आँख उठाकर देखा। वास्तवमें सुनयना छज्जे पर खड़ी उधर ही देख रही थी। आँखें चार हुईं और प्रदीपका निश्चय मिट्टीमें मिल गया। हारा-सा वह सिर झुकाकर नौकरके पीछे-पीछे हो लिया।

भीतर घुसकर उसने देखा कि सुनयना एक गम्भीर मुख-मुद्रा धारण किए जीनेसे उतर रही है। वह सहनमें ही खड़ा हो गया। सोचा कि यहीं दो बात कर ली जाएगी।

नीचे आकर सुनयना एकटक उसके पास खड़ी हुई और अत्यन्त मधुर आवाजमें बोलीं—

"भीतर चलिये ना, खड़े क्यों रह गये?"

"मुझे जल्दी है, सुनयना!"

"पर, मैं तो एक मिनट भी आपको नहीं रोकूँगी। आइये, भीतर आइये!"—कहती-कहती सुनयना अपने कमरेकी ओर बढ़ गई। हताश-सा प्रदीप भी उसके पीछे-पीछे हो लिया। सुनयनाके पलङ्ग पर

बैठते ही प्रदीपने जरा ध्यानसे उसे देखा। चेहरा उतरा हुआ था। वह कुछ थकी-सी आवाजमें बोली—

"आज तारा नहीं पढ़ी क्या ? आप बड़ी जल्दी चले आये !"

"नहीं, वह नहीं पढ़ी।"

"क्यों, क्या कुछ तबियत खराब है ?"

"बात यह है कि मैंने उसको पढ़ानेसे इन्कार कर दिया।"

"अच्छा !"—सुनयना तनिक मुस्करा उठी।"

"और क्या, रोजकी झक-झकसे आदमी तंग आ जाता है। मैं कोई उनका बर्तन माँजनेवाला तो हूँ नहीं कि एक दिन नागा होते ही सुननी पड़े ? मैं भी इन्सान हूँ।"

"तो क्या बर्तन माँजनेवाले इन्सान नहीं होते ?"—सुनयनाने व्यंग-भरे स्वरमें पूछा।

प्रदीप अटका। एक बार सुनयनाका मुँह ताककर गर्दन झुका ली। फिर बोला—

"नही, वह बात नहीं ! मेरा मतलब कामका फरक तो मानना ही पड़ेगा न ! फिर वकील साहब कैसे समझें कि मैं क्या कर रहा हूँ ? उनको तो टांग अड़ानी ही नहीं चाहिये थी।"

सुनयनाने चुपचाप सब सुन लिया। कुछ बोली नहीं। प्रदीपने पूछा—

"तुम्हारी तबियत खराब है क्या, सुनी !"

"हाँ, ठीक तो नहीं है।"

"क्या बात है ?"—अत्यन्त सहानुभूतिके स्वरमें बोला प्रदीप।

"ऐसे ही कुछ सिर भारी है।"

सहसा प्रदीप आगे बढ़ा और तकिये पर पड़ी सुनयनाकी कलाईकी ओर अपना हाथ बढ़ा दिया। किन्तु चमक कर सुनयनाने हाथ खींच लिया। प्रदीपको मानो किसीने चाबुक मार दिया हो। खिसियाकर बराबरमें रखी कुर्सी पर बैठ गया। वातावरण भयानक रूपसे बोझिल हो उठा। आँख उठाकर उसने सुनयनाकी ओर देखा। उसके समस्त मुख पर लाली-सी दौड़ गई थी।

प्रदीपको घोर पश्चात्ताप हो रहा था। बिना सोचे वह कितनी भारी भूल कर बैठा। उसने तो सिर्फ यह देखना चाहा था कि सुनयनाको ज्वर तो नहीं है। किन्तु यह वह नहीं सोच पाया कि हाथ पकड़कर ताप देखनेका अधिकार सबको नहीं होता।

स्थिति पर काबू किया सुनयनाने।

"भाभीजीका पत्र मिला आपको?"

"किसका?"—बौखला कर बोला प्रदीप।

"उर्मिलाका।"

"वह भला पत्र क्यों लिखने लगी?"

"क्यों, आप कोई गैर हैं, जो पत्र लिखनेमें असमँजस हो?"

"नहीं, सो बात नहीं। हमलोगोंका समाज ऐसा ही है। हृदयकी अनेकों भावनाओंको दबाकर रखना पड़ता है, सुनी!"—स्थिरता प्राप्त करता हुआ प्रदीप बोला।

"किन्तु आप तो उन सब बन्धनोंमें विश्वास नहीं रखते!"

"मैं तो नहीं रखता ; पर उर्मिलाकी और बात है। वह तो उसी पुराने वातावरणमें पली-पनपी है। वह मुझे पत्र लिखनेका साहस नहीं कर सकती।"

"वह साहस आपको सिखाना होगा।"

"सो दूरकी बात है। किसी दिन हमलोग साथ-साथ रह पाएँ और एक-दूसरेको सुनने-समझनेकी कोशिश करें, तब। अभी तो······अभी तो निश्चित रूपसे यह भी नहीं कहा जा सकता कि हमलोगोंका मेल भी खाएगा कि नहीं।"

"मेल न खानेकी क्या बात है?"

"बहुत-सी बातें होती हैं, जिनके·········।"

"मैं भी तो सुनूँ।"

"यही मतामत और दृष्टिकोणका मिलना न मिलना।"

"जैसे।"

"मान लो······तुम जानती हो कि मैं अधिकतर बुद्धि-जीवी हूं। किसी विषयमें भी भावनाकी संकुचित प्रवृत्ति मुझे पसन्द नहीं। उर्मिला ने इतना सोचा-समझा नहीं। उसके बहुतसे विश्वास केवल संस्कार-जन्य होंगे और वे संस्कार जिस समाजसे उसने पाए हैं, उसके नैतिक अथवा अन्य मूल्योंमें मुझे तनिक भी आस्था नहीं।"

सुनयना चुप रही। प्रदीप जरा रुककर कहने लगा—

"बहुत बार सोचा करता हूं कि भावनाके एक दौरमें मैंने उर्मिलासे अपना जीवन बाँध लिया ; किन्तु जीवन-पथपर हम यदि एक आशा, एक विश्वास लेकर साथ-साथ न चल पाए तो?"

"तो क्या होगा ?"

"बड़ी भयानक Tragedy हो जायगी, सुनी !"

"और उसे घटानेका समस्त उत्तरदायित्व रहेगा आपके सिर, यह आप मत भूल जाइये।"—बातको शेष कर डालनेवाले स्वरमें सुनयना बोली।

"क्यों ?"—प्रदीपने पूछा।

"इसलिये कि आपका अहङ्कार आपको संसारके अन्य मनुष्योंका व्यक्तित्त्व समझनेकी इजाज़त नहीं देता। आप सोचते हैं कि केवल आपके विश्वास और आपके मतामत ही सार्थक हैं, शेष सब मिथ्या, सब भूल।"

"तुम्हारी बात मैं समझा नहीं, सुनी ?"

"समझेंगे कैसे ? दूसरोंकी समझके प्रति आपको श्रद्धा हो, तब तो ? क्या आपको स्वप्नमें भी कभी गुमान हुआ है कि आप कितने संकुचित हैं, कैसे कूप-मण्डूक ?"

"यह तो गालीकी बात हुई।"

"हाँ, आपके मिथ्या अभिमानको ठेस पहुँचानेकी बात गालीके सिवाय और हो ही क्या सकती है। पर यह याद रखिये कि संसार केवल आपको लेकर ही नहीं है। यहाँ और भी कितने ही मनुष्य बसते हैं और उन सबको सत्य-असत्य, शुभ-अशुभ पर आपके जितना ही अधिकार है।"

"मैं तो कभी नहीं कहता कि मुझको लेकर ही संसार चलता है और केवल मेरे ही मतामतका मोल है।"

"पुकार-पुकार कर नहीं कहते तो क्या, आपकी विचार-धाराका एक-एक अंश बता रहा है कि आप कितने आत्म-पोषक हैं। दूरकी बातोंको जाने दीजिए। आप उर्मिलाको सदा अपने माप-दण्डसे आँकते रहते हैं और वह सदा ओछी उतरती है। क्या कभी आपने उसके माप-दण्डसे अपने-आपको आँककर देखा है ? कभी नहीं। एक बार चेष्टा कर देखिए, तो पता चलेगा कि आप स्वयं कितने ओछे हैं।"

"तुम्हारी बात मैं मानता हूँ, सुनी ! फिर भी, यहाँ यह तर्क लागू नहीं होता। (जीवन-पथपर दो यात्री दोहरे माप-दण्ड लेकर अधिक दूर तक एक-दूसरेका साथ नहीं निभा सकते।"

"निभा सकते हैं और निभाते हैं। आवश्यकता है बुद्धि-विनिर्मित अथवा संस्कार-जन्य माप-दण्डोंका अतिक्रमण करके हृदयकी उस अमर, अखण्ड भावना तक पहुँचनेकी जहाँ असहिष्णुताकी कीच धुल-पुछ कर दूर हो जाती है। आप समझेंगे कैसे ? आपने तो कभी किसीसे प्रेम किया नहीं !"

प्रदीप कुछ न कह सका। उर्मिलासे वह प्रेम नहीं करता, यह तो उसने रातको ही समझ लिया था। यह कहनेका साहस उसे न जुट सका कि उसके सामने बैठी जो नारी उसको प्रेम-शून्य ठहरा रही है, ठीक उसीके लिये प्रदीपके हृदयमें मधुर भावनाका कैसा अपरिमेय कोष संचित है। वह सिर झुकाये बैठा रहा।

"जाइये, प्रदीप बाबू, आपको देर हो रही है।"—पलङ्ग पर तनिक लेटकर धीरे-से बोली सुनयना। "कल मुझे Economics में

quantity theory of money और Logic में Fallacies पढ़नी हैं, तनिक ध्यान रहे।"

अचानक प्रदीपको ध्यान आया कि वह तो सुनयनाकी ट्यूशन छोड़ देनेका निश्चय कर चुका था। कुछ सोचकर सिर नीचा किये हुए बोला—

"लेकिन, मैं तुमको और नहीं पढ़ा सकूँगा। तुम और कोई इन्तजाम कर लो, सुनी !"

"यह तो एकतरफा फैसलेकी बात हुई। और इन कामोंमें एकतरफा फ़ैसले चलते नहीं।"

"मैं सोचता हूं कि······।"

"ख्याल रखिये कि मेरी तबियत खराब है। आपकी अनावश्यक, अनधिकार कठोरतासे मुझे चोट ही पहुँचेगी। कल तकका समय मुझे और दीजिये। सोचकर देख लूँगी कि कौन-से कसूरको लेकर आप मुझे यह दण्ड दे रहे हैं।"

प्रदीपसे जवाब नहीं बन पड़ा। उर्मिलाका पक्ष लेकर सुनयना निजको प्रदीपकी भावना-परिधिसे जो दूर खींच ले गई थी, सो एक ही छलांगमें वापिस आ गई। उसे धकेलकर बाहर कर डालना प्रदीपके बस के बाहर रहा। वह उठ खड़ा हुआ और बोला—

"अब तो मैं······हाँ, कल कुछ वक्तसे आऊँगा। ताराके यहाँ तो जाना है ही नहीं। तुम्हें कुछ और समय······।"

"नहीं, ठीक इसी वक्त आइए। प्रमिलाको सुबह पढ़ाना शुरू कर दीजिये। रातको तीन-तीन ट्यूशन आपसे नहीं निभेंगी।"—बड़े सहानुभूतिके स्वरमें सुनयनाने कहा।

प्रदीपकी छातीमें आँसू उमड़ चले। कितना अभागा है वह ; किन्तु फिर भी इस लड़कीकी ममता-मायाका किनारा नहीं।

"हो सके तो मुझे उर्मिला भाभीका पता लिख दीजिये। मैं एक पत्र लिखूँगी उनको। जता दूँगी कि अगर जल्दी ही उन्होंने अपने साँवरियाको नहीं सम्भाला, तो वे पागल हो पड़ेंगे।"—कहते-कहते सुनयना हँसने लगी।

प्रदीपको साफ अनुभव हुआ कि सुनयना उसके पास रहकर भी उससे दूर हटती जा रही है। एक वेदनामय नजर उस अमूल्य वैभव पर डालकर वह जल्दी-जल्दी कमरेके बाहर हो गया।

९

जोई दस दिन पीछे प्रदीप अपने अन्य सहपाठियोंके साथ प्रो॰ किशोरके घर गया। हिस्ट्रीमें प्रो॰ रामसिंहके बाद इनका स्थान था। एक ऊँचे घरानेमें जन्म लेकर इन्होंने जीवनकी सब रंगीनियाँ देखी थीं। तीन साल इङ्गलैंडमें भी बिताए थे ; किन्तु वैभव के बीच रहते भी यह देखा जाता था कि इनका मन संन्यासीका है। कालेजमें चर्चा थी कि जिस लड़कीसे ये अनन्य प्रेम करते थे, उसने इनको दुतकार कर किसी अन्यसे विवाह कर लिया ; किन्तु भीतर की बात शायद ही कोई जानता हो ; क्योंकि अपने बारेमें ज़बान खोलना

प्रोफेसर साहबकी आदतके बाहरकी बात थी। प्रदीपको बड़ा आश्चर्य होता था—और एक तीव्र कौतूहल, उस लड़कीको देखनेके लिये, जो ऐसे सुन्दर व्यक्तित्वकी अवहेलना कर सकी। लड़कीमें कुछ रहा होगा अवश्य, अन्यथा प्रोफेसर साहब क्योंकर उससे इतना गाढ़ा प्रेम कर पाते। किन्तु नारी-हृदयको समझनेका उसका प्रयत्न सदा बेकार रहा था। साधारणतः भारतमें स्त्रियोंके प्रति एक अश्रद्धाका वातावरण रहता है, जिसमें रह कर पुरुषोंका यह विश्वास बन जाता है कि स्त्रियाँ सदा नीचेकी ओर जाती हैं, ऊपर उठनेकी प्रेरणा मिलने पर भी। प्रोफेसर साहबकी कहानी सुनकर शायद वह यह बात मान लेता; किन्तु उसने सुनयनाको जो देखा था। इसीलिए वह बहुत बार सोचा करता कि उस बालाने प्रो० किशोरको छोड़ जो किसी औरको अपना संगी बनाया, वह इसलिये भी तो हो सकता है कि वह दूसरा पुरुष और भी महान् हो।

प्रोफेसर साहबके यहाँ इकट्ठी हुई मण्डलीमें हिस्ट्रीकी M. A. Previous के सभी छात्र थे। ज्योत्स्ना गांगुली और सुशीला खन्ना भी खूब गरम-कपड़ोंमें लिपटी अलगसे बैठी थीं। उन्हींको देखकर प्रदीप को पहले-पहल ध्यान आया कि आसमान पर बादल छा जानेके कारण शीत कुछ विशेष थी। दोपहर बाद तीन बजेका समय था, इतवारका दिन। सब लोग बैठे इस इन्तजारमें थे कि प्रोफेसर साहब भीतरसे निकलकर आएँ, तो चर्चा आरम्भ हो। आज पाकिस्तानको लेकर सबको अपना मतामत प्रगट करना था और प्रदीपके अतिरिक्त सबके हाथोंमें थमी किताब-कापियाँ स्पष्ट जता रही थीं कि सब लोग खूब तैयार होकर आए हैं। विषय भी तो कितने महत्त्वका था।

पिछले अगस्तके विद्रोहके बाद देशके सभी राजनैतिक रण-बाँकुरे जेलोंमें पड़े थे। ब्रिटिश साम्राज्यवादके कुशल सारथियोंने समस्त संसार के सन्मुख यह साबित कर दिखाया था कि ये लोग जापानसे मिलकर गण-तन्त्र और आजादीकी शक्तियोंको पराजित करनेकी चेष्टामें केवल इसीलिये विफल रहे कि ब्रिटेन अपने उत्तरदायित्वके प्रति जागरूक था। अन्यथा तो इन भारतीय फासिस्टोंका आवाहन पाकर देशके द्वार पर खड़ा शत्रु भीतर चला आता और उसके बाद—उसके बाद तो सब शेष हो जाता। चर्चिल, एमरी और लिनलिथगोके इस तर्क और प्रोपगेण्डामें भारतीय कम्युनिस्टोंने भी अपना स्वर मिला दिया। सचमुच ही संसारके प्रगति-वादी लोगोंपर इस भयानक प्रचारका प्रभाव पड़ने लगा था।

और घरके भीतर? यहां तो जिन्ना साहब और उनके लीगी-काफिलेका बोलबाला था। "भारत छोड़ो" प्रस्तावको उन्होंने मुस्लिम राष्ट्रकी जागती हुई सामूहिक-चेतना पर हिन्दू-कांग्रेसका प्रहार ठहराकर, खुदाका शुक्र मनाया था कि सवर्ण-हिन्दू फासिस्टोंका प्रयत्न बेकार गया और उनके करालपाशमें पड़ते-पड़ते उनके दस करोड़ मुसलमान बाल-बाल बच गए। भारतीय कम्युनिस्टोंने इस बातका भी समर्थन किया और लीगके प्रति घृणासे ओत-प्रोत अपना पहला स्वर बदलकर, अचानक फैसला दे डाला कि पाकिस्तानकी मांग मुस्लिम-जनताकी बढ़ती हुई स्वातन्त्र्य-चेतनाका प्रतीक।

प्रदीपको कम्यूनिज्ममें विशेष आस्था थी। इन सब बातों पर उसने खूब सोचा था। किन्तु एक दिन भी ब्रिटिश-दमन और पाकिस्तानकी मांगका समर्थन वह नहीं कर पाया। उसे रोज़ यही लगा कि भारतीय

कम्युनिस्टोंका यह अजीब रवैया केवल सोवियत्-राष्ट्रकी अन्ध-भक्तिका फल मात्र है। न जाने वे लोग क्यों यह बात समझनेसे इन्कार करते हैं कि सोवियत्-राष्ट्रको अपनी आज़ादी अक्षुण्ण रखनेका जितना अधिकार है, उतना ही दावा भारतको अपनी आज़ादी हासिल करनेका भी तो होना चाहिए? किन्तु साथ ही साथ उसे राष्ट्रीय-नेताओं पर भी क्रोध आता था। वे लोग भी जेलमें जाने तक यही रट लगाते रहे कि अँग्रेज, अमेरिका और रूस संसारकी आज़ादीके लिये जर्मन और जापानी फ़ासिस्ट-वादसे लोहा ले रहे हैं और उनका यह सामर्थ्य स्तुत्य है। उन्होंने एक दिन भी सोचकर नहीं देखा कि गुलाम देशके लिये संसारकी आज़ादीके विषयमें औत्सुक्य दिखानेसे बढ़कर दूसरा भुलावा नहीं। एक सुभाष बोसने यह बात खुले शब्दोंमें मानी थी और उसीका आज पता नहीं।

अगस्तकी असफल क्रान्तिके बाद देशमें जो-जो हुआ वह सब प्रदीप ने देखा था, सुना था। उसे कम्युनिस्टोंसे एक भारी घृणा-सी होती थी। क्या लेकर ये लोग क्रान्तिवादी बने फिरते हैं? चर्चिल और जिन्नाके प्रचारकी पुष्टि करनेवाले क्या और सब मर गए थे, जो इन स्टालिनके सुपुत्रोंको यह काम संभालना पड़ा? उसकी भावनाका बाँध नहीं रुक पाता था और साधारणतः उसका गहनसे गहन विचार भी उस प्रवाह में बिखरकर विलीन होता रहता था। एक दिन एक पुराने कम्युनिस्ट दोस्तने उससे कह भी दिया था—

"अप्रिय लगनेवाली समस्त बातें असत्य और अशुभ होती हैं—इस विचारधाराको छोड़नेकी कोशिश कर देखो। बहुत-सी बातें तुम्हारी समझमें आने लगेंगी।"

उस दिन प्रदीप केवल मुस्करा भर दिया था। आज भी यदि ऐसा तर्क किसीने किया, तो वाद-विवाद न करके वह मुस्करा देगा।

प्रोफेसर साहब भीतरसे निकले और सब लोग बातचीत छोड़कर खड़े हो गए। मुस्कराकर वे बोले—

"अरे भाई यह कालेज नहीं, मेरा घर है, घर। यहां इस रूढ़िगत शिष्टाचारके कोई मायने नहीं !"

उत्तर दिया ज्योत्स्नाने—

"मायने तो वहाँ भी नहीं, किन्तु मायने लेकर तो सब कुछ किया नहीं जाता, प्रोफेसर साहब !"

प्रदीप ज्योत्स्नाकी ओर देखकर बोला—

"इसीलिए तो मानव-समाज मनुष्योचित जीवन न बिताकर पशुओंसे भी गया बीता हो चला है, मिस गांगुली ! अन्यथा हम लोग विकासके स्तर पर स्तर पार करते न जाने आज कहां पहुंच गए होते।"

"वह सब बोझ आप स्वयं न ढोकर, संसारका जो नियन्ता है, उसीके कंधों पर छोड़ दें तो अच्छा रहेगा, प्रोदीप बाबू, आपके निजके लिए भी और संसारके लिये भी।"—ज्योत्स्ना फूलकी तरह प्रदीपकी बात उड़ाती बोली।

प्रदीपको अचानक हँसी आ गई। कैसी बचपनकी बात थी। संसार का नियन्ता ! एकदम उस ज़मानेका विश्वास जब कि आदमी जंगलोंमें आवारा घूमा करता। प्रदीप भला ऐसी बातका क्या उत्तर देता। किन्तु उसकी हँसीसे ज्योत्स्ना तमतमा उठी। भड़क कर बोली—

दो मिनट पहले जो ज्योत्स्ना दीपको बच्चा-सी लग रही थी, वही उसकी आँखोंमें यौवनसे छलछला उठी। असाधारण सुन्दरी तो वह थी ही। इस पर कलाकी इतनी ज़बरदस्त साधना। उसके भीतर कोई कहने लगा कि अपने बुद्धिके मापदण्डसे मिस गांगुलीको मापकर वह भूल कर बैठा। जो लड़की सितारके तारोंसे इतना वेदनाशील माधुर्य बहा सकती है, उसका अवश्य ही जीवनसे गहरा सानिध्य रहा होगा। उसके विश्वासोंकी भी कुछ क़ीमत है। उसके दृष्टिकोणसे सहमत भले ही न हुआ जा सके, किन्तु उसका आदर तो निश्चय ही किया जाना चाहिये।

सितार रुकी और एक मौन नज़रसे ज्योत्स्नाने सारी मण्डलीको देखा। प्रदीपके ऊपर उसकी आँखें पहुँचते ही वह मुस्करा दिया। और ज्योत्स्ना भी मुस्कराए बिना न रह सकी। उनके बीच जैसे तनातनी रही ही न हो।

उसके बाद बारी-बारीसे सब लोगोंने पेपर पढ़ने शुरू किए। कुल मिलाकर छः लड़के और दो लड़कियाँ थीं। इज़हारके अतिरिक्त सब हिन्दू। कम्युनिस्ट कोई नहीं था, इसलिए पाकिस्तानका समर्थन करनेका बोझ अकेले इज़हार पर पड़ा। खण्डन तो बाकी सब कर गए। प्रदीप चुप रहा।

इज़हारकी दलीलें वही मुस्लिम लीग की दलीलें थीं। उनका जवाब दिया, किसीने हिन्दू-दृष्टिकोणसे, किसीने कॉंग्रेस दृष्टिकोणसे। प्रोफेसर साहब सब सुन रहे थे। पेपर खतम होनेपर उन्होंने कहा—

"उत्तरदायित्व हमेशा मण्डन करनेवालेके सिर रहा करता है। खण्डन तो सब कर सकते हैं और सब बातोंका। वह कोई विशेष बात

नहीं। इसलिये मैं चाहता हूँ कि आप लोग मि० इज़हारको पाकिस्तान बनानेका अधिकार देकर विवादको केवल यहीं तक सीमित रक्खें कि ऐसे सिस्टमको बनाने अथवा स्थिर रखनेमें क्या-क्या क्रियात्मक अड़चनें आयेंगी? फिर मि० इज़हारको उत्तर देने दीजिये कि उन अड़चनोंको कैसे दूर किया जा सकता है?"

सब लोग सहमत हो गए। किन्तु रामकुमारने बड़े ज़ोरसे गर्दन हिलाई और बोला—

"किन्तु एक बार पाकिस्तान बनानेका अधिकार आप यदि दे देते हैं, तो कोई प्रश्न ही शेष नहीं रह जाता। यह कैसे हो सकता है?"

"किन्तु अधिकार आपसे मांगता कौन है? वह तो हमारा जन्म-सिद्ध दावा है। उसको आप रोक सकते हैं, कुछ दिनके लिए, किन्तु आरम्भसे उसकी भीख देना तो आपके बसकी बात नहीं, भाई!"—अत्यन्त नम्र किन्तु ज़ोरदार स्वरमें इज़हार कह चला।

रामकुमारके कुछ बोलनेसे पहले ही ज्योत्स्ना बोल उठी—

"देखो, भाई इज़हार, मैं तुमसे एक सीधा-सा सवाल पूछती हूं। दो मिनटके लिए भूल जाओ कि हम किसी वाद-विवादमें पड़े हैं। सवाल है सिर्फ मनुष्योचित सहवासका, सहानुभूतिका। यदि धर्मको लेकर ही सब कुछ चला करता, तो आज अरब और मिस्रके मुसलमान हम तुम्हारे सहपाठियोंकी अपेक्षा तुम्हारे अधिक निकट होने चाहिये? क्या मानते हो यह बात?"

एक पल इज़हार असमंजसमें पड़ा। किन्तु तुरन्त ही उसका तर्क उसे खींच ले चला और वह बोला—

"मानता हूं। प्रत्येक मुसलमान दूसरे धर्मावलम्बियोंकी अपेक्षा मेरे निकटतर है। फिर चाहे वह अरबका हो, चीनका हो, अथवा स्पेनका।"

"सीने पर हाथ रखकर कह सकोगे?"—ज्योत्स्नाने पूछा।

इज़हार मुस्कराया, पर उसके कुछ बोलनेसे पहले ही रामकुमार भड़क कर बोला—

"तब तो तुम सबको हिन्दुस्तान छोड़कर बाहर निकल जाना चाहिए?"

सब लोग हँस पड़े। केवल रामकुमार गम्भीर बना रहा। उसे महसूस ही नहीं हुआ कि उसकी बात उपहासास्पद थी।

प्रदीपकी ओर देखकर प्रोफेसर साहब बोले—"तुम कैसे चुप हो, भाई। न तो तुम कुछ लिखकर लाए और न ही बोल रहे हो? यह तो नहीं माना जा सकता कि तुमने इस विषयमें कुछ सोचा नहीं? बोलो।"

अलसाई आंखोंसे एकटक मुस्कराया प्रदीप। अपनी कुर्सीमें लेटकर बैठा था वह। एकबारगी उदासीन। ज़रा संभलकर बैठा और कहने लगा—

"मुझे तो मिस गांगुलीकी सितार सुननेके बाद यह सब अत्यन्त मिथ्या लग रहा है। जी ही नहीं करता कि इस व्यर्थके झगड़ेको प्रोत्साहन दिया जाय। संगीत और कला जैसी सुन्दर और समूची साधनाओंके रहते क्यों मनुष्य राजनैतिक धांधलीमें पड़ता है, मैं तो इतनी देरसे यही समझनेकी कोशिश कर रहा हूं?"

"यह कोशिश भी आप छोड़ दीजिये, प्रोदीप बाबू, आप समझ नहीं सकेंगे। आपका सोचनेका सारा ढङ्ग ही ग़लत है। फिर क्यों बुद्धि की कसरत किया करते हैं?"

ज्योत्स्ना बोली और उत्तर पानेकी आशासे प्रदीपकी ओर देखने लगी। वह चुप रहा, उदासीनताके कारण नहीं, ज्योत्स्नाकी बातको फिर कोरा बचपन समझकर भी नहीं। वह चाह रहा था कि ज्योत्स्ना अधिक खोलकर अपनी बात कहे। उसके मुखपर उत्सुकता फूट उठी। ज्योत्स्ना जैसे समझ गई और बोली—

"आप न तो समूचे मानवको ही दृष्टिगोचर कर पाते हैं और न समझ पाते हैं मनुष्य पर उसकी परिस्थितियोंका पूर्ण बन्धन। आप सोचते हैं कि मनुष्यके कुछ काम ठीक हैं, कुछ ग़लत और ग़लतको लेकर अफ़सोस करने बैठ जाते हैं। जिस दिन आप यह समझ लेंगे कि ठीक या ग़लत रास्ता आपके दिमाग़में रहनेवाले अमूर्त इन्सानका नहीं, बल्कि आपके सिरके बाहर, आप ही की तरह, ठोस परिस्थितियोंमें रहनेवाले हाड़-मांसके इन्सानका है, उस दिन आपका तर्क सिरके बल न खड़ा रहकर, पैरों पर टिक जाएगा। उस दिन आप आंख पसार कर देखिये, प्रोदीप बाबू।"

सब लोग ज्योत्स्नाकी ओर देख रहे थे, किन्तु वह तनिक भी नहीं झिझकी। एक सांस लेकर फिर कह चली—

"आप समझते हैं कि संगीत इत्यादि सुन्दर और मनोहारी कामोंको छोड़कर मनुष्य जो राजनीति इत्यादिमें सिर खपाता है सो उसकी भूल है। ज़रा आंखों परसे माधुर्यका परदा उठाकर निहारिये तो। संगीत

और ललित कलाएँ जिस आधार पर टिकी हैं, वह है राज-समाजका व्यवस्थापक गठबन्धन। वह यदि न रहे तो ये आपकी सारी साधनाएँ मिट्टी में मिल जाएँ। फिर भला आप क्योंकर कह देंगे कि राजनीति केवल भ्रान्त मानवका पेशा है?"

ज्योत्स्ना चुप हो गई। प्रदीप कुछ नहीं बोल सका। लड़कीकी बातमें तथ्य था और केवल वाग्युद्धके लिए उसमें सामर्थ्य ही नहीं रह गई थी। एक क्षण सन्नाटा छा गया।

इज़हारने प्रोफेसर साहबकी ओर देखकर कहा—

"अब आप अपना मत प्रकाशित कीजिये, मि० किशोर!"

प्रोफेसर साहबने गर्दन हिला दी। बोले—

"मैं तो इतना कह देता हूँ कि आजकी बहसमें जितनी युक्तियाँ और प्रत्युक्तियाँ थीं, सब पुरानी रहीं। जब कि जरूरत है, एक नए सिरेसे सोचने की। विचारकी भी लाइनें बन जाती हैं और तर्ककी रेलवे ट्रेन उनको छोड़कर आसानीसे इधर-उधर नहीं जा पाती। पर अब यह सब समाप्त होना चाहिये। नसीर चाय लिये आ रहा है।"

सबने देखा। वास्तवमें मि० किशोरका नौकर एक बड़ी-सी ट्रे में चाय इत्यादिका सामान लेकर उधर आ रहा था। छात्रोंमें से खड़े होकर एक दोने उसको लगानेमें नसीरकी मदद की। ज्योत्स्ना प्लेटोंमें खानेकी चीजें सजाकर सबको देने लगी। इजहारकी ओर प्लेट बढ़ाते हुए हँसकर बोली—

"संभलकर खाना भैया! हिन्दूके हाथका निगलकर कहीं भ्रष्ट न हो जाओ।"

"यह सब छूत-छातका टण्टा तो तुम हिन्दुओंके हिस्से आया है, मिस गांगुली ! हम मुसलमानोंको ये सब बलाएँ नहीं।"

"जिस हिन्दूको लेकर आप मुस्लिम-लीगी सोचा करते हैं, वह मर चुका। आजके हिन्दूको देखेंगे तो आपके बहुतसे तीर बेकार जाएँगे। भय खानेके और भय दिखानेके भी।"—कहते-कहते ज्योत्स्नाने दूसरी प्लेट रामकुमारकी ओर बढ़ा दी। वह सिर हिलाकर बोला—

"मैं मुसलमानका छुआ नहीं खाता। माफ़ कीजिये।"—उसके स्वरमें क्रूरता भरी थी।

"मैं तो मुसलमान नहीं हूं, भाई!"—बच्चेको जैसे बहलाते हैं, ठीक उसी भावसे ज्योत्स्ना बोली।

"लेकिन इस सामानको यहाँ लानेवाला तो मुसलमान है।"—कहते हुए रामकुमारने कोनेमें खड़े नसीरको देखा।

ज्योत्स्ना समझ गई। हँसीके मारे उसकी छाती फूल उठी। बोली—

"नसीर भाई, जाओ ज़रा नहा-धोकर रामनामी ओढ़ लो। यह तुर्की टोपी उतारकर न हो तो चाक और गेरूकी मददसे एक त्रिपुण्ड लगाते आना। फिर इन पण्डितजीको कोई आना-कानी न होगी।"—और गर्दन घुमाकर रामकुमारको देखा—"क्यों रामकुमारजी, ठीक रहेगी न यह व्यवस्था ?"

सब लोग ठहाका मारकर हँस पड़े। नसीर भी मुस्कराने लगा; किन्तु रामकुमारके जलेपर नमक पड़ गया। तमककर बोला—

"आप मेरा मजाक उड़ा रही हैं, मिस गांगुली ! यह मुझे बिल्कुल पसन्द नहीं।"

"मजाक मैं आपका नहीं उड़ा रहीं हूँ, भाई! आपके अन्ध संस्कारों का उड़ा रही हूं।"—तैशमें आकर ज्योत्स्नासे हाथकी प्लेट वापिस मेजपर रख दी और अपने स्थानमें आकर बैठ गई। वातावरणमें एक रुद्ध आवेग-सा भर चला। प्रोफेसर साहबने चायका प्याला छूकर कहा—

"कोई चाय पीनेकी होड़ लगायेगा?"

"मैं।"—दूसरा प्याला उठाकर प्रदीप बोला।

"कितने पी सकते हो?"

"ज्यादा नहीं, यही तीस-बत्तीस।"

"अरे बाप रे!"—ज्योत्स्ना चहक उठी।

"नहीं भाई, मेरी हिम्मत नहीं होती। तुम जवान आदमी हो। न-जाने कहाँ पहुँचकर साँस लो। झूठ-मूठकी हार खाकर अपना बुढ़ापा साबित करनेसे क्या फायदा।"—प्रोफेसर साहब बोले और साथ-साथ उनके मुखपर न-जाने कैसी वेदनाकी छाया पड़ चली; किन्तु किसीने उधर ध्यान नहीं दिया।

करीब आध घण्टे और दंगल जमा रहा। खाने-पीने और गप-शप में ही बाकी समय बीत गया। खाली एक रामकुमार मुँह बनाए बैठा रहा। किसीने एक आँख उठाकर उसकी ओर देखा तक नहीं, केवल प्रोफेसर किशोरने सबसे बिदा लेते समय उसके कंधे पर हाथ रखकर अत्यन्त प्यार भरे स्वरमें कहा—

"आजका मैदान तुम मार चले रामकुमार! भविष्य तुम्हारा है, कम-से-कम इस ऋषि-भूमिमें अवश्य।"

१०

नौ मार्च सन् तितालीसका दिन था। सन् बियालीसकी अगस्त में इसी दिन अचानक देशके सारे नेता गिरफ्तार हुए थे। तबसे नौ तारीखके दिन छात्रोंमें कुछ हो-हल्ला मचानेका रिवाज़ चल निकला था। सुबहकी प्रार्थनाके बाद सब लड़के-लड़कियाँ क्लासोंमें जाते, फिर अचानक किसी ओरसे "इन्क़लाब ज़िन्दाबाद" का नारा लगता और एक खलबली-सी मच जाती। कालेजके लानमें भीड़ बढ़ती, एक-दो मनचले छात्र-छात्राएँ कोई देश-भक्तिकी तान छेड़ते और सारी भीड़ गला फाड़-फाड़कर उनके साथ गाती। इतनी देरमें प्रोफेसरोंको साथ लेकर प्रिंसिपल साहब पहुँच जाते; लीडर लोगोंमेंसे दो-चार आगे निकलकर उनसे तू-तू, मैं-मैं, कर लेते। किन्तु शीघ्र ही प्रिंसिपल और प्रोफेसर लोग मिलकर छात्रोंको पशुओंकी तरह इधर-उधर हांक ले चलते। स्थिति शान्त हो जाती। हाँ छात्र लोग छुट्टी अवश्य मना लेते थे।

किन्तु अबकी बार मामला ज़रा टेढ़ा हो चला। प्रातःकालसे वातावरण शान्त था। परीक्षा निकट आ जानेके कारण अधिकतर छात्रों को पढ़ने-लिखनेकी फ़िक्र सवार थी। प्रोफेसर लोगोंको मन ही मन आश्चर्य होने लगा था कि दो घण्टियां बज जाने पर भी लड़कोंने उत्तेजना नहीं प्रकट की। किन्तु तीसरी घण्टी बजने नहीं पाई थी कि वातावरण

में नियमित परिवर्तन घटित हो गया। स्थितिको बदल डालनेका श्रेय या दोष अबकी बार कालेजके छात्रोंको न मिलकर मिला इन्द्रप्रस्थ कालेजकी छात्राओंको। सहसा दस-बारह लड़कियों ने आकर क्लासमें बैठे लड़कोंको उनकी भावहीनता पर लज्जित करना प्रारम्भ कर दिया। फिर क्या था—कमरे खाली हो गए। प्रोफेसर लोग देखते रहे और छात्रगण क्लासोंसे निकल-निकलकर बड़े चबूतरे पर जमा हो गए।

प्रदीप उस दिन फिर न जाने क्यों प्रो० रामसिंहकी क्लासमें चला गया था। एम० ए० के आठ-दस छात्र एक कोनेके कमरेमें बैठे प्रोफेसर साहबका धारावाहिक लेक्चर सुन रहे थे—सम्राट अशोकके स्तम्भ लेखों पर। उधर किसीका ध्यान नहीं गया। यकायक एक कोमल किन्तु उत्तेजित स्वर बाहरसे कमरेमें पहुँचा। कोई लड़की गा रही थी—

"सारे जहाँसे अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा।"

शीघ्र ही भीड़ने उस गानको दोहराया। प्रो० रामसिंह चौंककर रुके और कुर्सी छोड़कर खड़े हो गए। दोनों हाथोंके इङ्गितसे उन्होंने सारी क्लासको भी खड़ा होनेका आदेश दिया। केवल प्रदीप बैठा रहा। आँखें मूँदे, सिर झुकाए, श्रद्धाकी मूर्त्ति बने प्रोफेसर साहबको खड़े देखकर उसे कुछ ग्लानि-सी हुई और मानो अपने व्यक्तित्वके विरुद्ध ही उसने राष्ट्रीय-गानकी भीषण उत्तेजनाको ढकेलकर अपने रक्त-प्रवाहसे निकाल डाला। उसका जी नहीं चाहा कि प्रोफेसर रामसिंहके साथ खड़ा होकर मातृ-वन्दना करे अथवा देशपर मिटनेवाले शहीदोंको नत-मस्तक होकर श्रद्धाञ्जलि दे।

बाहर गान समाप्त हुआ। एक शोर-गुल-सा होने लगा। प्रोफेसर साहबने कुर्सी पकड़ी और इतमीनानसे चश्मा पोंछते हुए अपनी नोट-

बुकका पन्ना उलटकर लेक्चर आरम्भ करनेको तत्पर हो गए। इसी समय प्रदीप उठकर खड़ा हो गया।

"क्लास छोड़ दीजिए प्रो॰ साहब!"—वह बोला।

"क्यों?"—प्रोफेसर साहबने तमक कर पूछा।

"कालेजके समूचे वातावरणसे यहाँका वातावरण मेल नहीं खाता, इसीलिये।"

"देखो प्रदीप, तुम समझदार हो। तुम्हें सोचना उचित है। राष्ट्रीय-गानके प्रति श्रद्धा दिखाकर हमने इस पर्वके प्रति अपनी भावना पहले ही प्रगट कर दी है। फिर क्यों झूठ-मूठमें समय नष्ट किया जाए। तुम लोगोंकी परीक्षा सिरपर हैं। मुझे तो यही ख्याल है—अन्यथा···।" प्रोफेसर साहबने अपना वाक्य पूरा नहीं किया। उनका आशय समझने में भी किसीको कठिनाई नहीं हुई। उत्तर दिया ज्योत्स्नाने—

"बहुतसे ऐसे अवसर होते हैं जब कि नफे-नुक़सानका हिसाब-किताब करने वाली बुद्धिको दबाकर रखना पड़ता है, प्रोफेसर साहब!"

और साथ-साथ वह अपनी किताब-कापी समेटकर कमरेसे बाहर हो गई। प्रदीपने सारी क्लासको उद्देश्य करके कहा "चलिए"। और छात्र तनिक झिझके, प्रोफेसर साहबका मुँह ताकने लगे। किन्तु जब प्रदीपने अपना डेस्क छोड़ा तो न जाने किस शक्तिने सबको उनकी सीटोंसे उखाड़ लिया। दम भरमें कमरा खाली हो गया। पीछे रह गए केवल प्रोफेसर साहब—मुस्कराते‌से जैसे उनको लड़कोंका यह बचपन प्यारा लगा और एक कोनेमें बैठा रामकुमार—जम्हाई लेता हुआ, मानों नींदसे जागा हो।

बाहर आकर प्रदीपने देखा कि छात्र-गण कालेज एम्पीथियेटरकी ओर जा रहे हैं। सम्भवतः किसी मीटिंगका आयोजन था। वहाँ पहुंचने पर देखा कि एम्पीथियेटर खचाखच भरा है। बैठनेका स्थान न पाकर प्रदीप एक खम्भेके सहारे खड़ा होकर अनमनी दृष्टिसे उस भीड़को निहारने लगा। नीचे पिटमें आज और दिनोंसे अधिक लड़कियाँ बैठी थीं। उन पर दृष्टि दौड़ाते-दौड़ाते सहसा उसके भीतर एक धक्का-सा लगा। सामने सुनयना बैठी थी। चमकीले नीले बौर्डरकी श्वेत साड़ी सिरपरसे फ़िसलकर गर्दन पर जा गिरी थी और काले घने बालोंकी छायामें उसका स्वरूप, श्यामल, मौन मुखड़ा गहन-गाम्भीर्यसे अत्यन्त प्रौढ़ जँचता था। टांग पर टांग रखकर बैठनेसे एक पांवकी सफेद सैंडल का पंजा भर पृथ्वीसे तनिक ऊपर उठी साड़ीके बाहर निकल आया था और गोदीमें पड़े अलस हाथोंकी कलाइयों पर सोनेकी चूड़ियां अपनी चमकसे उसकी बाहोंको जो हलकी पीत आभा प्रदान कर रही थी, वह अचानक उसके श्वेत ब्लाउजके कन्धों तक पहुँचकर छितर जाती थी। आंखोंमें सुनयनाके न चांचल्य था न उदासीनता। एक स्थिर भावसे वह शून्यमें देख रही थी। प्रदीपकी आखें उसपर रुककर जम गईं, सब कुछ भूलकर वह सुनयनाको नेत्रोंमें उतारता चला गया, खोया-सा, भूला-सा, पागल-सा। उसके आस-पास बैठी अन्य लड़कियोंको जैसे प्रदीपने देखा ही नहीं। अन्यथा देख पाता कि सुनयनाकी दाहिनी ओर तीन-चार लड़कियां छोड़कर बैठी अरुणा ढीठ आँखोंसे उसे देखकर हँसी रोकनेका अनथक प्रयास कर रही थी।

न जाने क्या प्रेरणा पाकर सुनयनाकी आँखें अचानक ऊपर उठी

और एक क्षणके लिए प्रदीपकी आतुर आँखोंसे उलझ गयीं। परिचयके भावसे प्रदीप तनिक मुस्कराया किन्तु सुनयनाने मानो सहमकर तुरन्त ही मुँह फिरा लिया। निकटसे यदि वह देख पाता तो सुनयनाके कपोलोंमें उमड़ती लालिमा उससे छुपी न रहती। पर सुनयनाके भावमें मर्यादा कीं जो अपील थी, उसे समझनेमें प्रदीपको देर न लगी। उसके ऊपरसे दृष्टि हटाकर वह इधर-उधर देखने लगा। दोबारा जब उसने सुनयनाको निहारा तो वह अपने बराबरमें बैठी लड़कीसे बातोंमें लीन थी। उसका मौन गाम्भीर्य स्खलित होकर जिस उद्वेगको जन्म दे गया था, उसका आभास सुनयनाकी समस्त भाव-भङ्गिमामें ओत-प्रोत दीख पड़ता था।

इसी समय प्रिंसिपल साहब और उनके पीछे-पीछे प्रोफेसर लोग आकर पिट के एक तरफ खाली पड़ी कुर्सियों पर बैठ गए। एक क्षण भयानक सन्नाटा छाया और फिर काना-फूसी बढ़ते-बढ़ते शोर-गुलका रूप धारण करने लगी। दो मिनट बाद प्रिंसपल साहब उठकर मंचकी ओर बढ़ चले। फिर सन्नाटा छा गया। मंचके बीचोबीच आगेकी ओर खड़े होकर बूढ़े प्रिंसिपलने एक सरसरी नज़रसे सारी सभाको भांपकर समझ लिया कि लक्षण अच्छे नहीं हैं। फिर हल्केसे खांसकर कोटकी ऊपरवाली जेबसे रूमाल निकालकर मुँह पोंछा और रूमालको वापिस जेबमें खोंसते हुए बोले—"प्यारे बालको!" हल्की-सी फुसफुसाहट जो फिर उठ रही थी दबकररह गई। प्रिंसिपलके स्वरमें तनिक कम्पन था। वे कहने लगे—

"आज कालेजका अनुशासन तोड़कर आपलोगोंने जिस अविनयका प्रदर्शन किया है उससे मुझे हार्दिक ठेस पहँची है। आप लोगोंको

आपके संरक्षक जब कालेजमें भेजते हैं, तो आपके शुभाशुभका भार मुझ पर आ पड़ता हैं। किन्तु मेरी बातकी, मेरे आदेशकी अवहेलना करके जब आप लोग बचपन पर उतर आते हैं, तो मै समझ नहीं पाता कि अपने उत्तरदायित्वको किस प्रकार निभाऊँ और आप लोगोंकी आत्म-श्रद्धा अथवा अन्य कोमल भावनाओंको चोट पहुंचाए बिना किस प्रकार आपके संरक्षकोंसे कहने योग्य रहूं कि मुझे सौंपी गई अमानतकी मैंने उचित देख-रेख की है।

"मुझे आशा है कि बाहरके कुछ लोगों द्वारा उत्तेजित होकर जो उत्पात आप लोग कर बैठे हैं, उसके लिये आपको हार्दिक पश्चात्ताप हो रहा है। यदि शिक्षित, संस्कृत होकर भी आप लोग अनुशासनकी अवहेलना करेंगे, तो आप लोगोंमें और अशिक्षित समाजके अन्ध करोड़ों में अन्तर ही क्या रह गया? देशका भविष्य आपके हाथोंमें है, आप ही उसके होने वाले नेता हैं, पथ-परिचायक हैं। किन्तु इस कच्ची उम्रमें यदि अनुशासन और उत्तरदायित्वको भूल डालनेकी आदत आप बना बैठे तो देश रसातलको चला जाएगा।

"आज़ादीकी आग मेरे दिलमें भी सुलगती है। मुझमें भी देशके लिए श्रद्धा और भक्ति कम नहीं। राष्ट्रीय-आन्दोलनसे मेरा भी कुछ सम्पर्क रहा है। यदि आपका यह मार्ग मुझे उचित जँचता, तो मैं स्वयं ही अपनी मंगल-कामनाएँ देकर आपको आगे बढ़नेका आदेश देता। किन्तु उत्पात तो आज़ादीकी राह नहीं…"

प्रदीप खड़ा सुन रहा था। पहली बातों पर तो उसे कुछ हँसी आई। किन्तु जब प्रिंसिपल साहब देश-प्रेमकी हाँकने लगे तो उसका

धैर्य टूट गया। यह व्यक्ति जो आज एक सालसे कालेजकी राष्ट्रीय-भावनाओंको कुचलता चला आ रहा है, जिसने राष्ट्रीय-झंडेका बीस बार अपमान किया है, जो बात-बातमें टेलीफोन करके पुलिसको बुला भेजता है, जिसने गांधीजीके वर्तमान अनशनको लेकर अनेकों विनय करने पर भी कालेजके भीतर मीटिंग करनेकी आज्ञा नहीं दी, किन्तु फौज़के अफसरोंको भर्ती-सम्बन्धी प्रचार करनेके मुँह-माँगे अवसर दिए—यह व्यक्ति स्वातन्त्र्य-प्रेमकी डींग हांके, अपने मुँह मियाँ-मिठ्ठू बने और उन नवयुवकोंको, जिन्होंने अपने रुधिरके जलते लावेसे ब्रिटिश-साम्राज्यकी नीवें झुलस डालीं, आज़ादीकी राह बतानेकी अनधिकार चेष्टा करे। यह नहीं सहा जा सकता। प्रदीप आपेसे बाहर हो गया। चिल्लाकर पूछा उसने—

"तो आप बता सकते हैं कि आज़ादी की राह कौन-सी है ?"

प्रिंसिपलकी वाग्धारा रुकी। उनका दायाँ हाथ—जो उनकी बात को अधिक जोरदार बनानेके लिये ऊपर उठा था, शिथिल भावसे नीचे लटक गया ; किन्तु दूसरे ही क्षण वही हाथ प्रदीपकी ओर उठाकर, होठों की मुस्कराहट और बाईं ओर गर्दनके तनिक झुकावसे उन्होंने मानो कह डाला—"क्या सवाल पूछा है ?"

प्रदीपने सहसा देखा कि सारा एम्पी-थियेटर उसकी ओर घूर रहा है। सुनयना पर गई उसकी आँखें। वह सीधी होकर बैठी थी, धरती पर दोनों पाँव टिकाए। उसके मुख पर गहन उत्तेजनाका आभास मिलता था। वह अपलक प्रदीपको देख रही थी। एक क्षण प्रदीपको कुछ घबराहट-सी हुई।

प्रिंसिपल साहबने उसे सम्बोधित करके कहा—"यंग मैन, तनिक नीचे उतरकर निकट आओ।"

नीचे सीढ़ियों पर बैठे लड़कोंने रास्ता छोड़ दिया और प्रदीप उतर कर पिट से केवल दो सीढ़ी रह जानेपर रुक गया। सारे एम्पी-थियेटरमें काना-फूसी-सी हो रही थी। घोर आत्म-चेतनासे वह विह्वल हो उठा।

प्रिंसिपलने पूछा—

"तुम्हारा नाम?"

"जी, प्रदीप।"

"कौन-से ईयरमें पढ़ते हो?"

"एम० ए० प्रीवियस।"

"क्या सबजेक्ट है?"

"हिस्ट्री।"

न-जाने क्यों, एक बार प्रिंसिपल साहब रुके। आँखों परसे चश्मा उतारकर रूमालसे पोंछा और फिर एक चिन्तित भावसे लगा लिया। हालमें फिर काना-फूसी उमड़ रही थी। वे बोले—

"तुम अपना प्रश्न एक बार दोहराओगे!"

"मेरा प्रश्न है कि आपके मतमें आज़ादीकी सही राह कौन-सी है?"

"तुम अपने प्रश्नका मतलब समझते हो?"

"खूब समझता हूँ।"

"क्या ये सब लोग जो एम्पी-थियेटरमें बैठे हैं, तुम्हारे प्रश्नका उत्तर समझते हैं?"

प्रदीप एक क्षण रुका। असमंजस-सी हुई। एक बार आँखें घुमाकर उसने उस जन-समूहको देखा। सब उसकी ओर देख रहे थे। वह हताशा-सा हुआ। किन्तु दूसरे ही क्षण सारा एम्पी-थियेटर चिल्ला उठा—

"हाँ हम प्रश्नका मतलब समझते हैं।"

प्रिंसिपल साहब तनिक झिझके। फिर एक लड़केकी तरफ उँगली उठाकर बोले—

"तुम बताओ, क्या समझते हो?"

लड़का सिटपिटा कर खड़ा हो गया। उसके मुँहसे बोल नहीं निकली।

प्रिंसिपल साहब मुस्कराये। एक और लड़केकी तरफ उँगली उठाकर पूछा—"तुम!"

वह भी पहले लड़केकी तरह सहमकर खड़ा हो गया। प्रदीपका धैर्य नष्ट होता जा रहा था। अनेकों बार उसने इसी स्थल पर प्रिंसिपल साहबको इसी प्रकार बचाव करते देखा था। उसे इस बेईमानी पर सख्त क्रोध आ रहा था; किन्तु इसके पहले कि वह कुछ बोलता, प्रिंसिपल साहब कह उठे—

"आपलोग बिना समझे प्रश्न करते हैं। फिर मुझे उत्तर देनेके लिये कहते हैं। यह ठीक नहीं; अपने प्रश्नको समझ कर आइये। मैं उत्तर दूँगा। आजकी सभा विसर्जन। आपलोग अपनी-अपनी क्लासों में चले जाइये।"

बिना एक पल भर भी रुके प्रिंसिपल साहब सीढ़ियाँ चढ़कर एम्पी-थियेटरके बाहर निकल गये ।

मन्त्र-मुग्धसे मानो सब लोग उठ खड़े हुए। हो-हल्ला होने लगा। प्रदीपका मन घोर ग्लानिसे विषाक्त हो उठा। एम्पी-थियेटरके बाहर निकल वह घर जानेके उद्देश्यसे गेटकी ओर बढ़ चला। किन्तु देखा कि गेट बन्द था और बाहर बन्दूक-धारी पुलिसके दो दर्जन सिपाही जैसे अव-सरकी प्रतीक्षामें खड़े थे। उधर प्रिंसिपल और प्रोफेसर लोग पुराने ढङ्गसे लड़कोंको घेर-घेरकर क्लासोंमें जानेका अनुरोध कर रहे थे। नेतृत्व और अनुशासन-विहीन छात्रोंकी उस भीड़को भेड़ोंकी तरह खदेड़ा जाते देखकर प्रदीपका गला भर आया। हतबुद्धि-सा खड़ा वह शून्य दृष्टिसे देखता रहा।

पीछेसे सुनयनाके ड्राइवरने आकर कहा—"बाबूजी, आपको बीबीजी बुला रही हैं !"

बनवारीके पीछे-पीछे चलकर वह कालेजके कैफेको पार करता हुआ पिछले दरवाजेसे निकलकर सड़क पर आ गया। मोटरका पिछला दरवाजा खोलकर ज्यों ही वह बैठने लगा, त्यों ही दूसरे कोनेकी ओर सरकती सुनयनाने कहा—

"आप यहाँ नहीं, आगे जाकर बनवारीके बराबरमें बैठ जाइये।"

यन्त्रवत् वह आगे जा बैठा। बनवारी मोटर ले उड़ा। माल रोड, चाँदनी चौक, दरीबा, बड़ शाबूला। एक शब्द भी बोले बिना प्रदीप उतर कर अपने बासेकी ओर चल दिया।

११

अबकी परीक्षाएँ एप्रिलके अन्त तक समाप्त हो गईं। अब प्रदीपको दिल्लीमें कोई काम न था; क्योंकि कालेज तीन मास के लिये बन्द होनेवाले थे। सबसे बिदा ले वह एक दिन अपने गाँव चल दिया। कालेज और यूनिवर्सिटीके पुस्तकालयोंसे, प्रोफेसरों, सहपाठियों और मित्रोंसे उसने विविध प्रसङ्गोंपर अनेक पुस्तकें इकट्ठी करके साथ ले ली थीं। वह सदासे ये लम्बी छुट्टियाँ गाँवके एकान्त वातावरण में पठन-पाठन और मननमें बिताया करता था। पहाड़ पर जाने अथवा अन्य कहीं छुट्टियाँ बितानेकी सुविधा उसे न थी। वह गाँवमें रहकर बिल्कुल ग्रामीण बन जाता। वही मैला वेश, वही भाषा, वही ढंग-ढर्रा। उसे वहाँ देखकर कोई कह नहीं सकता था कि यह एम० ए० प्रीवियसमें पढ़नेवाला अत्यन्त तीक्ष्ण-बुद्धि छात्र है।

तीसरे दर्जेमें ऊपरके पाटेपर अधलेटा वह अपने अध्ययनमें लीन था। पैसेञ्जर-ट्रेन छोटे-छोटे स्टेशनों पर रुकती साधारण गतिसे रास्ता पार कर रही थी। उसको जिस स्टेशन पर उतरना था, वहाँ तक गाड़ी पहुँचने में लगभग दो-ढाई घण्टे लगते थे और इतने अरसेमें वह काफी कुछ पढ़ सकता था।

अचानक उसका ध्यान भङ्ग हुआ। नीचे किसीने उसकी अपनी, ठेठ हरियाणेकी भाषामें गाना आरम्भ किया था। पहिले तो वह उदासीन

रहा ; किन्तु गानकी भाषा और स्वरमें भरे कारुण्यने उसको अधिक देर अछूता न रहने दिया। झुककर देखा। ठीक उसके नीचे बैठा एक देहाती नवयुवक एक हाथ कानपर धरे, दूसरेकी काली, खुरदरी अंगुलियों को स्वरके उतार-चढ़ावके साथ हिला-हिलाकर अत्यन्त तन्मय भावसे गा रहा था।

गीतका प्रसंग सत्यवादी हरिश्चन्द्रके पौराणिक उपाख्यानसे लिया गया था। रोहतासकी मृत-देहको लेकर रानी शमशान पर जाती है और वहाँ कर लिये बिना चाण्डालवेषी राजा हरिश्चचन्द्र उसको बेटेका दाह-संस्कार करनेसे रोकता है। उस हठसे दुखित होकर, सम्बलहीन, अकिंचन नारी, पतिसे जो मार्मिक अपील करती है, उसीको लेकर गानकी रचना हुई थी। गानका स्वर लम्बा था और उसके एक-एक पदसे कारुण्यका श्रोत बहता था। भाषा एकबारगी ग्रामीण होनेपर भी अत्यन्त सुघड़तासे वेदनाका निवेदन कर रही थी। प्रतीत होता था कि किसी कविने सोच-सोचकर इस गानकी रचना नहीं की, बल्कि वेदनासे विह्वल होकर वह फूट पड़ा है। गाँवका निवासी होकर भी प्रदीपने कभी नहीं सोचा था कि इन अशिक्षित, अपरिमार्जित किसानोंका भाव-निवेदन इतना स्वच्छ, गतिशील और प्राणपूर्ण हो सकता है।

गान समाप्त होते ही गाड़ीका देहाती-समाज वाह-वाह कर उठा। नवयुवकने किञ्चित् शरमाकर सिर झुका लिया। किन्तु दूसरे क्षण ही वह जेबसे एक सस्ती सिगरेट निकाल कर पीने लगा। गाड़ीकी चाल धीमी पड़ चली, शायद् कोई स्टेशन निकट था। प्रदीपका जी चाहा कि डिब्बेके दूसरे यात्रियोंसे पूछ ले कि कौन-सा स्टेशन आनेवाला है ;

किन्तु न-जाने कैसे संकोचसे दबकर उसकी बात गलेमें ही रह गई। नगर में रहनेके कारण नागरिक भाषा उसकी ज़बान पर चढ़ी थी। इस भाषा में देहातियोंसे बात करते उसको भयानक लज्जाका अनुभव होता था। विशेषकर इसलिये कि वह स्वयं देहातका रहनेवाला और देहाती बोलीसे भलीभाँति परिचित था। किन्तु भरसक प्रयत्न करनेपर भी देहातीका एक शब्द वह मुँहसे नहीं निकाल सका। इतनी दूरसे वह चुपचाप चला आ रहा था। किसीसे उसकी बोल-चाल नहीं हुई थी। उसके अनजान में ही उसके और देहातियोंके बीच एक दीवार-सी खड़ी हो गई थी, जिसको वह नहीं गिरा सका।

यह देखनेके लिये कि कहीं उसीका स्टेशन तो नहीं आ गया, वह ऊपरके पट्टे परसे नीचे उतर आया। खिड़कीमेंसे झाँककर दूर-दूर तक देखा—पकी हुई फसलके खेत फैले थे। अनेकों स्त्री-पुरुष प्रतिपल प्रखर होती धूपमें काम पर लगे थे। निकटके खेतोंसे भाग-भागकर कुछ बच्चे, कुछ बड़े स्त्री-पुरुष रेलकी लाइनके साथ-साथ मुँह बाए खड़े थे, प्रत्येक हाव-भावसे घने कौतूहलका परिचय देते हुए। रेलगाड़ी मानो उनके लिये महान् आश्चर्यकी वस्तु हो। हां, बच्चे अवश्य बीच-बीचमें हाथ हिलाकर कुछ कह रहे थे, किन्तु उनका स्वर गाड़ीके हँगामेके ऊपर आकर प्रदीपके कानों तक नहीं पहुँच पाया। आते-जाते अनेकों बार प्रदीपने यह दृश्य देखा था, किन्तु उसके लिये भी सदा यह नवीन अनुभूति बना रहा। नगरके जीवनमें यह सरल, अज्ञानमय कौतूहल उसे देखनेको नहीं मिलता था।

स्टेशन पर गाड़ी रुकी। प्रदीपको अगले स्टेशन पर उतरना था। बाहर प्लेट-फार्म पर एक जनसमूह इधरसे उधर भाग रहा था। गाड़ी

यहाँ केवल दो-तीन मिनट ठहरती है ; किन्तु यदि यह निकल जाय, तो दूसरी गाड़ी इसके ठीक आठ घण्टे बाद शामके पाँच बजे तक नहीं आती। साँझकी गाड़ी अधिकतर एकाध घण्टा लेट हो जाती । युद्धका समय है। पेट्रोल न रहनेके कारण सड़क पर चलनेवाली बसें बहुत कम हो गईं और किराया भी उनका रेलसे दुगुना है। इसी कारण सब गाड़ीसे सफ़र करना चाहते हैं। प्रदीपको चार-पाँच साल आगेका ज़माना याद आया। एक बार वह साठ आदमियोंके डिब्बेमें बीस मील तक अकेला चला था। बीचमें तीन स्टेशन आये, किन्तु कोई चढ़नेवाला नहीं था। उन दिनों जहाँ रेलमें आठ आने लगते थे, वहाँ मोटर-बस तीन-चार आनेमें पहुँचा देती थी।

गाड़ीने सीटी दी और चल पड़ी। कुछ लोग अब भी चढ़नेका सफल और असफल प्रयत्न कर रहे थे। इस ओरसे उस ओर तक, ऊँचे दर्जेके कुछ डिब्बोंको छोड़कर, गाड़ीके पायदान तक पर आदमी लटक रहे थे। जो चढ़नेमें असफल रहे थे, वे सिर पर, कंधों पर अथवा हाथोंमें अपना सामान लिए अत्यन्त कातर दृष्टिसे चलती गाड़ीको निहार रहे थे। प्रदीपको खूब झुंझलाहट आ रही थी। रेलवे वाले क्यों जनताकी इतनी अवहेलना करते हैं। एक बार भी उसने रेलवे-विभाग की असमर्थता पर ध्यान नहीं दिया।

अपने स्टेशन पर उतर कर प्रदीपने अपनी किताब और कपड़ोंकी गठरी कमर पर बांध ली। पाँच मील पर उसका गांव था, कच्ची सड़क। तांगा करके एक घण्टेमें पहुंचा जा सकता था, किन्तु किराएके तीन-चार रुपए देना प्रदीपकी सामर्थ्यसे बाहरकी बात थी। युद्धसे पहले उसके

गांव तक कच्चे रास्ते होकर मोटर बस चला करती। किराया था आठ आने। तीस आदमियोंका सर्टीफिकेट रहने पर भी अधिकतर साठ-सत्तर आदमी उस पर बैठते थे। उस समय भी जब प्रदीपके पास विशेष सामान नहीं रहता था, तो वह रेलके रास्ते आकर पैदल ही गांव तक जाया करता। सामानकी गठरी पीठ पर बाँध लेता और कोई पुस्तक पढ़ते-पढ़ते उसका रास्ता अनायास कट जाता था। मार्गमें जहाँ जी चाहता वह बैठ जाता, लेट जाता, सो जाता और फिर उठकर चल देता। बसके शोर-गुल और भीड़-भाड़से उसे सदा भय होता रहा।

देहलीसे आते समय वह यूनिवर्सिटीके पुस्तकालयसे अन्य पुस्तकोंके साथ शोपेनहारके ग्रन्थ भी उठा लाया था। उन्हींमेंसे एकको पढ़ता हुआ वह पथ पार करने लगा। पुस्तक बेहद दिलचस्प थी, सब ओरका ध्यान भुलाकर वह चलता रहा। मध्याह्नकी धूपमें उसे पसीना छूटने लगा, किन्तु शरीरकी उपेक्षा करते रहना तो प्रदीपका स्वभाव बन गया था। उसका ध्यान भंग हुआ आधा रास्ता पार करने पर नहरके किनारे। वहाँ एक ओरको थोड़े दिनका लगाया एक छोटा-सा बगीचा था और दूसरी ओर एक कुआँ। कुएं पर सदा कोई न कोई स्त्री पानी भरती रहती थी और आने-जाने वालोंको पानी पिलाना ग्रामीण अपना कर्त्तव्य मानते हैं। इसी स्थल पर प्रदीप रुका और मुँह पोंछकर कुएँ पर पहुँचा। पानी भरनेवाली स्त्रियोंमेंसे एक, जो यौवनसे छलछला रही थी, प्रदीपको देखकर मुस्कराने लगी।

वह सुन्दर नहीं थी, किन्तु यौवन और उद्दाम वासना मिलकर सौन्दर्य-रचना कर लिया करते हैं। वह युवती प्रदीपसे बोली—

"तू क्या-क्या बेचता है ?"—और फिर मुँह फेरकर हँसने लगी। प्रदीपको सहसा अपनी स्थिति पर ध्यान आया। इस देहातमें साधारणतः गोटा किनारी बेचनेवाले मुसलमान बिसाती इस प्रकार पीठ पर सामान बाँधकर चला करते हैं। इधरके लोग सामानको कन्धों अथवा सिरपर उठानेके आदी हैं। प्रदीप पहले कुछ झेंपा, फिर मुस्कराकर बोला—

"तुम्हें क्या-क्या चाहिये ?"

"जो-जो तेरे पास है, सब।"

"पर मेरे दाम बहुत तेज़ हैं, सुनोगी तो घबड़ा जाओगी ?"

"दामों की भली कही। दाम भी कोई मांगा करता है ?"

किन्तु इसके पहिले कि प्रदीप कोई उत्तर देता, एक दूसरी अधेड़ स्त्रीने नवयौवनासे कहा—

"फूल, तुझे सदा मस्करी सूझती है। घर चल, तेरी दादीसे कहूंगी।"

"मैंने क्या इसकी तरफ़ आँख मारी है, जो दादीसे शिकायत करेगी, चाची ?"—फूल बोली।

"अच्छा, अच्छा, ज़बान बन्द कर। नहीं तो मार-मारकर मुँह लाल कर दूंगी। ले भाई, तू पानी पी जा। इसके भरोसे रहा तो प्यासा ही मरना पड़ेगा।"—और उस अधेड़ स्त्रीने पानीका डोल प्रदीपकी ओर बढ़ा दिया। फूल अब भी खड़ी मुस्करा रही थी। प्रदीपने चुपचाप पानी पीया और लौटकर पेड़के नीचे जा बैठा। वहाँ एक-दो और बैठे थे। प्रदीपने ज़ेबसे सिगरेट निकाली तो उन दोनोंने बड़ी बे-तकल्लुफीसे

एक-एक माँग ली और अत्यन्त आनन्दसे पीने लगे। तीनोंमेंसे बोला कोई नहीं।

कुछ देर बाद प्रदीपने देखा कि उसके साथी एक ओर दृष्टि जमाकर, अत्यन्त लोलुप आँखोंसे घूरते हुए आपसमें कुछ फुसफुसाने लगे। उसने भी उस ओर आँख उठायी। फूल सिरपर पानीके दो घड़े लिए, एक हाथमें डोलको झुलाती जा रही थी। घुटनोंसे कुछ नीचे तक लटकने वाले, काले रंगके घेरदार, भारी लहंगेमें छिपे स्थूल-नितम्बोंके कारण चालमें कुछ भारीपन था। मोटी पिंडलियां आधीसे कुछ कम ही चाँदी के चमकते गहनोंसे लदी थीं। पांवमें मर्दाना, लाल पंजाबी जूता। उसकी फ़ीकी पड़ी हुई पीली ओढ़नी सिर और ग्रीवाके पिछले भागको ढकती हुई सिमटकर पीठपर लटक रही थी। एक हाथसे वह सिरपर मटके थामे थी और दूसरेमें डोल लटका था। आधी बाँहोंके मर्दाने कमीजकी पीठका मध्य-भाग ओढ़नीसे ढक गया था। भूरी, बलिष्ट कलाइयोंमें फँसकर आनेवाली नीली, पीली, हरी चूड़ियाँ धूपमें चमक रही थीं। नहरके पुलपर चढ़ते समय सिरपर रक्खे घड़ोंके कारण आगे झुकनेमें असमर्थ फूलकी पीठमें तनावके साथ-साथ एक लचक भी आ गई थी। प्रदीप एकटक देखता रहा। सहसा उसकी आँखोंमें कुछ देर पहले देखे दो उन्नत उरोज, आरक्त कपोल और चंचल नयन घूम गए। एक साथी कह रहा था—

"क्या कहते हो?"

"बस क्यों पूछते हो!"—दूसरेने जवाब दिया।

"कौन है यह?"

"तुम नहीं जानते ?"

"ना।"

"झूंडू लम्बरदारकी छोकरी है। अभी गौना हुआ है। चार दिन हुए ससुरालसे लौटकर आई है।"

"जोबन बिखरा पड़ता है, यार ! क़िस्मत है किसीकी। बहार लूटी होगी ?"

"सो बात नहीं। इसका जोबन बेकार जा रहा है। ब्याहता तो अभी माँकी गोदीमें बैठकर रोटी खाने लायक है। इसको क्या संभालेगा ? इसे तो कोई गभरू जवान चाहिए।"

"ये बात है......!"

सहसा बीस क़दम गई फूल मुड़कर खड़ी हो गई घड़ेसे छलककर पानी उसके गालों परसे बहता हुआ कमीज और लहँगेका अग्र-भाग भिगो रहा था। गर्दनको तना रखनेके प्रयासमें चिबुक वक्ष-स्थलकी ओर झुक गई थी। ओंठों पर वही मुस्कान। पीछे पड़ी अधेड़ स्त्रीको देखकर फूल बोली—

"पैर उठाओ, चाची। तुमसे चला नहीं जाता ?"

"तेरे जैसी मस्त धींगड़ी थोड़े ही हूं।"

"मेरी जवानीसे तुम्हें जलन होती है, चाची !"—यह कहकर फूल हँसने लगी।

प्रदीप उस ओर देख रहा था। अचानक उसकी आँखें फूलकी आँखोंसे चार हो गईं। सारे शरीरमें कँपकँपी दौड़ गई और विह्वल-सा होकर उसने सिर नीचा कर लिया। कनखियोंसे वह देख पाया कि फूल

उसी ढीठ भावसे हँसती हुई उसकी ओर देख रही है। उसने अपनी गठरी उठाई और चल पड़ा। पीछे मुड़कर देखनेका साहस एक बार भी उससे न बन पड़ा।

थोड़ी दूर जाकर प्रदीपने अपनी किताब खोली और पढ़नेका उपक्रम करने लगा; किन्तु जाने जी में कैसी उचाटी-सी बढ़ चली थी। वह सफेद पन्नों पर छपे काले अक्षर देख पा रहा था, यन्त्रवत् उन्हें पढ़ भी पा रहा था; किन्तु उसकी समझमें कुछ नहीं आया।

बार-बार उसके आगे वही उभरे उरोज, आरक्त कपोल, चञ्चल नेत्र और हँसता मुखड़ा लिए एक मांसल नारी-मूर्त्ति घूम जाती थी। कानोंमें वही शब्द गूँज उठते थे—"मेरी जवानीसे तुम्हें जलन होती है, चाची!" कितनी सीधी-सी बात थी; किन्तु यदि पेड़के नीचे बैठे उन दो देहातियोंकी बातें सच थीं, तो कितनी गहन व्यथाकी परिचायक। "मेरी जवानीसे तुम्हें जलन होती है, चाची!"

अनेक बातें सोचता प्रदीप अपने गाँवके निकट आ पहुँचा। चनेकी फसल निकालनेके लिये अब भी गाँवके बाहर दो-चार पैर पड़े थे। एक ओर बैल अनाजकी बालोंको रौंद रहे थे, दूसरी ओर किसान स्त्री-पुरुष ऊँची तिपाइयों पर खड़े रौंदे अनाजको बरसा-बरसा कर साफ कर रहे थे। प्रदीपको आता देखकर एक पैरमें से एक मोटा-तगड़ा किसान काम छोड़ कर उसकी तरफ बढ़ा। पास आनेपर प्रदीपने पहिचान लिया कि सूबेदार बद्रीनाथ है। उसके सारे शरीरमें धूल भरी थी। सिर और मोछोंके बाल तक मटमैले हो रहे थे। प्रदीप उसको देखकर मुस्करा दिया। नमस्ते इत्यादि करनेकी उसे बिल्कुल आदत नहीं थी। सूबेदार बोला—

"क्या खबर है, परदीप ?"

"बोलो किस तरफकी सुनाऊँ ?"

"यही लड़ाई-वड़ाई की।"

"लड़ाई अभी चल रही है और तब तक चलेगी, जब तक कि जर्मनी और जापानका सिर धरतीमें नहीं रगड़ा जाता।"

"सिर तो धरतीमें अंग्रेजोंका रगड़ जायगा। जर्मनी-जापानवाले तो मर्द हैं। वे भला कभी पिट सकते हैं ?"

"अंग्रेजोंकी बात छोड़ो, दादा ! वे तो खत्म हो चुके हैं। लड़ाई तो असलमें रूस और जर्मनीकी है न। रूस तो हलुवा नहीं, जो सीधा गलेमें उतर जाएगा। वहाँ तो हिटलरको वह मार पड़ेगी कि बेटा अगली-पिछली भूल जाए।"—तनिक जोशमें आकर प्रदीप कह गया।

सूबेदारके ओठोंपर कुछ मुस्कान-सी उभरी ; किन्तु आँखोंमें चिन्ता का आभास भी। बोला—

"रूस हलुवा तो नहीं, भाई ! लेकिन हिटलर जैसे मरदानेके आगे कब तक लड़ेंगे। फिर रूसवाले भगवानको नहीं मानते। नास्तिकोंकी जीत हो भी, तो कैसे ?"

"यह भगवान-वगवानका किस्सा छोड़ो, दादा ! रूस किसान और मजदूरोंका मुल्क है। वहाँ विलायत-जैसे हरामखोर बनिए थोड़े ही रहते हैं। वे तो हिटलरको वह मार मारेंगे कि याद रहे। तुम हिटलर को मरदाना कहते हो ! वह तो गुण्डा है, गुण्डा। यूरपके पूँजीपतियोंने उसको बढ़ावा देकर इतना शक्तिशाली बना दिया ; वरना उसकी क्या ताकत थी कि......।"

"हाँ, सुना है कि हिटलरने मजदूरों पर बड़े जुल्म किए हैं। लेकिन यहूदी बनियोंको भी तो उसने साफ कर दिया।"—सूबेदार कुछ असमंजस में पड़ते जा रहे थे।

"यहूदियोंकी बात तो सिर्फ दुनियाकी आँखोंमें धूल झोंकनेके लिये है। आप समझते हैं, जैसे सारे यहूदी बनिये होते हैं। ग़लत बात है। यहूदियोंमें भी न-जाने कितने गरीब आदमी हैं और हिटलरने जिनका शिकार किया, वे अधिकतर इन्हीं गरीबोंमें से थे। इसके सिवाय उस राक्षसने कितने मजदूरोंका खून बहाया, वह क्या कोई गिन सकता है? और तुम उसकी जीत चाहते हो, दादा! रूसके ऊपर, किसान और मजदूरोंके ऊपर।"

सूबेदारने सिर झुका लिया और कुछ सोचकर बोला—

"नहीं, जीत तो मैं रूसकी ही चाहता हूँ। लेकिन अगर हिटलर हार गया, तो हिन्दुस्तानका क्या होगा। फिर तो अंग्रेज़ हमें कभी आज़ाद नहीं करेंगे।"

प्रदीप हँस पड़ा। एक उत्सुक भावसे सूबेदारने उसकी ओर देखा।

"आज़ादी क्या कोई किसीको दिया करता है, दादा! आज़ादी ली जाती है। अंग्रेज़ हमें आज़ादी देनेवाले कौन। अपनी आज़ादी तो हम खुद लड़कर लेंगे। यह आशा रखना कि हिटलर अंग्रेज़ोंको हराकर हमें आज़ादी देगा, यह कोरी भूल है। जो इतने देशोंकी आज़ादी हड़प गया, उससे हम क्या उम्मीद कर सकते हैं?"

"भई, कुछ भी कहो, एक बार तो अंग्रेज़ोंको पिटना ही चाहिये। अंग्रेज़ोंके पिटे बगैर मज़ा नहीं आएगा।"

प्रदीप हँस पड़ा। सहानुभूतिके भावसे उसने सूबेदारकी ओर देखा और चलने लगा। सूबेदार बोला—

"कुछ ठहरोगे ना ?"

"हाँ, दो-चार दिन तो जरूर। ज्यादा भी ठहर सकता हूँ।"

"बहू यहीं है क्या ?"

"नहीं, जाकर लाऊँगा।"

चलते-चलते प्रदीप सोचने लगा, सूबेदारके बारेमें। गत युद्धमें यह तुर्की और फ्रांसमें लड़ा था। बहादुरीके कारण मामूली सिपाहीसे सूबेदार बना। अब भी पेंशन मिलती है। सारी आयु यह अंग्रेज़ी राज्यका भक्त रहा है। सन् १९३० और ३२ के आन्दोलनोंमें इसने कांग्रेसका घोर प्रतिरोध किया था। आज भी जब कोई सरकारी अफसर अथवा पुलिसका थानेदार गाँवमें आवे, तो यह जाकर सलाम करेगा और उसकी हाँ में हाँ मिलाएगा। खुलकर यह ब्रिटिश सरकारके विरुद्ध कान भी हिलानेको तैयार नहीं; किन्तु इसके दिलमें अंग्रेज़ोंके प्रति कितनी घृणा है। उनकी हारके लिये हिटलरकी जीत भी इसके लिये हेय नहीं। अवश्य ही आज हिन्दुस्तानमें ब्रिटिश साम्राज्यकी जड़ें खोखली हो चुकी।

घर तक पहुँचते-पहुँचते साँझ होने आ गई। रास्तेमें न-जाने कितनोंने रोककर प्रदीपसे बातें की। घरमें घुसते ही देखा कि माँ बैठी चरखा कात रही है। प्रदीपको देखते ही वह उठी और पास आकर उसके सिरपर हाथ फेरा। करुण सी होकर बोली—

"बहुत दुबला हो गया, प्रदीप !"

बिना कुछ उत्तर दिये प्रदीप ने कमरकी गठरी खोलकर नीचे रख दी और कोठेकी देहली पर बैठकर जूते खोलने लगा।

दरवाजे पर पास-पड़ौसके बच्चोंकी भीड़ इकट्ठी होती जा रही थी।

१२

अगले दिन प्रातःकाल ही प्रदीप हरिजन-सेवा-आश्रममें पहुंचा। इस स्थानसे उसका बहुत दिनका सम्बन्ध था। एक समय यहींसे गांधीजी का "अनासक्ति योग" और "अनीतिकी राह पर" पढ़कर गांधीजी के प्रति गहन-श्रद्धाका स्रोत उसके मानसमें उमड़ा था। महात्माजीके प्रति भक्तिका भाव ज्यों-ज्यों बढ़ता गया, उसके जीवनमें भी परिवर्त्तन होता चला गया था। खद्दर पहनना, गीताका मनन, मन, वचन, कर्मसे अहिंसाका पालन, ब्रह्मचर्यकी साधना इत्यादिमें उसने पूरे तीन साल लगाए थे। उन दिनों ग्रीष्म-कालकी छुट्टियोंमें वह गांव आता, तो अधिकतर समय उसका हरिजन-आश्रममें ही बीतता था। सुबह वहाँ जाकर वह चरखा कातता, मध्याह्नमें हरिजन बालकोंको अँग्रेजी, इतिहास, गणित, भूगोल इत्यादि अनेक विषयों पर शिक्षा देता और सन्ध्याकी प्रार्थनाके अन्तमें गीताकी व्याख्यामें घण्टों बोलता। आश्रम-वासी उसको बड़ी श्रद्धाकी दृष्टिसे देखा करते। हाँ, उसकी अपनी ब्रादरी और गाँव के सवर्ण लोगोंमें अवश्य उसके प्रति एक जुगुप्साका भाव बढ़ चला था।

घर वालोंने कुछ मार-पीट भी की, किन्तु वह अपने पथसे नहीं डिगा। अन्तमें लोगोंको विश्वास हो गया कि लड़का दिमाग़से सोलहों आने ठीक नहीं है। दो-चारने जंगलमें बैठे उसे पढ़ते देखकर बात फैला दी थी कि वह घण्टों वृक्षों और झाड़ियोंसे बात करता रहता है। उन्हीं दिनों जब उसने विवाहका प्रस्ताव ठुकरा दिया था, तो सबको पूर्ण विश्वास हो गया था कि लड़का जरूर सनकी है।

फिर वह बदला। इतिहास, राजनीति, समाज-शास्त्र और दर्शन का अध्ययन करते-करते उसका मार्क्सवादसे परिचय हुआ। जिस दिन उसने प्रोफेसर लास्की द्वारा लिखित साम्यवादकी रूप-रेखा पढ़ी, उस दिन वह सचमुच रो उठा। सहसा उसे लगा कि इतने दिन वह अन्धेरेमें भटकता रहा, जब कि सत्य इतना निकट था। उसे गांधीजी और उनके दर्शन पर रह रहकर हँसी आने लगी। कितनी भारी प्रवञ्चना, कितना मिथ्या दम्भ। अध्यात्मके इतने वृहद् आडम्बर सहित अज्ञान, दारिद्रय और कुसंस्कारका पाठ पढ़ानेका यह कुचक्र यदि सफल हो जाए, तो हमें बीसवीं शताब्दीसे एकबारगी दसवीं शताब्दीमें लौट जाना पड़े। "हरिजन" नाम देकर जिन असंख्य क्षुधित, वंचित, पददलितोंको गांधीजी हिन्दू-शास्त्र सम्मत वर्णाश्रम व्यवस्थामें आस्था रखते हुए, सवर्ण-हिन्दुओं के हृदय परिवर्त्तनके लिये सत्याग्रह करनेका उपदेश दे रहे हैं, उनके लिये तो गांधीवादसे बढ़कर भुलावा नहीं हो सकता। उन लोगोंको विद्रोह करना होगा, अपने मानवोचित अधिकारोंका सबल दावा करना होगा। जिस हिन्दू-धर्मने उनको इस हीन अवस्थामें अवस्थित रखनेके लिए अनेकों स्मृति-शास्त्र रचे उसका तख्ता उलटे बिना अन्त्यज जातियाँ अपनी मुक्ति

नहीं प्राप्त कर सकतीं। फिर गांधीजी जैसे परम वैष्णवसे वे क्या आशा कर सकते हैं? अस्पृश्योंको सर्वरूपेण क्रान्तिका, विप्लवका आवाहन करना होगा। गांधीवाद जैसे सुधारवादसे उनका काम नहीं चल सकता।

किन्तु यद्यपि प्रदीपके विश्वास बदल गए थे, तो भी आश्रमके बालकों पर उसका स्नेह और सहानुभूति ज्योंके त्यों बने रहे। अब भी वह जब-जब गाँवमें आता, तो उनके पास जाकर उन्हें पढ़ाता-लिखाता और उनके साथ अन्यान्य विषयों पर बातें करता। हाँ, सन्ध्याकी प्रार्थनामें उसने जाना छोड़ दिया था। बात चलने पर वह गांधीवाद पर कठोर आक्षेप करनेके साथ-साथ एक नए मार्गका संकेत भी करने लगा।

आज उसने भीतर जाते ही देखा कि पाठशाला वाले दालानमें एक सभा-सी बैठी है। उसको देखते ही सबने उठकर नमस्कार किया और बैठनेके लिये एक आसन छोड़ दिया। प्रदीप बैठकर बोला—"आप अपना काम मत रोकिए!"

आश्रमके कार्यकर्त्ता परमानन्द कुछ चिन्तित भावसे बोले—

"अभी गाँवकी पञ्चायतने हरिजनोंके दूसरे गाँवमें जाकर मजदूरी करनेपर कड़ा प्रतिबन्ध लगा दिया है। उसी विषयमें हम सोच रहे हैं। आप आ गए, बहुत अच्छा हुआ।"

"बात क्या है?"

"आप जानते हैं कि फसल बोने और काटनेके समय किसान लोग हरिजनोंसे मजदूरी कराया करते हैं। अपने गाँवमें आस-पासकी अपेक्षा हरिजनोंके अधिक घर हैं, इसलिये सदासे हमारे लोग दूसरे गाँवोंमें

मजदूरी करने जाते रहे हैं ; किन्तु युद्धके कारण सब जगह आदमियोंकी कमी है। दूसरे गाँववालोंने मजदूरी बढ़ाकर आठ आने रोज़ कर दी है, जब कि यहाँ छः आनेसे अधिक न देनेका फैसला पञ्चायत कर चुकी है। स्वभावतः हमारे हरिजन बाहर जाने लगे और गाँवमें मजदूरोंकी अत्यन्त कमी पड़ गई। कल रात गाँवकी पञ्चायतने फैसला किया है कि जो हरिजन गाँवके बाहर मजदूरी करने जाएगा, उसपर पाँच रुपया प्रतिदिन दण्ड लगेगा।

"आजसे गाँवके सब रास्तों पर किसानोंके पहरे बैठ गये हैं। गांवके बाहर जाते हुए किसी भी हरिजनको पकड़कर मार-पीट करनेकी उनको पञ्चायतकी ओरसे खुली आज्ञा है। आप समझ गये।"

प्रदीपने सिर हिलाकर जता दिया कि वह बखूबी समझ गया।

"तो ऐसी स्थितिमें हरिजनोंको और विशेषकर आश्रमवासियोंको क्या करना चाहिये—यही सोचनेके लिये हमलोग बैठे हैं। आप ही बताइये कि हमारा क्या कर्त्तव्य है?"—परमानन्दने पूछा।

"मेरा सुलझाव तो आप जानते हैं ; किन्तु वह क्या आपको मान्य होगा?"—प्रदीप मुस्कराकर बोला।

"तो क्या हम हरिजनोंको प्रतिहिंसाके लिये तैयार हो उठने को कहें?"

"क्यों नहीं, ईंटका उत्तर पत्थरसे देना होगा, परमू भैया!"

"यदि आपकी बात मान ली जाय, तो भी जवाब देनेको पत्थर कहां है, महाशय?"—एक तरफ बैठा एक प्रौढ़ पुरुष बोला। वह गांवका

चमार, मंगल था। प्रदीपने उसकी ओर देखा। मोटी खद्दरकी कुर्ती धोती पहने मंगलका गम्भीर, चिन्तित चेहरा एक दृढ़तासे भरा था।

"तो क्या मार खाकर घरमें बैठ रहनेकी सलाह देते हो, मंगलराम ?" —प्रदीपने मंगलसे पूछा।

"सो कैसे ? मैंने मार खाकर घरमें बैठ रहनेकी बात तो नहीं कही !"—मंगलने उत्तर दिया।

"तो क्या कोई तीसरा रास्ता तुम बता सकते हो ?"

"रास्ता तो साफ है। हम सत्याग्रह करेंगे।"—शान्त भावसे मंगल बोला।

प्रदीप मुस्कराने लगा ; किन्तु उसकी व्यंग-भरी मुद्रा मंगलको विचकरनेमें असमर्थ रही। उसी धीर भावसे मंगल कहने लगा—

"मैं मोटी अक्लसे सोचता हूँ, भैया ! अगर हमलोग मरने-मारनेपर तुल जाएँ, तो हमारी न-कुछ-सी जातिको गाँववाले पीसकर धर देंगे। फिर हाकिम-ठाकुर भी तो उनके हैं। हमारी तरफसे वारदात होते ही हमारे घरोंपर पुलिस चढ़ दौड़ेगी। बात सोचते वक्त अपनी ताक़तका हिसाब तो लगाना होगा न !"

"मर मिटनेकी हिम्मत अगर तुम लोगोंमें नहीं है, तो सोचने क्यों बैठे हो ? दुम दबाकर पंचायतका फैसला सिर-माथे पर लो। इतना मैं कहे देता हूं कि सत्याग्रहसे इनके कान पर जूं तक नहीं रेंगेगी।"—प्रदीप बोला।

"ऐसी निराशाकी कोई बात नहीं। आज यदि हम सब मिलकर मजदूरी पर जाना छोड़ दें, तो गांव वालोंको आटे-दालका भाव मालूम

पड़ जाए। पर ऐसा संगठन अभी नामुमकिन है। भूखे, बेकारोंकी हमारे बीच बहुत बड़ी संख्या है। ऐसी हालतमें जो लोग बात समझते हैं, उनको सब कष्ट सहकर पाबन्दी तोड़नी होगी।"

"इस तरह क्या पाबन्दी तोड़ सकोगे, मंगलराम?"—प्रदीपने पूछा।

"सो देखा चाहिये, भैया। पर इतना मैं जानता हूं कि हमारे समाज में अगर कुछ जाग आएगी तो इसी तरह। शायद आगे चलकर किसी दिन हमलोग संगठन करके हड़ताल करनेकी शक्ति भी जुटा लें।"—मंगलने उत्तर दिया।

प्रदीप कुछ नहीं बोला। उसे सूझ ही नहीं रहा था कि वह क्या कहे। मंगलकी धीर-गम्भीर बातें सुनकर खाली जोश बघारनेकी हिम्मत वह नहीं कर सका। पर मंगलके मार्गका समर्थन भी उससे नहीं बन पड़ा। वह चुपचाप बैठा रहा।

सहसा प्रदीपको याद आया कि उसे नहा-धोकर दिन चढ़ते-चढ़ते उर्मिलाके घर जाना है। उसके गाँवसे पाँच मील एक छोटे-से पुराने शहरमें उसकी ससुराल थी। तांगेसे घण्टे-भरका रास्ता। एक रात वहां ठहरकर अगले रोज़ लौट आएगा, उर्मिला समेत।

आश्रमसे बाहर निकलकर प्रदीपने जो तमाशा देखा, उसकी वह स्वप्नमें भी कल्पना नहीं कर सकता था। सामने अपने घरके आगे चारपाई पर बैठे चिरंजीलाल कुछ हटकर खड़े छोट्टू तेलीपर गालियोंकी बौछाड़ कर रहे थे। तेली बेचारा गर्दन झुकाए सब सुनता जा रहा था—जड़वत्, बिना कान तक हिलाये। गालियां अश्लील और भद्दी थीं, सो थीं ही—किन्तु देनेवालेके घिनौने, काले, क्रूर मुखसे निकलनेके कारण वे और भी

उग्र हो उठी थीं। प्रदीपको ऐसा लगा—मानो वे गालियां छोटू तेली को न दी जाकर स्वयं उसे दी जा रही हैं।

चिरंजीलाल उसके ताऊका एकमात्र लड़का था। घोर व्यभिचारी, झूठा, धूर्त और मैला। किन्तु इधर दो-चार सालसे जिला मेरठमें एक शूगर मिलकी सोल सैलिंग एजेन्सी पाकर उसने खूब रुपया कमाया था। अधिकतर वह बाहर रहता था। कभी-कभी गांव आकर कुनबेवालों पर रोब गांठ जाता और अपने दस-पाँच कर्जदारोंको डांट-डपट जाता। प्रदीपको उससे सख्त घृणा थी। साल-दो-सालमें मिलनेपर शिष्टाचार के नाते दो बात हो जानेके अतिरिक्त उसका विशेष परिचय भी चिरंजी-लालसे नहीं था। आज भी वह नमस्तेके नाते सिर हिलाकर निकल जाता; किन्तु वह बीभत्स दृश्य देखकर वह ठिठक गया।

हंगामा सुनकर गली-मुहल्लेवाले और आते-जाते बहुतसे लोग इकट्ठे हो गये थे; किन्तु किसीकी भाव-भंगिमासे यह नहीं प्रतीत होता था कि मन-ही-मन वे भी उस नर-पशुके व्यवहारका प्रतिवाद करते हैं। कई मां, बहनें, बहू-बेटियां इधर-उधर खड़ी चिरंजीलालकी अजस्र, अश्लील वाग्धारा सुन रही थी। किसीके ओठ तक न हिले।

छोटू तेली प्रदीपका जाना-पहिचाना पड़ोसी था। अनेकों बार प्रदीपके घर आकर उसने कितने ही कामोंमें हाथ बँटाया था। उसके दारिद्र्यकी थाह नहीं ली जा सकती थी। आधे दर्जन बच्चोंका बाप वह तीस सालकी आयुमें साठ सालका बुड्ढा दीख पड़ता था। उसके मुखपर पड़ी रेखाओंको पढ़कर कोई भी दीनताके अमर-क्रन्दनसे परिचय प्राप्त कर सकता था। न-जाने कितनी बार वह संध्याके अँधेरेमें घरके बाहर दबे

पांव आ खड़ा होता। बहुत पूछनेपर बड़े धीमे, दीन स्वरमें वह कहता—
"लड़केको कई दिनसे बुखार आता है। रो रहा है कि गेहूँकी रोटी खाऊँगा।"

प्रदीपने आगे बढ़कर छोटूके कन्धे पर हाथ रख दिया और बोला—

"चलो छोटू चाचा, यहाँ क्यों खड़े हो ?"

छोटूने एक बार चिरंजीलालकी ओर देखा जैसे बकरा वधिकको देखता है और फिर प्रदीपकी ओर। प्रदीप फिर बोला—

"चलो !"

धीरे-धीरे छोटूने पैर उठाए। चिरंजीलालकी आँधी रुक चुकी थी। वह हक्का-बक्का-सा यह नाटक देख रहा था। थोड़ी दूर जाने पर प्रदीपने पूछा—

"क्या बात थी, छोटू चाचा ?"

"कुछ नहीं, भैया। मैं गलीसे निकल रहा था। ध्यान नहीं दिया कि सेठजी आए हुए हैं। पर दो क़दम ही चला हूंगा कि इन्होंने गाली देनी शुरू कर दी।"

"गाली देनेकी कौन-सी बात थी ?"

"कहने लगे कि मुझे दुआ सलाम करनी चाहिये थी। बिना दुआ सलाम किए आगेसे निकल जाना बड़ा भारी कसूर है, भैया ?"

"क्यों भला ?"

"मैंने इनसे रुपए जो कर्ज ले रक्खे हैं। इसीलिये।"—अगले मोड़पर छोटू दूसरी ओर चल दिया। प्रदीप अपने घरकी तरफ बढ़ चला। छोटूकी बात सोच रहा था। एक तो वह महा दीन हीन,

कुछ भी हो, सड़कसे आराम काफ़ी हो गया था। पहलेकी कच्ची सड़क पर केवल बैल गाड़ी चल सकती थी, बरसातमें वह भी नहीं। अच्छी से अच्छी बैलगाड़ी कमसे कम दो घण्टेमें शहर पहुँच पाती थी और बैठने वालेके सारे जोड़ खुल जाते थे सो अलग। प्रदीप बैल गाड़ी में बैठनेसे बहुत घबराता था। आज ताँगेमें बैठकर वह मन-ही-मन सेठजीको धन्यवाद देने लगा।

खुली सड़क पर तांगा सरपट दौड़ने लगा। आगे बैठा निज़ाम मन-ही-मन कुछ गुनगुना रहा था। प्रदीपने एक बार चारों ओर देखा। कटे हुए खेतोंमें धूल उड़ रही थी। कहीं किसी ओर आदमीका पता-निशान नहीं था। उसने अपनी किताब खोली और पढ़ना शुरू कर दिया।

कितनी दूर वे चले होंगे सो प्रदीपको ध्यान नहीं रहा। एकाएक तांगेकी चाल धीमी पड़ी और फिर रुक गया। आगेकी ओर सड़कके किनारे एक देहाती स्त्री सिर पर भारी-सी गठरी उठाए, एक दूध पीते बालकको गोदमें लिए, दूसरे बालककी उँगली पकड़े खड़ी थी। गठरीके नीचेसे उसका मुख ठीक-ठीक प्रदीप नहीं देख पाया। हाँ, मैले-कुचैले, उड़े रंगके कपड़े देखनेसे जान पड़ता था कि वह अत्यन्त दरिद्र घरकी है। गोदका बालक एकदम सूखकर कांटा हो चला था।

अस्थिशेष मुखपर दो बड़ी-बड़ी निश्चल आँखें टुकर-टुकर शून्यको निहार रही थी। सहसा बालकको देखकर विश्वास करना कठिन था कि वह जीवित है। ऐसा लगता था मानो क़ब्रसे खोदकर निकाला गया हो। नीचे माँके बगलमें खड़ी लड़की कुछ सहमी-सी आँखोंसे मुँह बाए एकटक प्रदीपको देख रही थी।

निज़ामने बम्पर परसे झुक कर पूछा—

"क्यों, क्या बात है ?"

"बच्ची थक गई है, चला नहीं जाता। ताँगेमें बैठा लो, भगवान भला करेगा तुम्हारा !"—स्त्रीने अत्यन्त करुण-स्वरमें कहा

निज़ामने बिना उत्तर दिए घोड़ेकी रास हिलाई और टिटकारी देते ही घोड़ा आगे बढ़ चला। साथ ही लड़की धरती पर लोटकर चीत्कार कर उठी। प्रदीपने कहा—

"निज़ाम, ताँगा रोको।"

"जी साहब, आप भला किस-किसको देखकर तरस खाएँगे ? ये तो सड़क पर मिला ही करते हैं।"

"मैं कहता हूं तांगा रोको।"—प्रदीप घोड़ेकी रास पर हाथ डालता हुआ बोला।

निज़ामने रास खींच ली, पर साथ ही कहे बिना न रह सका—

"बिना बात आप घोड़ेको तंग करते हैं। कोई जवान छोकरी होती तो और बात थी। इस खूसटसे कुछ भी मतलब नहीं निकलेगा।"

प्रदीपने अनसुनी कर दी। हाथ हिलाकर उसने उस स्त्रीको बुलाया। वह लड़कीका हाथ छोड़ एक हाथसे गोदका बालक और दूसरेसे गठरी संभाले तांगेकी ओर लपकी। लड़की उसके पीछे-पीछे चली आ रही थी।

तांगे पर बैठकर स्त्रीने आंचलसे मुँहका पसीना पोंछा। जी चाहने पर भी प्रदीप उसको ध्यानसे नहीं देख सका। एक बार उस मृत-प्राय बालकको देखकर उसने अपनी आँखें फेर लीं और पढ़नेका उपक्रम करने

लगा। किन्तु ध्यान उसका जम न सका। निज़ाम गुनगुनाना बन्द करके स्त्रीसे बातें करने लगा।

"कहाँ जानां है भला?"

"शहर। चार महीने हो गए लड़केको न जाने क्या हो गया है। सूखता जा रहा है। गाँवमें बहुत दवा-दारू, टोना-टामन किया, कुछ फर्क नहीं होता। सुना है शहरमें डाक्टर बहुत अच्छा है, मरेको जिला देता है।"—एक ही साँसमें वह कह गई।

"तो यह गठरी और इस छोटी लड़कीको क्यों साथ ले जा रही हो?" निज़ामने पूछा।

"कहते हैं इलाज करानेके लिए वहाँ ठहरना पड़ेगा। जरूरतके लायक कपड़े-लत्ते और बर्तन साथ लाई हूँ। और लड़की…लड़कीको कहाँ छोड़ती?"

"इसके बापके पास।"—निज़ाम बोला।

"बाप होता तब तो। उसे तो मरे एक साल हो गया। इसी लड़के पर आस रख रही हूँ। किसी दिन यह जवान हो जाएगा। मेरे दिन कट जाएँगे।"

"अच्छा लाओ आठ आने निकालो।"—रूखे स्वरमें निज़ामने कहा।

स्त्रीने कुछ उत्तर नहीं दिया। निज़ाम घुड़क कर बोला—

"पैसे दो नहीं तो नीचे उतारे देता हूं"—और उसने घोड़ेकी चाल धीमी कर दी। स्त्री अब भी कुछ नहीं बोली। छोटी लड़की सहमकर रोने लगी। ताँगा रुककर खड़ा हो गया।

प्रदीपको गुस्सा और हँसी साथ-साथ आ रहे थे। निज़ामके इस अप्रत्याशित व्यवहारसे उसको ठेस लगी, किन्तु स्त्रीके साथ बातें करते-करते वह अचानक और इतने बदले स्वरमें पैसे जो मांग बैठा सो प्रदीपसे बिना हँसे भी न रहा गया।

निज़ाम उतरकर पीछेकी ओर चला। वह क्रोधकी मुद्रामें बड़बड़ा रहा था। प्रदीप समझ गया कि वह बलपूर्वक उस स्त्री, बच्चों और गठरी को तांगेसे उतारेगा। एक पलमें उसने घोड़ेकी रास हाथमें ली और सीट पर रखा हण्टर उठाकर चला दिया। घोड़ा भड़ककर उड़ चला। निज़ाम एक बार तो सहम कर एक तरफ़ हटा और फिर बकता-झकता तांगेके पीछे दौड़ने लगा। प्रदीपको खूब हँसी आ रही थी। बिना पीठ फेरे उसने कहा—

"अच्छी तरह संभलकर बैठो, नहीं गिर जाओगी !"

उत्तरमें उस स्त्रीने ताँगेके डण्डे मजबूतीसे पकड़ लिए, किन्तु ज़बान नहीं हिलाई। वह भी डरी-सी बैठी थी। छोटी लड़कीने रोना बन्द कर दिया।

दो फर्लाङ्ग पारकर प्रदीपने रास खैंची और पीछे मुड़कर देखा। दूर पर निज़ाम अब भी भागा आ रहा था। प्रदीप उसी तरफ़ देख रहा था। निज़ाम पास आकर धीमा पड़ गया। चिल्लाकर प्रदीप बोला—

"वायदा करो निज़ाम, बिना चँ-चप किए तांगा ले चलोगे।"—

"आप यह क्या मज़ाक कर रहे हैं, साहब, कहीं···।"

"जल्दी वायदा करो नहीं तो मैं फिर घोड़ेको चाबुक लगाता हूँ।"

"अच्छा बाबा वायदा करता हूं। मैं कुछ नहीं कहूंगा।"

"क़सम खाओ।"

"खुदा क़सम, कुछ नहीं कहूँगा।"—यह कहता निज़ाम एकदम पास आ गया। प्रदीप उसकी जगहसे हट गया। हाँपते-हाँपते निज़ाम पासमें बैठकर कुछ कहना ही चाहता था कि प्रदीप बोल पड़ा।—

"पहले सांस उतार लो, फिर बातें होंगी।"

तांगा चल पड़ा। एक नज़र प्रदीपने मुड़कर देखा। ग्रामीण स्त्री मलीन हँसीसे होंठ फैलाकर समेट रही थी।

शहरके बाहर एक कुएँके पास वे लोग रुके। प्रदीपने निज़ामसे कहा कि कुएँसे पानी खींचकर ले आए। प्यास लगी थी, ठण्डा मीठा जल पीकर प्रदीपकी तबीयत हरी हो गई। प्रदीपको पानी पिलाकर निज़ामने उस स्त्रीसे भी पानी पीनेको कहा। वह सूखे ओठोंको चाट-चाटकर ललचाई आँखोंसे पानीके डोलको देख रही थी। किन्तु पानी पीनेका प्रस्ताव सुनते ही उसने सिर हिलाकर ना कर दी। निज़ामने पानी फैंक दिया और जाकर डोल और रस्सी कुएँ पर रख आया। लौटकर देखा कि वह स्त्री बच्चेको ताँगेमें लिटाकर नीचे खड़ी है। उसको हाथसे ताँगेमें बैठनेका संकेत करके वह ऊपर चढ़ना ही चाहता था कि वह बोल उठी—

"थोड़ी देर ठहर जाओ। मैं पानी पी लेती हूँ।"

"और अभी मैं क्या ज़हर पिला रहा था?" निज़ाम बिगड़कर बोला।

"झूठी बात। मैं मुसलमानके हाथका पानी भला कैसे पी लेती? धरम, करम नहीं डुबाया जाता।"—अत्यन्त सहज भावसे देहातिनने कहा।

"क्या जात है तेरी ?"

"अहीर।"

"तो पण्डिताइनजी मुसलमानके तांगेमें क्यों कर बैठ गई तू ?"

"वह दूसरी बात है।"

लपककर निज़ामने देहातिनकी गठरीको नीचे गिरा दिया और फिर उसके बच्चोंको उतारनेके लिये बढ़ा। स्त्री बीचमें पड़ गई। छोटे बच्चेको उसने जब तक उठाया, तब तक बालिकाको उठाकर निज़ामने खिलौनेकी तरह नीचे रख दिया। बगलमें जाकर उसने घोड़ेको ललकारा और उसके ऊपर चढ़नेसे पहले ही तांगा बढ़ चला।

अबकी बार प्रदीप कुछ नहीं बोला। बीचमें पड़नेको उसका जी भी नहीं चाहा। बगलमें बैठ कर निज़ाम बोला—

"देखा आपने ?"

प्रदीप केवल मुस्कराकर रह गया। वह कह भी क्या सकता था ? गहन दारिद्रयके बीच भी वह देहातिन जिस धर्म-कर्मकी पूँजीको सुरक्षित रखनेको लालायित थी, वह प्रदीपके लोभको न जगा सकी।



१४

प्रदीपके दिन गाँवमें बीतने लगे। वह सुबह घूमने जाता, लौटकर चाय इत्यादिसे निमट, पढ़ने बैठ जाता। पूरा एक साल उसने बिना पढ़े बिता दिया था; दस-बारह महीने बाद उसे एम० ए० की परीक्षा देनी होगी, यह सोचकर वह कभी-कभी घबरा उठता। फिर भी वह अधिक कुछ नहीं कर सका। यदि उर्मिला उसके पास बैठी होती तो वह उसे कुछ करने न देती, और पास नहीं होती तो वैसे उसका जी नहीं टिकता। किसी न किसी बहाने उर्मिलाको ऊपर बुला भेजता। दोपहरको नहा-खाकर वह सेठजीकी गद्दी पर अखबार पढ़ने चल देता। वहाँ गांवके सभी पढ़े-लिखे आदमी और छुट्टियोंमें आए स्कूल-कालेजके छात्र इकट्ठे होते थे। रोज ही प्रदीप किसी न किसी बहसमें पड़ जाता और बहुत बार तो शाम करके ही उठता। वह अकेला एक ओर और अन्यान्य सब दूसरी ओर—दंगलका अधिकतर यही रूप रहता था। किसी भी बात पर वह रूढ़िवाद, धर्म अथवा अन्य संकुचित विश्वासोंका आश्रय लेना नहीं चाहता था। भगवान और हिन्दू-धर्मका मज़ाक जब वह उड़ाने लगता तो बहुतसे लोग तिलमिला उठते, किन्तु किसी दिन भी वह न झिझका, न घबराया। विचार और भावनाकी समस्त परम्पराको चुनौती देनेमें उसे अत्यन्त आनन्द आता था।

अनीश्वरवादी और धर्म-विरुद्ध मोर्चेमें उसे एक साथी अवश्य मिला। किन्तु रणवीरके अविश्वासकी जड़में जहां "ऋणं कृत्वा घृतं

पिबेत" की प्रवृत्ति थी, वहां प्रदीपको पुरातन समाजके कुसंस्कारोंका उच्छेदन करके नवीन विश्वासोंका बीजारोपण करनेकी भावना प्रेरित करती थी। यद्यपि वह अभी कम्युनिस्ट नहीं हो पाया था, किन्तु मार्क्स और लेनिनकी वाणी उसके मानस पर गहन छाप डाल चुकी थी। रणवीर शिक्षित था, समझ-बूझ भी उसमें थी, किन्तु वह किसी दिन भी सदाचारमें आस्था नहीं रख पाया। लोग कहते थे कि अपने मद्यपान और व्यभिचारके कारण ही बहुत ऊँचे सरकारी ओहदे पर पहुँच कर भी वह आज अत्यन्त गर्हित अवस्थामें ग्रामीण जीवन बिता रहा था। प्रदीप को रणवीरसे स्नेह था। एक दिन भी वह रणवीरके विरुद्ध लगाए गए अभियोगों पर कान देनेको तैयार न हुआ। रणवीर भी उसे खूब मानता था और सदा उसकी सहायताके लिये तत्पर रहता। एक दिन जब सूबेदार बद्रीनाथ मनु-स्मृतिके बलपर किसी अन्ध-विश्वासका समर्थन कर रहे थे, तो शूकरके मांससे पित्रोंकी तृप्ति वाला श्लोक सुनाकर प्रदीपने उन्हें भड़का दिया और वे लाठी लेकर मारने दौड़े। रणवीर यदि उस दिन न होता, तो प्रदीपकी रक्षा नहीं हो सकती थी। किन्तु उसके केवल उठकर खड़े हो जानेसे ही सूबेदारका हाथ रुक गया।

हाँ, राजनीतिके क्षेत्रमें अवश्य प्रदीपको अकेला रहना पड़ता था। रणवीरको मानो इन बातोंमें कोई दिलचस्पी ही नहीं थी। या तो वह उठकर चल देता अथवा चुपचाप बैठा रहता। प्रायः रोज ही अखबारी खबरों पर सब लोग युद्धके विषयमें अनुमान लगाया करते कि पासा किस ओर पलट रहा है। और प्रदीपके सिवाय सबकी यही राय रहती कि हिटलर और जापानकी विजय अवश्यम्भावी है। प्रदीप कहता कि हिटलर बेटाको फाँसी मिलेगी।

उस दिन अखबार पढ़कर लौट रहा था प्रदीप। रास्तेमें ब्राह्मणोंकी चौपाल पड़ती थी। वह अपने विचारोंमें मस्त, किसीका ध्यान किये बिना वहाँसे निकल जाता; किन्तु अपने नामकी पुकार सुनकर रुक गया। चौपालमें बहुतसे आदमी बैठे थे। उनमें सूबेदार बद्रीनाथ इत्यादि तो एक-दो गाँवके प्रतिष्ठित मुखियाओंमें गिने जाते थे। पुकारनेवाला चन्द्रदेव गाँवमें नव-प्रतिष्ठित वैद्य था। बहुत अरसे तक बाहर पढ़नेके पश्चात् वह हाल ही गाँव आया था। हाँ, नमक-सत्याग्रहके दिनोंमें वह गाँधी टोपी पहनकर तिरङ्गा झण्डा लिये जेल-यात्रा जो कर आया था, इसलिये गाँवके कांग्रेसवादियोंमें अब भी उसकी थोड़ी-बहुत पूछ थी। प्रदीप चौपालपर चढ़कर बोला—

"क्या बात है, वैद्यजी?"

"तनिक बैठो, बात भी करेंगे।"

प्रदीप चारपाई पर बैठकर प्रश्नकी बाट जोहने लगा। वातावरण और लोगोंकी मुखाकृति देखकर वह समझ गया था कि अवश्य कुछ विशेष बात लेकर ये बैठे हैं। कन्हैया मुन्शी, लक्ष्मण मिस्सर, धनसिंह पहलवान इत्यादि साधारणतया साथ बैठनेवाले जन्तु नहीं थे। प्रदीपको उत्सुकताने धर दबाया। बद्रीनाथको सम्बोधित कर बोला—

"आज कैसी सभा बैठी है, दादा!"

"सभा तो क्या, यों ही हमलोग बैठकर तुम्हारे बारेमें सलाह कर रहे थे।"

"मेरे बारेमें!"—कुछ चञ्चल होकर प्रदीप बोला।

"हाँ, लोगोंका ख्याल है कि गाँवमें तुम जो अंग्रेज़ोंका परोपगण्डा कर रहे हो, वह ठीक नहीं। उसे बन्द करना होगा।"—गम्भीर भावसे बद्रीनाथने कहा।

"मैं, अंग्रेज़ोंका प्रोपगैण्डा करता हूं! किसने बहका दिया आपको!"—वास्तविक विस्मयसे प्रदीपका स्वर दृढ़ हो चला।

"बहका नहीं दिया, बाबू! यह सच बात है। इसका जवाब देना होगा!"—उत्तेजित स्वरमें चन्द्रदेव चिल्ला उठा। उसकी लाल-लाल आँखें और क्रोधमय भंगिमा देखकर एक बार तो प्रदीप सचमुच डर गया; किन्तु उसको संभलते देर नहीं लगी। बोला—

"देखिये वैद्यजी, बात करनेमें यदि आप कण्ठ-स्वरकी अपेक्षा बुद्धिका प्रयोग अधिक करें, तो अच्छा होगा।"

"बकबास बन्द करो, नहीं तो······!"—चन्द्रदेव उठकर खड़ा हो गया। उसकी मुख-मुद्रा देखते ही बनती थी। प्रदीप समझ गया कि वह मार-पीट करना चाहता है। बड़े संयत भावसे बोला—

"अगर आप मुझसे लड़ना चाहते हैं, तो यह वाद-विवादका बहाना क्यों लिया? सीधे आकर मेरी गर्दन पकड़ लेते। शरीरमें आप अधिक बलवान हैं; किन्तु बल प्रयोगसे क्या किसी बातका फैसला हो जाता है? आप बड़ी भारी भूल कर रहे हैं, वैद्यजी!"

धनसिंह पहलवान बैठा देख रहा था। उसके भावमें अभी तक भारी उदासीनता थी। प्रदीपकी बातसे वह प्रभावित हो गया। चन्द्रदेवका कुर्ता पकड़कर नीचेकी ओर खींचता हुआ बोला—"ओ बैदजी, तू भी यार फालतू काम अपने सिर लेता है! सिर फोड़नेकी नौबत आए, तो

मेरे कानमें कह दियो। बेशक नबज बढ़िया देखता है, तेरे चूरणमें भी बड़ा असर है। पर यार, बात करनी नहीं सीखा। इस बाबूसाहबको बोल्ने तो दिया होता। बैठ जा। टुक ठण्डा हो ले।"

वैद्यजीको जैसे साँप सूँघ गया। चुपचाप बैठ गये। धनसिंह प्रदीप से बोला—

"हाँ भई बाबू, तू कह अपनी बात।"

प्रदीपको सारे काण्ड पर हँसी आ रही थी। पर उसको दबाकर बोला—

"मैं कह रहा था कि मुझे अंग्रेज़ोंका प्रोपगैण्डा करनेवाला कैसे समझ लिया? मैं तो अंग्रेज़ोंसे उतनी ही नफ़रत करता हूं, जितनी आप, शायद ज्यादा।"

"तो फिर तुम यह क्यों कहते फिरते हो कि अंग्रेज़ लड़ाईमें जीतेंगे?"—सूबेदार बोला।

"यह तो मेरा अपना विचार है। उसमें भला अंग्रेज़ोंका प्रोपगैण्डा कैसे हो गया? जो बात मैं समझता हूं, होनेवाली है, उससे इन्कार कैसे कर दूँ?"

"मैं सब समझता हूँ, तुम्हारे ढङ्ग। अब पढ़ाई खत्म होनेवाली है। सरकारी नौकरी चाहिये तुमको! इसीलिये तो अब गांधी-आश्रममें जाकर चमार-सेवा करना छोड़ दिया।"—वैद्यजी तमककर कह गये।

प्रदीप न उस तरफ़ देख सका, न बातका उत्तर दे सका। हाँ, उसे आघात-सा अवश्य लगा। वह उठकर चल पड़ा। सहसा किसीने उसे रोका नहीं।

रास्तेमें वह यही सोचता जा रहा था कि इन लोगोंकी देश-भक्ति एक अन्ध-संस्कारसे अधिक कुछ नहीं। विचारकी एक पद्धति कुछ नेताओंने बाँध दी, भावनाकी कुछ लीकें पड़ गईं—बस इनके विरुद्ध सोचने-बोलनेवाला देश-द्रोही है। यही तो।

अचानक किसीने पीछेसे उसके कंधेपर हाथ धर दिया। सिर घुमाकर प्रदीपने देखा—धनसिंह पहलवान था। पहलवानके चेहरेपर उसकी वृहद् मुस्कानका बहाना लेकर उसके सुन्दर, श्वेत दाँत फैले पड़ रहे थे, नयनोंमें गहन आत्मीयता चमक रही थी। प्रदीपकी पीठ थपकते हुए पहलवान बोला—

"तू ठीक कहता हैं बाबू, सोलह आने ठीक।"

"क्या ठीक कहता हूं?"—आश्चर्यके भावसे प्रदीप बोला।

"लड़ाईमें अंग्रेज़ जीतेंगे। भला जिधर किरपाल जैसे हठीले, उठती उमरके जवान खांडा बजा रहे हों, उधर हारका क्या काम?"

"किरपाल कौन?"

"किरपालको तू नहीं जानता! मेरे छोटे भाईको नहीं देखा! पर तू क्या गाँवमें रहता है, यार!"—कहकर पहलवान हँसने लगा।

"ओ! तो किरपाल लड़ाईमें गया हुआ है क्या?"

"एक सालसे। सिपाहीमें भर्ती हुआ था, अब जमादार है। कोटपर कई बिल्ले लगाता है। मिसरसे चिट्ठी आई थी परसूँ। ले पढ़ ले, हाल मालूम हो जाएगा।"—कहते-कहते पहलवानने अंटीमें से एक मुड़ा-तुड़ा लिफाफा निकालकर प्रदीपके हाथमें थमा दिया। प्रदीपने उसे खोलकर भीतरका पुरजा निकाला। रोमन अक्षरोंमें लिखी ग्रामीण-भाषा

थी। उसमें लड़ाईकी कोई खबर नहीं थी। अपना कुशल-समाचार लिखने के बाद किरपालने गाय-भैंस, खेती-बाड़ीके बारेमें पूछताछ की थी। आधी चिट्ठीमें आस-पड़ौसके बड़े बूढ़ोंके नाम लिख-लिखकर राम राम, पालागां, नमस्ते इत्यादि जताया था। सारा पत्र प्रदीपको अत्यन्त रोचक लगा। किन्तु उसकी समझमें नहीं आया कि पहलवानको उसमें से लड़ाईकी खबर क्यों कर मिली। चुपचाप उसने वह पत्र लिफाफेमें डालकर लौटा दिया। पत्रको अंटीमें लगा, पहलवान उसकी ओर झुककर बड़े धीमे स्वरमें बोला—

"और देख, बाबू! इन गांधीवालोंसे घबराना नहीं। बैद तो बदमास है। कभी फिर ऐंठ दिखाये, तो मेरा नाम ले देना। हाथ तो लगा दे तेरे, ऐसा ठोकूँ अक बेटा सारी हकीमत भूल जाय।"

प्रदीपका घर आ गया। पहलवान आगे बढ़ गया। प्रदीपकी समझ में नहीं आ रहा था कि पहलवानकी सहानुभूतिका क्या अर्थ लगाये।

घरमें घुसते ही माँने सुनाया कि ससुरालसे आये समाचारके अनुसार कल सुबह ही उर्मिलाको लेनेके लिये शहरसे ताँगा आयेगा। प्रदीपने उत्तर नहीं दिया। वह चुपचाप ऊपर जाकर पढ़ने लगा। उर्मिला पलंगपर पड़ी बेखबर खर्राटें भर रही थी।

उस रात आसन्न वियोगसे व्याकुल-सी उर्मिला उसके शरीरसे लिपट-लिपट कर पुनर्मिलनकी तिथि पूछने लगी। उसके दिलको दुःख न पहुँचे, केवल इसीलिये प्रदीपने भी थोड़ा-बहुत अभिनय किया। किन्तु उसका अन्तर कह रहा था—"चलो, छुट्टी मिलेगी।"

१५

किन्तु उर्मिलाके चले जानेपर प्रदीपको ज्ञात हुआ कि आदमीके अनजाने ही भावनामें अनेक गाँठें लग जाया करती हैं। वह सोचता था कि उर्मिलाके जानेके बाद वह खूब पढ़-लिख सकेगा। वास्तवमें उर्मिला उसे कुछ करने नहीं देती थी। पासमें बैठते ही छेड़ना, तंग करना, उसकी आदत थी। फिर बात तो उसकी कभी शेष ही नहीं हो पाई। अजस्र गतिसे वह बिना पूछे, बिना प्रसंगके, इधर-उधरकी सुनाने बैठ जाती और उसको नाराज किये बिना चुप करना असम्भव था। इसके सिवाय वह जरा-जरा-सी बात पर रूठकर रोने बैठ जाती। हँसी-मज़ाक तो जैसे उसने सीखा ही नहीं था। बस, सब बातोंपर मुँह फुलानेको तैयार रहती। प्रदीपको बहुत झुँझलाहट होती, उसे बचपन बिल्कुल पसन्द नहीं था। वह चाहता था कि उर्मिला यदि आत्म-स्वातन्त्र्य नहीं, तो आत्म-निर्भरता कम-से-कम अवश्य दिखाए। पर उधर सिवाय छिछोरेपनके दूसरे स्वभावकी गुंजायश ही नहीं थी। बहुत बार अत्यन्त दुःखित होकर प्रदीप मन-ही-मन कहता कि देखो, बैठे-बिठाए वह कैसी आफत मोल ले बैठा। कौन निभाएगा सारा जीवन इसके साथ? यह तो उसके अरमानोंकी होली जलानेमें सहायक होगी। कई बार उसने सोचा कि शायद कुछ समझानेसे अथवा पढ़ाने-लिखानेसे वह सम्भल जाय, सुधर जाय। किन्तु उर्मिलाकी भावनाएँ इतनी संकुचित, इतनी छिछली थीं कि प्रदीपकी सब चेष्टाएँ बेकार रहीं।

फिर भी उसका एक और सम्बन्ध उर्मिलासे बढ़ चला। मनका मेल नहीं खाता था, रुचिके विरुद्ध वह मानसका प्यार भी नहीं उड़ेल सकता था ; किन्तु शरीरकी उद्दाम वासना, कभी भी कम न पड़नेवाली भूख, उसे सदा उर्मिलाके सहवासके लिये प्रेरित करते रहते थे। वही भूख बहुधा प्रचण्ड होनेपर उसके अन्तरमें उमड़ती उदासीनताका गला दबा लेती थी। जैसे कोई चिल्ला-चिल्लाकर उससे कहता—"तू अपने कर्तव्य से भाग रहा है। तू पुरुष है, केवल इसीलिये तुझे स्त्रीके गुणावगुण परखनेका दावा है, अन्यथा क्या तेरेमें ऐब नहीं ? अपने गिरेबानमें मुँह डालकर देख।"—और वह समझ जाता कि यह संस्कारोंके प्रति संज्ञोप-लब्ध होकर भी संस्कारोंको मानकर चलनेवाली सुनयनाकी आवाज़ है। ऐब उसमें है, वह मानता है। किन्तु किसी बराबरके व्यक्तित्वसे पाला पड़े, तभी न वह अपनी दुर्बलताओं पर लज्जित, कुण्ठित हो। यह जो पूर्ण विकसित नारी-देह लिये एकका आत्मपोषक, स्वार्थी, फिर भी अन्याश्रित शिशुका-सा व्यक्तित्व है, उसके साथ वह क्या करे। अजीब उलझन थी।

उर्मिलाके चले जानेपर वह पढ़ने-लिखनेको आसन मारकर बैठा ; समाधिस्थ होनेकी सब चेष्टाएँ बेकार गईं। न-जाने उसे क्यों वह कमरा, वह वातावरण अपूर्व रूपसे सूना-सूना लगने लगा। पहले तो उसे विश्वास ही नहीं हो पाया कि वह एक ऐसे व्यक्तिका अभाव अनुभव कर रहा है, जिसके प्रति प्रेम तो क्या, आदरका भी भाव वह नहीं रख सका था। पर धीरे-धीरे वह समझ गया कि उचाटी वास्तवमें उर्मिलाके कारण ही है। वह चली गई, तो अपने साथ अपना छोटा-सा संसार

भी समेट ले गई। उस संसार पर प्रदीपको विशेष मोह हुआ हो, सो बात नहीं थी, फिर भी कमरेका परिष्कृत रहना, कपड़े-लत्तेका व्यवस्थित प्रबन्ध, खानेके समय माँके दुरूह हटके स्थानमें एक स्नेहशील तत्परता और सोते समय बिस्तरेकी सुचारु सज्जा—इन सबको वह अपने जीवनका आवश्यक सरो-सामान बना बैठा था, अनजानेमें ही, बिना सोचे-विचारे। इसके सिवाय घरमें एक तरुण स्त्रीकी मौजूदगी, बातचीत, चलना-फिरना घरको अधिक सजीव बनाये रखते थे। ग्रीष्मकी चाँदनी और अन्धेरी रातोंमें तारों भरे आकाशके नीचे वह जो इतने दिन तक एक स्वस्थ एवं सुडौल नारी-देहको बाहूपाशमें भरकर सोया, सो अब रातोंका रीतापन उसे काटने दौड़ता था। प्रायः नित्य ही अत्यन्त विकल भावसे वह आधी पिछली रात तक करवटें बदलता रहता।

और धीरे-धीरे उर्मिलाकी छिछली, आकर्षणहीन, उद्वेगकारी मूर्त्ति उसके मानससे खिसकने लगी। उसके स्थानमें उभरती जा रही थी एक अन्य नारी-मूर्त्ति—जिसमें अपरिमेय यौवन था, अतुलनीय सौंदर्य और अजस्र, गम्भीर प्यार। इस नूतन उर्मिलाने पुरानी उर्मिलाको नितान्त झुठला दिया। प्रदीपको सचमुच ही संशय होने लगा कि वह उर्मिलाके विषयमें भारी भूल तो नहीं कर बैठा। भूखा यौवन समझ ही नहीं पा रहा था कि नारी भी कुरूप, कुत्सित और कुचेष्ट हो सकती है।

अब प्रदीप घरमें नहीं बैठ सकता था। गांवमें और कहीं भी जानेको उसका जी नहीं चाहता था। वह खाना खाकर दोपहरकी जलती धूपमें गांवके बाहर निकल जाता और तीन-चार फर्लाङ्ग पार करके दूर एक छोटे जलाशयके किनारे लगे नीम, पीपल और शीशम तले बैठकर पढ़ता

अथवा अनाड़ी फूँक और उँगलियोंसे बाँसुरीके पीछे पड़ गहन वेदनापूर्ण आत्म-निवेदनकी असफल किन्तु अथक साधना करता। दो-चार बार कविताका प्रयास किया, वह भी रुलाई आ जानेके कारण बीच ही में छोड़ देना पड़ा। सांझ हुए ही वह घर लौटता। अखबार पढ़ना वह छोड़ बैठा, वाद-विवाद भी। अनेकों बार रणवीरने अथवा सूबेदार बद्रीनाथने उसे बुला भेजा ; किन्तु तबीयत खराब कहकर उसने जान बचा ली। उसे सिवाय उर्मिलाके कुछ नहीं सूझता था। जिस संसारमें उर्मिला नहीं थी, उसमें सूनेपनके अतिरिक्त कुछ भी देखनेको तैयार वह नहीं हो सका।

दोपहरमें जिस स्थान पर जाकर वह बैठता था, उसके पीछे खेत पड़ते थे। आजकल वहां कोई फसल नहीं थी। चने कट जानेके बाद कहीं-कहीं भुसके ढेर पड़े थे। शायद ही कोई इधर आता-जाता हो, अधिकतर खूब एकान्त रहता था एक दिन सन्ध्या समय वह बांसुरी पर एक करुण-गीतकी लय निकालनेमें असफल रहकर रुका त्योंही पीछेसे हलकी, निर्मल हँसीकी आवाज़ सुनकर चौंक उठा। मुड़कर देखा रशीदकी बहू खड़ी है। वह लाल रङ्गका चित्तीदार, चुस्त सुत्थन, लाल पंजाबी जूता, हलके हरे रंगका चौड़ी धारीदार पूरी आस्तीनवाला नीचा कमीज जिसमें उसके उरोजोंका उभार देखनेवालेकी दृष्टि उलझा लेता था और सिरको आधा ढककर कमर पर लटकने वाली पीली, गोटेदार मोटी ओढ़नी। श्यामल, सरूप मुखकी तनिक नुकीली चिबुकको एक हाथकी तर्जनी और अँगूठेके बीच थाम दूसरे हाथको कटि पर टिका वह मन्द भावसे अत्यन्त सरल हँसी-हँस रही थी। प्रदीपके मुड़कर देखते ही एक कटाक्ष चलाकर वह स्निग्ध-स्वरमें बोली—

"तुम तो बड़े रसिया हो, देवर !"

प्रदीपने कुछ उत्तर नहीं दिया। सिर झुकाकर उसने हाथकी बाँसुरी को जमीन पर रख दिया।

रशीदकी बहू कुछ आगे बढ़कर फिर बोली—

"भाभीको बाँसुरी नहीं सुनाओगे, देवर ?"

"मुझे बाँसुरी आती कहाँ है ? मैं तो यों ही......।"

"बस, वैसी ही सुना दो। तुम्हारी सौगन्ध, मुझे बड़ी अच्छी लग रही थी। देखो तो, कितनी दूरसे चलकर आई हूँ।"

"कहाँसे चलकर आई हो भला ?"—कुछ उत्सुक-सा होकर प्रदीप बोला।

"वह देखो, वहाँ जो वह भुसकी ढेरी है न, वहींसे।"—पाँच-सात क्यारी छोड़कर एक खेतकी ओर उँगली उठाते हुए रशीदकी बहूने कहा।

"ओ ! वह तुम्हारा खेत है क्या ?"

"हाँ। भूसा लेने आई थी। गट्ठर बँधा रखा है। चलो, एक हाथ लगाकर सिरपर उठवा दो ना, देवर !"

"हाँ, जरूर, चलो !"—और अपनी किताबें इत्यादि समेटकर प्रदीप उसके साथ हो लिया। चलते-चलते वह बोली—

"अभी तुम गाँवमें ठहरोगे क्या ?"

"हाँ, अभी तो मेरी छुट्टियाँ बाकी हैं।"

"तो फिर बहूको इतनी जल्दी क्यों भेज दिया ? तुम जाने लगते, तो छोड़ आते। अब जी नहीं लगता होगा, तभी तो बस्तीसे भागकर यहाँ......"

अभी उसकी बात पूरी नहीं हो पाई थी कि पीछेसे "हट-हट"का स्वर सुनकर दोनों चोंक पड़े। पीट फेरकर देखा कि एक गाय बड़े द्रुत वेगसे उनकी ओर भागी आ रही है और उसके पीछे एक नौ-दस वर्षका लड़का लकड़ी लिए चिल्लाता हुआ आ रहा है। दोनों जने भागकर एक तरफको हो गए और पलक मारते गाय और उसका रखवाला बराबरसे निकल गये। वे फिर आगे बढ़ने लगे। रशीदकी बहूने पूछा—

"गाय मुझे मारने दौड़ती, तो तुम क्या करते, देवर?"

"अपनी जान बचानेके लिये भाग निकलता।"—प्रदीप ने हँसकर उत्तर दिया।

"तब तुम काहेको मरद बने फिरते हो। चूड़ियाँ पहनकर घरमें बैठ रहो ना।"

"मरदका काम क्या औरतकी रक्षा करना ही है।"

"मरदको अगर औरत चाहिये, तो उसकी रक्षा करनी पड़ेगी, उसे खिलाना-पिलाना पड़ेगा। औरत क्या मुफ्त ही मिल जाती है, देवर!" —फिर एक कटाक्ष चलाकर वह खिलखिलाने लगी। प्रदीप कुछ नहीं बोला। थोड़ी देर दोनों चुपचाप चलते रहे। ग्रीष्मकी सांझका भीरु अन्धकार अटक-अटक कर पांव बढ़ा रहा था। चारों ओर एकदम सुनसान होनेसे उनके पैरों तले कुचले जानेवाले तिनके-पत्ते चीत्कार कर उठते थे।

"अच्छा, दीप देवर! क्या सचमुच तुम खुदाको नहीं मानते?"— रशीदकी बहूने फिर बातका क्रम जोड़ा।

"नहीं, मैं खुदा-वुदा कुछ नहीं मानता।"

"नरक-सुरग भी नहीं मानते ?"

"ना।"

"पाप-पुन !"

"पाप-पुनसे तुम्हारा क्या मतलब ?"

"यही जो दुनिया मानती है। तुम्हारे मज़बमें और हमारेमें भी बहुतसे कामोंको अच्छा बताया है, बहुतोंको बुरा। बुरा-भला तो है ही, है क्यों नहीं।"

"हां, बुरा-भला तो है।"

"पर खुदाका डर अगर नहीं हो तो आदमी बुरे-भलेकी पहचान क्यों करने लगा ?"

"दुनियाका डर भी तो है।"

"जाने भी दो, देवर, दुनियासे कौन डरता है। मैं अगर तुमको पकड़ कर अपना जी भर लूँ तो दुनियाका डर कैसे रोक लेगा ! यहां मुझे देखनेवाला कौन है ?"

"तो खुदा ही कौन-सा तुम्हारा हाथ पकड़ने आएगा ?"

"खुदा तो सब देखता है ना।"

प्रदीपको हंसी आ गई। इस स्त्रीके अन्तरमें चलता हुआ वासना और धर्मबुद्धिका द्वन्द उससे छुपा न रह सका। बातको आगे बढ़ानेकी उसे तनिक भी उत्कण्ठा नहीं थी। भुसकी ढेरी पास आ गई थी। वह बोला—

"चलो उठाओ अपना गट्ठर, देर हो रही है।"

"टुक ठहरो, नमाज़का वक्त है। मैं पलक झपते पढ़ लेती हूँ। इतने तुम बैठ जाओ। पर बांसरी मत बजाना।"—कह कर रशीदकी बहू एक तरफको हट कर अपने सिरकी ओढ़नी धरती पर बिछाने लगी।

प्रदीप एक भुसकी अलगसे बनी ढेरी पर बैठ गया। उसको इस स्त्रीके प्रति घोर कौतूहल हो रहा था। यह उसके पड़ौसमें सल्लन तेलीकी पुत्र-वधू थी। प्रदीपको उसके विषयमें सुनी कुछ बातें याद हो चलीं। रशीदने शहरमें नौकरी की थी। बचपनमें जिस गांवकी लड़कीसे उसका ब्याह हुआ था, भाग्यवश वह मर गयी। कुछ ही दिन बाद वह शहरसे यह नई बहू ब्याह कर लाया था। सुना जाता था कि वह किसी मौलवीकी लड़की थी। कुछ पढ़ना-लिखना जानती थी। गांवके मुसलमानोंमें इस्लामका असर सुन्नत कराने और मुसलमानी ढंगके नाम रखनेसे आगे नहीं बढ़ता था। ब्याह-शादीके मौके पर शहरसे मौलवी आकर निकाह करा जाता, ईद इत्यादि कुछ त्योहार भी मानते थे, रोजे रखनेका भी रिवाज़ था। किन्तु कुरान-पाठ करना अथवा नमाज़ बजाना तो मरद भी नहीं सीखे थे। इसलिये रशीदकी बहू जब पहले पहल गांव आई और लोगोंने सुना कि वह कुरान पढ़ती है और पाँचों नमाज़ बजाती है तो कुछ दिन चर्चा रही। फिर अनेकों और बातोंकी तरह यह भी पुरानी पड़ गई। किन्तु वेश-भूषा, बोल-चाल सब बातोंमें यह गांवकी अन्य औरतोंसे अलग थी। साल छः महीनेमें दस-पाँच दिनको कभी रशीदके साथ आती थी। रशीद इसका पूरा ताबेदार था।

इसके बाद अचानक रशीद मर गया। उसकी बहूको सल्लन अपने साथ गाँव ले आया और एक बरस बाद अपने छोटे लड़के हमीदूसे

उसका निकाह कर दिया। हमीदूको सांसकी बीमारी थी। रशीदकी बहूने बहुत कहा कि मुझे जीतीको मत दफ़नाओ, किन्तु औरत जातकी कौन सुनता। पर वह अपने हठकी पूरी निकली। हमीदूकी ओढ़नी ओढ़ और चूड़ी पहनकर भी वह न एक दिन उसकी खाट पर चढ़ी, न हमीदूकी बहू कहकर पुकारने पर बोली। कुछ मार-पीट हुई, जोर-जबर किया गया, पर वह अपनी बातसे नहीं डिगी। धीरे-धीरे फिर सब उसको रशीदकी बहू कहने लगे।

नमाज़ खत्मकर रशीदकी बहूने ओढ़नी ओढ़ ली। फिर बोली—

"लो, देवर, हाथ लगाओ।"

प्रदीपने आगे बढ़कर गट्ठर उठवा दिया। इस प्रयासमें उसे रशीदकी बहूके अत्यन्त निकट खड़ा होना पड़ा। औरतके सिर पर गट्ठर पहुँचते ही दोनोंकी आँखें चार हो गयीं। उन दो आँखोंमें न जाने क्या था, प्रदीपकी नस-नसमें बिजली दौड़ गई। बड़ी कठिनतासे उसने अपने आपको संभाला, अन्यथा वह रशीदकी बहूके श्रमसे रक्तिम, श्यामल, स्निग्ध गाल पर अपने प्यासे होंठ छुआ बैठता।



१६

प्रदीप की छुट्टियां समाप्त हो चली थीं। दो-चार दिनमें वह दिल्ली लौट जाएगा। सुनयनासे मिलनेकी उमंगमें उसका दिल नाच उठा। एक दिन भी वह सुनयनाको भूला हो, ऐसी बात नहीं थी। जीवनकी सब अनुभूतियोंके छोर पर जिस मधुर देशमें प्रदीप बार-बार जाकर सिर छुपा लेता था, वहां सुनयना और उसके प्यारके बीच किसी प्रकारकी दीवारें नहीं बच पायीं थीं। किन्तु उस स्वप्न-लोकको धरा पर उतार लानेका मोह प्रदीपको एक दिन भी नहीं हुआ। वह जानता था कि ऐसी अनधिकार चेष्टा करते ही वह कठोर सत्यके उस प्रदेशमें पहुँच जायेगा, जहाँ सिवाय निराशा, कटुता और अपमानके सहेजनेको कुछ नहीं मिलता। सुनयना स्वप्न रहे—किन्तु रहे तो।

गाँव आकर अनेक बार उसका जी चाहा था कि सुनयनाको पत्र लिखे। किन्तु क्या लिखे—यह समस्या बार-बार सामने आई और वह पत्र लिखनेका प्रयास भुला बैठा। एक और भी बात थी। सुनयना अब उसकी छात्रा तो रह नहीं गई थी। एफ० ए० की परीक्षा वह दे चुकी थी। बी० ए० में वह पढ़ेगी भी कि नहीं, और पढ़ेगी तो प्रदीपको पुनः उसे पढ़ानेका अवसर मिलेगा—ये सभी बातें अनिश्चित थीं। किन्तु तात्कालिक दृष्टिसे तो प्रदीपका उससे सम्बन्ध टूट ही चुका था। तो प्रदीप क्या बहाना लेकर उसे पत्र लिखता? फिर उसे यह भी डर लगता था कि कहीं पत्रके शब्दोंमें उसका पूँजीभूत प्यार फड़क उठे

और कोई अनर्थ हो जाए। इतने दिन तक वह अपने ऊपर संयम किए बैठा रहा। सुनयनाका परीक्षा-फल भी उसने समाचार-पत्रोंमें देखा— एक बार इच्छा हुई कि बधाईका पत्र भेज दे। पर जब उसने सोचा कि ऐसे अनेक पत्रोंमें दबकर उसका पत्र भी रद्दीकी टोकरीमें पहुँच जाएगा, तो उसके हाथसे कलम छूट पड़ी।

किन्तु आज वह अपने आपको नहीं रोक पाया। दो लाइन लिख ही बैठा। उसे कब मालूम था कि वह पत्र आगे चलकर एक भूल धारणा की सृष्टि कर डालेगा? पत्र में परिमित से शब्द थे :—

सुनी,

छुट्टियां मेरी समाप्त हो चलीं। दो दिनमें दिल्ली आऊँगा। तुम्हें परीक्षा पास करनेकी बधाई देना मेरे सिर है—पर तुम्हें भी मिठाई खिलानी होगी। और क्या लिख सकता हूँ?

सस्नेह

प्रदीप

पत्रके अन्तिम शब्दोंमें प्रदीपकी सारी बेबसी मौन भावसे कराह उठी। "और क्या लिख सकता हूँ?" सच, कुछ भी तो लिखनेका अधिकार उसे नहीं था। अन्यथा लेखनीको मुखरित करनेके लिये प्रदीपके पास प्रगाढ़ माधुर्य, अजस्र भावना, अथाह चिन्तन—क्या नहीं था? फिर भी शीतल संयमने उसका हाथ रोक लिया।

उस दिन प्रदीप खान-पानसे फुरसत पाते ही गांवके बाहर अपने नियमित स्थान पर जा बैठा। अखबार इत्यादि पढ़ने जाकर वाद-विवाद

में पड़नेको उसका जी नहीं चाहा। दिन भर वह विक्टर ह्यूगोका हचबैक आफ दि नातरेदेम पढ़ता रहा। बाँसुरी बजानेकी भी उसे इच्छा नहीं हुई। जब पढ़ते-पढ़ते आँख थक जाती थीं, तो वह एकटक शून्य में देखने लगता। अन्तरमें कुछ आघात-सा अनुभव होता था, जैसे युग-युगके संचित आँसू छलक आए हों। इच्छा रहते भी वह रो नहीं पाया।

जब वह लौटा तो ग्रीष्मकी सांझका उजाला मन्थर गतिसे सिमटता जा रहा था। गांवके निकट उसको हरिजन-आश्रमका एक तरुण सदस्य मिला—शालिग।

"कई रोज़ हुए, भाई, मैं आश्रमकी ओर नहीं आ सका—आया ही नहीं। क्या कुछ ख़बर है?"—प्रदीपने पूछा, साधारण भावसे।

शालिग अत्यन्त चिन्तित दीख पड़ता था। प्रदीपने विशेष ध्यान नहीं दिया था। किन्तु जब उसने देखा कि उत्तरमें शालिगके मुँहसे शब्द न निकलकर आँखोंसे आँसू निकल पड़े, तो वह स्तम्भित रह गया। अत्यन्त व्यग्र होकर शालिगके कन्धे पर हाथ रखकर बोला—

"बात क्या हैं? मुझे बताओ तो क्या कोई बुरी घटना हो गई है?"

"मंगल चाचाकी हालत नाजुक है। गाड़ीमें डालकर शहर ले गए हैं।"—हिचकी लेते-लेते शालिग कह गया।

"क्या हुआ मंगलको? अचानक कोई रोगने घर दबाया क्या?"

"नहीं, धनसिंह पहलवान और बलवंत नम्बरदारने लाठियोंसे मारते-मारते उन्हें बेहोश कर डाला है। बचेंगे भी कि नहीं, भगवान जाने।"

प्रदीपकी कुछ समझमें नहीं आ रहा था। वह शालिग का मुँह ताकने लगा।

"सबके मना करने पर भी मंगल चाचा नहीं माने। बोले सत्याग्रह करना ही होगा। इस तरह चुपचाप कब तक अन्याय सह सकते हैं। सबने समझाया कि अब तो कामके दिन शेष हो चले। अगली फसल पर देखा जाएगा। किन्तु चाचा नहीं रुके और गांवके बाहर चले गए। चिरमाके पास उन्हें नम्बरदारने पकड़ लिया और पंचायतमें धनसिंह पहलवानने......।"

बात समाप्त होनेसे पहले ही प्रदीप शालिगका हाथ पकड़कर खींच ले चला। उसके रक्तमें आग लग उठी थी। इसका प्रतिकार करना ही होगा—यह निश्चयकर वह हरिजनोंकी बस्तीकी ओर चल पड़ा। सबसे पहले वह मंगलके घर जाकर उसके स्त्री-बच्चोंकी संभाल लेना चाहता था। फिर हरिजनोंकी सभा करके वह विद्रोहका खुला सन्देश देगा। इन लोगोंकी लाठी जब तक धरती पर पड़ी है तब तक ही पहलवान और नम्बरदार मोंछों पर ताव दे सकते हैं। जिस दिन वह लाठी उठ जाएगी उस दिन कोई सामना पकड़ सकेगा, ऐसी आशा नहीं की जा सकती।

मंगलके मोहल्लेमें पहुँचकर प्रदीपने जो देखा, वह तो वह कभी सपनेमें भी नहीं सोच सकता था। सभी घरों पर तोड़-फोड़के निशान थे। घरोंमें जगह थोड़ी होनेके कारण ये लोग अधिकतर गलीमें घरके आगे मिट्टीके चबूतरे और छोटे-छोटे रसोई घर बना लिया करते हैं। आज देखा कि एक भी चबूतरा अथवा रसोई घर समूचा नहीं रह गया

है। जैसे कुदाल और फावड़े लेकर किसीने बड़ी बेदर्दीसे सबको खोद डालनेकी चेष्टा की हो। शालिग यह सब देखकर हक्का-बक्का रह गया। इस काण्डका तो उसे पता तक नहीं था। वह भागकर अपने घरमें घुसा। उसके पीछे-पीछे प्रदीप भी भीतर जा पहुँचा। शालिगके पिता-माता, भाई-बहिन सब एक जगह बैठे थे। एक खम्बेकी ओटमें पीठ फेरे उसकी भाभी सिर नीचा किए सिसक रही थी। सारे घरमें घोर आवेगका वातावरण था। प्रदीपसे कुछ बोलते नहीं बना। पर उसको देखते ही शालिगके पिताने उठकर एक टूटी-सी खाट बिछाते हुए कहा—

"आओ, बैठो भैया।"—प्रदीप चुपचाप बैठ गया। शालिगने पूछा—"यह सब क्या हो गया बापू ?"

"गांवके पंचोंकी करतूत है, बेटा। पंच परमेश्वर माने जाते थे। पर कलियुगमें सब कुछ बदल गया है।"

"यह सब तोड़-फोड़ किसने की, काका !"—प्रदीपने पूछा।

"पंचोंका हुकुम पाकर बीस-पचीस जवान मंगलका घर ढाहने आए थे। हम सबने मिन्नत-समाजत की कि ऐसा जुलम मत करो। पर वहां सुनता कौन ? मंगलका घर तो गया सो गया ही, सारे मोहल्लेको भी उसके साथ सहानुभूति दिखानेकी सज़ा भुगतनी पड़ी।"

"भाभी क्यों रो रही है भला ?"—शालिगने पूछा।

"ओ, वह तो यूँ ही डर गई है, बेटा। वह धनसिंह पहलवान हमारे घरमें घुस आया। कहने लगा कि अगली बार अगर किसीने ऐसी हरकत की तो तुम्हारी बहन-बेटियोंको गलीमें ले जाकर सबके सामने

खराब करूँगा, कान खोलकर सुन लो। यह बिचारी घबड़ा गई। नई आई है इस गांवमें। बापके घर इसने काहेको ऐसा देखा होगा?"

कहते-कहते बूढ़ेने पासमें रक्खा हुक्का अपनी ओर खींचकर गुड़गुड़ाना शुरू किया। प्रदीपने देखा कि उसकी भाव-भंगिमामें विद्वेग अथवा विद्रोहका तनिक भी आभास नहीं था। सारा काण्ड मानो रोज़ घटनेवाली जीवनकी साधारण घटनाओंमेंसे एक था। कुछ लोगोंको यह सब करनेका अधिकार है—कुछ औरोंको वह सब सह लेना चाहिये। बस।

किन्तु आँख फेरकर उसने देखा कि शालिगकी आंखोंमें खून नाच रहा है। गांधी-आश्रमकी शिक्षाके अनुसार वह भरसक मन, वचन, कायसे अहिंसाका पालन करता था। शायद किसी औरके साथ ऐसा हुआ होता तो वह अवश्य ही अहिंसात्मक क्रियाशीलताका उपदेश देता। और अवसर पड़ने पर वह सत्याग्रह करके सब कष्ट झेलनेको भी उद्यत हो जाता। पर इस नई घटनाने केवल उसकी नैतिक बुद्धिको ठेस पहुँचाई हो सो बात नहीं थी। यह आघात तो सब कुछ चीरता ठीक उसके मर्म-स्थल पर पड़ा था। अठारह-बीस बरसके उस तगड़े नवयुवककी शिराओंमें उबलता हुआ रक्त एक भयानक निर्णय पर पहुँचने वाला है—यह समझते प्रदीपको देर नहीं लगी। वह उठा और शालिगके पास जा खड़ा हुआ। बोला—

"चलो शालिग, मंगलके घर जाकर उसके बाल-बच्चोंकी खबर ले आएँ।"

"चलिए"—उठता हुआ शालिग बोला।

"पर बेटा मंगलका घर तो अब माटीका ढेर है। होनी किस बल बैठेगी, कौन जानता है। बिचारेने सारी सरदी ईंटें बना-बना कर घरकी मरम्मत की थी। कहता था लड़की बड़ी हो गई, गौना होने-वाला है, उस तरफके लोग टूटा-फूटा मकान देख कर क्या कहेंगे।"—ठण्डी सांसे भरती हुई धीरे-धीरे शालिगकी बूढ़ी मां कहने लगी।

"चाचाकी जान बच जाय तो मकान तो फिर बहुत हो जाएंगे, मां।"—शालिगके बड़े भाईने हुक्का गुड़गुड़ाते हुए बड़े उदासीन भावसे कहा।

बिना कुछ बोले ही प्रदीप और शालिग घरके बाहर हो गए। रास्ता चलते प्रदीपने पूछा—"क्या सोच रहे हो शालिग।"

"यही सोचता हूं, भैया, कि आज खूनमें हाथ रंगने होंगे।"

"पागल हुए हो क्या?"

"हां पागल ही हुआ हूं।"—सहसा प्रदीपके होठों पर आई हुई सान्त्वना वाली बातें वहीं अटक कर रह गईं। उसे लज्जाका अनुभव होने लगा, शालिगको यह कहनेमें कि उसे समझ-बूझ कर पांव उठाना चाहिए। वह स्वयं सदासे अत्याचारके प्रति घोर असहिष्णुता दिखाता आया था और आततायीको तुरन्त दण्ड देनेके पक्षमें था। तो क्या इतने दिनों तक सुबह-शाम गरम खूनके अनुगमनका नारा उठा कर आज वह बड़े बूढ़ोंकी तरह धीर गम्भीर बननेका पाठ शालिगको पढ़ाए? नहीं, वह ऐसा नहीं कर सकेगा। शालिग यदि अत्याचारका प्रतिकार करना चाहता है तो जैसे उसको जँचे, वह करे। प्रदीप चुप रहा।

मंगलका मकान वस्तुतः माटीका ढेर बन कर रह गया था। छतको कुदालोंसे खोद कर नीचे गिरा दिया गया था। बड़े दरवाजेकी चौखट और

किवाड़ दीवारसे बाहर निकले टूटी अवस्थामें गलीमें पड़े थे और घरके भीतर भी खूब तोड़-फोड़ मची होगी, यह देखने वाला तुरन्त समझ सकता था। घरके भीतर घुसनेका जीवट प्रदीप नहीं जुटा सका। अचानक न जाने कहांसे भयका एक तूफान-सा उमड़ कर उसके समस्त व्यक्तित्वको हिला गया। वह बनिया है, गांवमें अन्य सभी जातियां उसकी जातिसे घोर घृणा करती हैं। उसकी जातिके नवयुवकोंमेंसे उसीका कुछ सन्मान गांवके जाट, ब्राह्मण इत्यादि करते हैं—सो शायद इसलिये कि उसके साम्यवादी विचार उसके जन्मसिद्ध अभिशापको थोड़ा ढांक लेते हैं। हरिजनों पर जो कुछ भी अत्याचार हुआ है उसकी तहमें जाट ब्राह्मणोंका वर्गस्वार्थ है। उस वर्गस्वार्थका विरोध करके वह भयानक आपत्ति मोल ले सकता है। गांवमें उसे नहीं रहना। किन्तु उसकी मां और उर्मिला तो न जाने कितने दिन और वहां रहने पर बाध्य रहेंगी। अकारण ही वह उनके जीवनको दूभर बनाना नहीं चाहता। बुद्धिमानी इसीमें है कि कान दबा कर गांवसे निकल चले। सामूहिक अन्यायका प्रतिकार सामूहिक शक्ति द्वारा ही हो सकता सकता है। वैसी शक्ति हरिजनोंमें जागी नहीं। फिर वह क्यों मुफ्तमें बलिदानका बकरा बने ?

यह सब विचार पलक मारते प्रदीपके मस्तिष्कमें चक्कर लगा गए। शालिगके कंधे पर हाथ रख कर वह भरसक स्वरको संभालता हुआ बोला—

"तो भाई मैं चला।"

"अच्छा"—कह कर शालिगने हाथ जोड़ लिए।

घर आकर प्रदीपने अपना बोरिया-बिस्तरा बाँधना शुरू कर दिया। अब वह एक क्षण भी गाँवमें रहना नहीं चाहता था। उसके भीतरसे एक दबी किन्तु अत्यन्त तीखी आवाज आ रही थी—"तू कायर है"। उस रात वह एक पल भी नहीं सो सका।

और उसी रात शालिगने गलीमें सोए हुए धनसिंह पहलवानको तेज़ गंड़ासेसे कई टुकड़ोंमें विभक्त कर डाला।

१७

उस साँझ वह देहली पहुँचा उसके एक घण्टे बाद नहा-धोकर सुनयनासे मिलने चला। उसके घरके दरवाजे पर पहुँच कर उसे कुछ ऐसा लगा कि अभी ठीक वक्त नहीं, थोड़ा ठहर कर जाना अच्छा रहेगा। थोड़ा समय बितानेके लिये वह थोड़ी दूर आगे जाकर अपने पुराने सहपाठी वासुदेवके घर जा बैठा। वासुदेव एम० एस-सी० का छात्र था। घरका अमीर। उसकी छोटी बहिन सुमित्रा देहली युनिवर्सिटीकी अनन्यतम छात्राओंमेंसे थी। सुमित्रा और सुनयनाका बन्धुत्व बहुत पुराना था, दोनों सहपाठिनें भी थीं।

सहनमेंसे वासुदेवको आवाज़ देकर प्रदीप सामने बैठकखानेमें बैठ गया। चारों ओर भयानक अस्तव्यस्तता फैली हुई थी। प्रदीपको कुछ अरुचि-सी हुई अवश्य, किन्तु वासुदेवके घरका यह शाश्वत ढंग था,

इस कारण उसे विस्मय नहीं हुआ। कुरसी पर बैठ कर उसने सिगरेट सुलगाई और घड़ीकी ओर देखा। साढ़े सात बजे थे। आठ बजते ही वह उठ कर सुनयनाके पास चला जाएगा।

वासुदेव पांच मिनट बाद ऊपरसे उतर कर आया। साधारण पूछ-ताछके बाद विशेष गम्भीर भावसे प्रदीपकी ओर देख कर वह बोला—

"तुमने जो गल्ती की है प्रदीप, उसकी मुझे तुमसे कभी आशा नहीं थी।"

"कौन-सी ग़ल्ती?"

"सुनयनाको तुमने पत्र क्यों लिखा?"

प्रदीपको विश्वास नहीं हुआ कि वासुदेव परिहास नहीं कर रहा है। किन्तु उसकी मुख-मुद्रा देखकर अविश्वास करते भी उससे नहीं बन पड़ा। पत्रमें भला क्या दोष हो सकता था? और उसके पत्रमें तो केवल चार लाइनें थी, जिनमें एक शब्द पर भी आपत्ति उठाना सम्भव नहीं था। प्रदीप कुछ बोल पाए इससे पहले ही वासुदेव फिर कहने लगा—

"ऊँचे खानदानोंकी बात तुम नहीं समझ सकते, प्रदीप। विशेषकर इन खानदानोंकी लड़कियोंकी position बहुत नाजुक होती है। उसे compromise करनेसे पहले तुम्हें सोचना चाहिए था कि तुम कर क्या रहे हो?"

"पर भई मैंने तो पत्रमें कोई भी ऐसी बात नहीं लिखी थी, जिससे किसीकी position compromise होनेका सवाल उठ सके।"

"ओ हो, तुम समझे नहीं। मैं कब कहता हूँ कि पत्रमें तुमने कुछ बेहूदा लिखा है? तुम्हें मैं जानता हूं, तुम कोई बेजा हरकत नहीं कर

सकते। किन्तु यहाँ तो पत्र लिखना मात्र ही आफ़त हो सकता है। आफ़त हो ही गई।"

"क्या आफ़त हो गई?"—सशंक भावसे प्रदीपने पूछा।

"तुम्हारे पत्रकी बात पहले तो सुनयनाके चाचा ताऊकी लड़कियोंमें फैली और फिर सारी ब्रादरीमें चर्चा होने लगी। आज बिचारी सुनयना को भारी लाज उठानी पड़ रही है।

"होशसे बात करो वासुदेव। इतना बढ़ावा तुम काहे दिए जा रहे हो? ऐसी भारी बेवक़ूफ़ी क्या सपनेमें भी सम्भव है? तुम्हारा दिमाग़ मुझे ठिकाने नहीं लगता?"

कहकर प्रदीप कुछ आवेश और कुछ ग्लानि लिए उठ खड़ा हुआ। इस जगह बैठकर वह एक मिनट भी बरबाद नहीं करना चाहता था। वह तुरन्त जाकर सुनयनासे तथ्य-वितथ्यकी जाँच करेगा। वासुदेव बैठे-बैठे बोला—

"तुम मुझे चाहे जो समझो। मैं तुम्हारे भलेके लिए कहता हूं कि सुनयनाके घर जाकर और अनर्थ मत कर बैठना। जो हो चुका सो हो चुका, बात दबती-दबती दब जाएगी। कमसे कम तुम्हें संभल कर चलना चाहिये।"

प्रदीपको इस व्यक्ति पर बेतरह तैश आ रहा था। वह समझ ही नहीं पाया कि इस सारी बकवादका मतलब क्या हो सकता था। उसे जानेको उद्यत देखकर वासुदेव फिर बोला—

"तुम्हें मेरा विश्वास शायद नहीं भी हो। मैं सुमित्राको बुलाए देता हूं। उसीसे पूछकर देख लो मैं झूठ बोल रहा हूँ कि सत्य।"

उसकी बातका उत्तर दिए बिना ही प्रदीप सहन पार करके ज़ीना चढ़ता हुआ सुमित्राके कमरेमें जा खड़ा हुआ। वह दीवारसे पीठ लगाए बैठी कुछ पढ़ रही थी। प्रदीपको देखकर उसने किताब बन्द कर दी और मुस्कराकर बोली—

"ओ आप! बैठिए। कब आए गांवसे? उर्मिला भाभी तो अच्छी हैं?"

"वे सब बातें तो पीछे होंगी, सुमित्रा। पहले यह बताओ कि सुनयनाको लिखे मेरे पत्रके विषयमें यह वासुदेव जो बे-सिर-पैरकी बातें कर रहा है, सो कहां तक ठीक हैं?"

"आप तो बेहद अधीर दीख पड़ते हैं। क्या कह दिया वासुदेवने?"

"कह रहा है कि मेरी उन चार लाइनोंके कारण सुनयनाकी समाजमें बदनामी हो रही है और उसकी निजकी लज्जाका किनारा नहीं?"

"बात तो भई कुछ ऐसी ही है।"

"क्या मतलब?"

"मतलब यही कि आपके पत्रको लेकर इधर-उधर काफ़ी कुछ चर्चा हुई है। सुनयनाने स्वयं आपकी यह हरकत ठीक नहीं समझी।

"अच्छा।"

और चुपचाप प्रदीप नीचे उतरकर घरके बाहर हो गया। वासुदेव चिल्लाता ही रहा—"अरे भई, सुनो तो"—उसने एक नहीं सुनी। अपनी कोठरी खोलकर वह अन्धेरेमें ही बिस्तर पर लेट गया। कुछ भी उसकी समझमें नहीं आ रहा था। सबसे विशेष चोट उसको वासुदेवकी इस बातसे पहुँची कि वह ऊँचे खानदानोंकी बात

नहीं समझता। वह सदा अपने खानदान का गर्व करता आया था। समयके फेरसे वह खानदान ग़रीब हो गया, उसे ट्यूशन करके निर्वाह करना पड़ रहा है। किन्तु क्या इसी कारण वह नीचे खानदानका हो गया?

उसे और एक दिनकी याद आई। एक साल पहलेकी बात थी। नई दिल्लीके किसी सिनेमा हाउसमें "आदमी" नामका प्रसिद्ध चल-चित्र आया था। वासुदेवने उसे साथ चलनेका निमन्त्रण दिया था। उसी दिन उसने पहले पहल सुनयनाको देखा था। एक ही तांगेमें वह सुमित्रा और सुनयनाके साथ बैठ कर नई दिल्ली गया था। वासुदेव पीछे साईकल पर चल रहा था। सिनेमा घर पर पहुँचकर एक सुन्दर-सी कारसे उतरती हुई प्रमिला और उसके बहिन-भाइयोंको दिखाकर वासुदेवने उस धनिक परिवारके विषयमें अनेकों बातें प्रदीपको बताई थीं जो अब—प्रमिलाका ट्यूटर बननेके बाद—उसके लिये विशेष महत्व चाहे न रखती हों, उस समय अवश्य उसे उस परिवारके प्रति विशेष आदर-भावसे भर गयीं थीं। इन्टरवलमें बाहर निकलकर वासुदेवने प्रदीपसे परामर्श किया था कि वह कौन-सी ऐसी खानेकी चीज़ खरीद कर ले जाए, जो सुमित्रा और सुनयनाके साथ-साथ बैठी प्रमिला इत्यादिको भी दे सके, पर जिसपर उसको विशेष खर्च नहीं उठाना पड़े। अन्तमें वह लाइमजूसकी गोलियां खरीदकर ले गया था। चित्र समाप्त होने पर सब बाहर आए तो तांगेमें बैठनेको उद्यत प्रदीपको एक ओर ले जाकर वासुदेवने कहा था—

"बुरा नहीं मानोगे। एक बात कहता हूं।"

"कहो।"

"तुम अलगसे चले जाओ। मैं तुम्हें तांगेका किराया दे देता हूँ। तुम्हें सुमित्रा और सुनयनाके साथ तांगेमें बैठा देखकर 'सब लोग' न जाने क्या सोचेंगे। ठीक नहीं होगा। ऊँचे खानदानोंको सोच-समझकर चलना होता है।"

उस समय भी प्रदीपको भयानक क्रोध आया था। किन्तु गांधीजीके दर्शनका भक्त होनेके कारण उसने वासुदेवको माफ कर दिया था। वह अकेला ही पैदल चलकर घर आया था और शीघ्र ही उस सारे काण्डको भूल गया था। आज अचानक उसकी स्मृति सिहर उठी। वही तो वासुदेव है। इसीने एक दिन यूनिवर्सिटी लाइब्रेरीमें उससे सुनयनाको पढ़ानेका अनुरोध किया था। और प्रमिलाकी ट्यूशन कर लेने पर इसीने तो एक दिन कालेजमें मुस्कराते हुए कहा था—

"प्रदीप, यार तुमसे इतना भी नहीं होता कि प्रमिला और उसकी बहिनोंसे मेरा introduction करा दो।" ऊँचे खानदान!

वास्तवमें यदि उसके पत्रसे कोई अनर्थ हुआ है, तो अकेली सुनयना की ही हानि हो ऐसा कोई कैसे कह देगा? सुनयनाके साथ-साथ उसकी भी तो बुराई होगी। उसका भी समाज है, बन्धु-बान्धव, सगे-सम्बन्धी, घर-परिवार, इज्ज़त-आबरू, सभी कुछ तो है। क्योंकर भला उसके अपने नाम पर लगी लाञ्छनाके कोई मायने नहीं? सुनयना पर लगी लाञ्छनाका भारीसे भारी परिणाम यही हो सकता है कि उसका विवाह सम्बन्ध होनेमें कुछ देर लग जाए। किन्तु वह तो तनिक-सी बात है। एक दिन अवश्य साफ हो जायगी। पर उसकी अपनी बदनामीकी बात दिल्लीमें रहनेवाली उसकी छोटी जीजी तक पहुँचेगी, उर्मिला तक

पहुंचेगी और न जाने उसके दाम्पत्य जीवनमें क्या कड़वाहट पैदा हो जाए। इसके सिवाय, उसका सम्बन्ध सुनयनासे एक ट्यूटरके नाते था। इस सम्बन्ध पर जो धब्बा पड़ेगा, उसके कारण शायद अच्छे घरोंमें वह प्रवेश न पा सके। अभी तो उसे एम० ए० पास करनेमें एक सालकी देर है। यदि अच्छी ट्यूशनें नहीं मिलीं तो वह क्या करेगा? शायद पढ़ना-लिखना छोड़कर उसे नौकरी ढूंढ़नी पड़े। खाली छात्रवृत्तिसे तो वह सारे परिवारका निर्वाह नहीं कर सकता।

ये सब वासुदेव और सुमित्रा नहीं सोच पाए। उन्हें तो खाली "ऊँचे खानदान" की मान-मर्यादा बचानेकी ही फ़िक्र पड़ी है।

और सुनयना? सुमित्रा कह रही थी कि उसने भी प्रदीपकी यह "हरकत" ठीक नहीं समझी कौन कह सकता है कि उस लड़कीके गाम्भीर्य और प्रौढ़ताके पीछे इतना छिछलापन, इतनी भीरुता, सिर छुपाए बैठी है? क्यों नहीं उसने सबको डांट दिया? क्यों वह एक क्षुद्र-समाजके कपोल-कल्पित मतामतसे भयभीत हो गई? क्यों नहीं उसने छाती तानकर एक आत्मीय व्यक्तिके साथ पत्र-व्यवहार करनेका सबल दावा किया?

आत्मीय? वह उसका आत्मीय है क्या? चन्द दिनोंके परिचयसे वह तो यही समझ पाया था। और भी तो कई लड़कियोंको उसने पढ़ाया है। किसीसे भी उसने अपना अध्यापकपन छोड़कर तनिक निकट आनेकी टेर नहीं पाई। सुनयनाने ही उस सम्बन्धकी सीमा पार करनेका पहला क़दम उठाया था। और धकेलकर उसे पीछे जो नहीं हटाया गया सो क्या आज भूल बनकर पश्चात्तापका कारण हो जायेगी?

अक्षरोंमें लिखा था "मिस्टर प्रदीप", और कुछ नहीं। भीतर सुनयना के अपने लैटरहैड पर लिखा था—

"अभी सुमित्राके पास गई थी, तो पता चला कि आप दिल्लीमें हैं और वासुदेवसे मिलने भी आज आये थे। समझमें नहीं आया कि पड़ौसमें आकर भी आप मुझसे बिना मिले चले गए। मुझे बधाई देने न सही, अपनी मिठाईके लोभसे तो आप आ सकते थे। आप तो युगयुगके ब्राह्मण हैं।

कब आएँगे?

—सुनयना"

प्रदीप सब कुछ भूल गया। घड़ीकी ओर देखा, साढ़े नौ बज चुके थे। इतनी देरसे उसने जाना उचित नहीं समझा। नौकरसे उसने कह दिया, वह कल सुबह सुनयनासे मिलने आएगा। अचानक वह गुनगुनाने लगा—

"तुम दुख बन इस पथसे आना।"



१८

सूरज थोड़ा चढ़ा होगा कि प्रदीप सुनयनाके घर जा उपस्थित हुआ। नौकरने बताया कि बीबीजी अपने ऊपरके कमरेमें हैं और वहीं प्रदीपको भेज देनेका अनुरोध घरमें सबको प्रातःकाल ही मिल चुका है। आवेगसे उफनते हुए दिलको सीनेमें सम्भाल कर प्रदीप एक छलांगमें सीढ़ियाँ नाप गया। कमरेके भीतर घुसते ही देखा कि सुनयना श्वेत परिधानमें सामने लगे बड़े आईनेके सन्मुख खड़ी होकर एक हल्के गुलाबी रंगके रोएँदार तौलिएसे अपने सद्यस्नात, निबिड़ निशाके समान घने, कृष्णवर्ण, कोमल, लम्बे केश-पाशको सुखानेका अलस उपक्रम कर रही है। आईना ठीक द्वारके सामने पड़ता था और यदि सुनयना का मुँह आईनेकी तरफ होता, तो वह अवश्य प्रवेश करते ही प्रदीपको देख लेती; किन्तु बालोंको पीछेसे आगेकी ओर लाकर पोंछनेकी क्रियामें उसका मुख दाएँ कन्धेकी ओर मुड़कर आईनेको उसके दृष्टिपातकी परिधि से बाहर रख रहा था। इसी कारण प्रदीप उस दिन सुनयनाके इस अभूतपूर्व रूप-माधुर्यकी झाँकी जी-भर कर पाया। भावलीन होनेके कारण उस नवयौवनाका स्निग्ध, उत्फुल्ल, उदार अन्तर उसकी मुख-मुद्रामें छलक उठा था। पहले-पहल मानो प्रदीपको सुनयनाके समूचे व्यक्तित्वका अपरिछन्न साक्षात्कार हुआ। आज वह दावेके साथ कह सकता था कि यह लड़की स्वप्नमें भी किसीको पीड़ा पहुँचानेका विचार नहीं कर सकती।

इस प्रकार प्रायः दो मिनट बीते होंगे। यन्त्रवत् सुनयनाके सुडौल हाथ तौलिया संभाले उसके केशोंका मर्दन कर रहे थे। सुनयना कहीं और थी। मन्त्रमुग्ध-सा प्रदीप साँस रोके देखता रहा, एक टक। सहसा नौकरने कमरेमें प्रवेश करके सुनयनाको उद्देश्य कर कहा—

"चाय वगैरह ले आऊँ, बीबीजी ?"

सुनयनाकी आँखें घूमते ही प्रदीप पर पड़ी; किन्तु तनिक भी विचलित हुए बिना अत्यन्त शान्त, स्वस्थ स्वरमें बोली—

"आप आ गए। बैठिए ना खड़े कब तक रहेंगे ?"

प्रदीप कहना चाहता था—"ऐसी मधुर मूर्त्तिकी आराधनामें तो मैं प्रलय तक एक टाँगसे खड़ा रह सकता हूँ"—किन्तु होठों तक आए शब्दों को वापिस गलेके नीचे उतार कर वह तनिक मुस्कराता हुआ सामनेकी कुर्सीपर जाकर बैठ गया।

"कन्हैया, चायका सामान ले आओ। सब कुछ तैयार है ना ?"—सुनयनाने नौकरसे पूछा।

"हाँ बीबीजी, एकदम तैयार है।"—कहकर नौकर चला गया।

हाथका तौलिया बराबरकी मेजपर रखकर सुनयनाने अपने लम्बे बाल सिरके एक इशारेसे कमर पर फेंक दिए और कंघी लेकर मांग निकालने लगी। जी चाहने पर भी प्रदीप उसकी ओर नहीं देख सका। वह उठा और पतलूनकी जेबोंमें हाथ डालकर दाईं ओर रखी किताबोंकी आलमारीके आगे जाकर बेमना-सा उनपर आँख दौड़ाने लगा। एक भी पुस्तक पर उसकी दृष्टि नहीं जम रही थी और न कुछ खोज निकालने

में उसे दिलचस्पी थी। केवल समय बितानेके लिए ही वह व्यस्तताका उपक्रम करने लगा।

नौकरने कोनेमें रखी छोटी-सी, सुन्दर, गोल मेज़ लाकर कमरेके ऊपर की ओर बिछे गहरे लाल कालीनके बीचो-बीच रख दी और दो कुर्सियाँ बराबरमें डालकर शायद चाय लाने चला गया।

"आइए"—कहकर सुनयनाके बुलाने पर प्रदीप मुड़ा, तो देखा कि सुनयना कुर्सी पर आ बैठी है और चायका सामान भी मेज़ पर सज चुका है। चाय क्या, मिठाई, नमकीन, फल इत्यादि मिलाकर पेट भरनेका खासा सरंजाम था। कुर्सी पर बैठते ही सारी चीजोंपर दाएँ हाथकी तर्जनी फेरकर सुनयना बोली—

"पहले यह सब साफ कर डालिए, फिर बातें होंगी।"

"अरे बाप रे, इतना खाकर मेरे पेटपर क्या नौबत आएगी?"

"यह तो पहले ही सोच रखना था। आनेमें देर क्यों की? मुझे तो जिस दिनसे आपका पत्र मिला था, रोज खिलाने-पिलानेकी तैयारी करती थी। आप जो कई दिनकी देर करके आए, सो इकट्ठा होते-होते इतना हो गया। यह क्या मेरा कसूर है? आपको सब खाना होगा। तनिक-सा भी मैं न छोड़ने दूँगी!"

"तो, भाई, कोई राम-वाण चूर्णकी शीशी भी लाकर रख दो। कोशिश करके देखूँगा।"

"यह झूठी मांग है। तुम्हारे······आपके पत्रमें तो केवल मिठाईकी बात लिखी थी, चूर्णका तो उसमें कहीं संकेत भी नहीं था।"—कहकर सुनयना अत्यन्त निर्मल हँसी हँसने लगी।

प्रदीपके मनमें कल वासुदेव और सुमित्राकी कही हुई बातें खटक रही थीं। यदि उनकी बातें सत्य थीं, तो क्या सुनयना अपने उस संकुचित आरोपकी मार्जना कर रही है? घरसे चलते समय उसको आशा थी कि सुनयनासे मिलनेके प्रथम क्षण कुछ मालिन्य से बोझिल होंगे; किन्तु यहाँ तो जैसे वासुदेव और सुमित्राकी सारी बातें ही कपोल-कल्पित थीं। सुनयनाके मुखकी एक रेखा अथवा आँखोंकी एक झपक से भी यह नहीं समझा जा सकता था कि वह कुछ छुपानेका प्रयत्न कर रही है।

"अच्छा सुनी, मैं एक बात पूछता हूँ।"—काँपते-से स्वरमें प्रदीप बोला॥

"उँहूं, बात पूछनेसे पहले यह सब समेटना होगा!"—सुनयनाने मेज़ पर रखे सामानकी ओर इशारा करके कहा।

"लेकिन भाई.........।"

"लेकिन-वेकिन कुछ नहीं, जो कहती हूं, कीजिए!"

प्रदीप चुपचाप खाने लगा। एक बार रुककर उसने सुनयनासे भी खानेमें योग देनेको कहा; किन्तु उसने इन्कार कर दिया। कुछ रुककर सुनयनाने चाय तैयार की और प्याला प्रदीपकी ओर बढ़ा दिया।

"गाँवमें दिन कैसे बीते?"—सुनयनाने पूछा।

"कुछ बुरे तो नहीं.........।"

"पर अच्छे भी नहीं, हैं?"—सुनयनाने वाक्य पूरा करते हुए पूछा?

प्रदीपने कुछ उत्तर नहीं दिया।

"उर्मिला भाभीकी बातें बताइये।"

"क्या बताऊँ, भला ?"

"आप इतने दिन उनके साथ रहे, क्या कुछ भी विशेष परिचय उनका आप नहीं पा सके ?"

"अरे, वह तो कोरी बच्ची है, सुनयना ! मुझे तंग कर डालती है।"

"तो आप शायद शरद् बाबूकी चार पुस्तकें पढ़कर उनसे सेवाकी आशा रखते होंगे ?"

"आशा क्या मेरी अनुचित थी ?"

"नहीं जी, पति परमेश्वरकी आशा कभी अनुचित हो सकती है ?"

"जाने दो, तुम तो मज़ाक पर उतर आती हो।"

सुनयनाने कुछ उत्तर नहीं दिया। प्रदीप सोच रहा था कि वासुदेव वाली बातका ज़िक्र करना चाहिए ; किन्तु उसके मुख खोलनेसे पहिले ही वह बोल उठी—

"चित्रलेखा पिक्चर तो आपने देखी है न ?"

"हाँ, वह जितनी बार शहरमें आती है, मैं सब काम छोड़कर देखने जाता हूं। मेरे पास साधन नहीं, अन्यथा देशमें जहाँ भी वह चित्र दिखाया जाए, मैं देखने जाऊँ।"

"किन्तु भगवतीचरण वर्मा तो, सुनते हैं, चित्र को पसन्द नहीं कर पाए। उनका मत है कि उनकी पुस्तकका कूड़ा कर दिया केदार शर्माने।"

"जाने दो, वह बात, सुनी ! बर्नार्डशाकी सस्ती नकलके सिवा इस बातमें कोई सार नहीं। मैंने तो वर्माजीकी पुस्तक भी पढ़ी है। चित्रके साथ उसकी कोई तुलना नहीं।"

सुनयना फिर चुप रही। प्रदीप फिर सोचने लगा कि वासुदेववाली बात कह डाले; किन्तु इसके पहिले ही सुनयना फिर कहने लगी—

"मैंने सुमित्राके साथ आपके कालिजमें फिलासफी आनर्समें admission लिया है। क्या ख्याल है आपका?"

प्रदीप ताज्जुबमें पड़ गया। फिलासफी आनर्स लेनेकी क्या सूझी इस लड़कीको? अजीब पागलपन है।

"क्या सोच रहे हैं? यही न कि मैं कभी भी फिलासफीमें पास नहीं हो सकूँगी।"—सुनयनाने पूछा।

"नहीं, पास नहीं हो सकोगी, ऐसा मैं नहीं कहता। लेकिन यह ज़रा टेढ़ा subject है। मुझे ऐसा लगता है कि तुमने अपनी रुचिके अनुसार नहीं, सुमित्राके साथ रहनेके लिये ही यह चुनाव किया है।"

"मेरी रुचिकी बड़ी कही आपने! इतने दिनसे क्या आप देख नहीं सके कि इन मरी पुस्तकोंमें मुझे तनिक भी दिलचस्पी नहीं है।"

"तो फिर पढ़ना-लिखना काहेको करती हो?"

"सो आप किसी दिन समझ जाएँगे। रही फिलासफी लेनेकी बात। मैंने यही सोचा कि फिलासफीका नाम सुनकर लोगोंकी जो अनायास श्रद्धा मिलती है, उससे अपने-आपको क्यों वञ्चित रखा जाय। मगज़मारी ही करनी ठहरी, तो बेमायनी क्यों की जाए।"

"तुम तो खूब बनना सीखती जा रही हो, सुनी!"—प्रदीपने हँसकर कहा।

"सब आपसे ही तो सीखा है, गुरुदेव! खैर, एक बात और। supplimentary subject है History इसमें फेल हो

गई, तो मुझे आनर्सकी डिग्री नहीं मिल सकेगी। मेरी History आपको तैयार करानी होगी।"

"देखा जायगा।"

"देखा क्या जाएगा? मैं कोई ट्यूशन करनेके लिए तो आपसे कह नहीं रही, जो आपको मोल-भाव करके फैसला करना पड़े। सीधी-सी बात है, जब आपको फुरसत मिले, और जी हो, तो यहाँ आकर मुझे कुछ पढ़ा जाया कीजिएगा।"—कहकर सुनयनाने हठात् सिर नीचा कर लिया और दोनों हाथोंकी अँगुलियोंसे मेजका किनारा पकड़कर मौन हो गई। उसको अपनी अभी-अभी कही बातपर भयानक खेद हो रहा था। प्रदीपसे यह सब कहनेकी क्या आवश्यकता थी? वह भला मोल-भाव क्या जाने? उस बेचारेने कभी भी तो रुपए-पैसेकी खोज नहीं की। कोई उसे जो कुछ दे देता था, वह मुखपर एक रेख तक बदले बिना लेकर जेबमें डाल लेता था। रुपयोंकी उसे सदा जरूरत रहती थी, इसीलिए शायद ले भी लेता था। नहीं तो क्या वह अपनी विद्या-बुद्धिका व्यापार करने निकलता।

"मैं अभी आती हूं।"—कहकर सुनयना उठकर चली गई।

प्रदीप समझ गया कि उसको अपने मुँहसे निकले हुए शब्दों पर घोर पश्चात्ताप हो रहा है। बुरा तो उसे भी लगा था और अप्रत्याशित बात होनेके कारण चुभी भी विशेष। किन्तु कहनेवालीके खेदको लक्ष्य कर वह पलक मारते स्वस्थ हो गया। सुनयनाके चले जानेपर वह अत्यन्त उदासीन-सा अपनी जगह बैठा रहा। आँख उठाकर इधरसे उधर देखा तक नहीं।

थोड़ी देर बाद सुनयना लौट आई। चुप रहनेसे वातावरणमें गाँठ न पड़ जाए, इसलिए प्रदीप बोल उठा—

"आज किरणको नहीं देखा सुनी !"—किरण सुनयनाकी पाँच वर्ष की छोटी बहिन थी।

"वह तो कितने रोज़से बीमार है।"

प्रदीपने आगे नहीं पूछा कि क्या बीमारी है। और यहाँ ठहरनेको उसका जी नहीं चाह रहा था। उठकर बोला—

"अच्छा, तो जाता हूं।"

एक क्षण वह इस आशासे खड़ा रहा कि सुनयना कुछ बोलेगी; किन्तु उसने एक बार शिर उठाकर फिर झुका लिया। वह चलकर द्वार तक गया; किन्तु उल्टे पाँव लौटकर मेजके पास खड़ा हुआ और दोनों हाथ मेजपर रख तनिक आगे झुककर कहने लगा—

"तुम्हें क्या वास्तवमें मेरे गाँवसे लिखे पत्रने चोट पहुँचाई ?"

"क्या अजीब सवाल है आपका ! मुझे भला क्यों चोट पहुँचती ?" —चौंककर सुनयनाने उत्तर दिया।

"तो क्या वासुदेव और सुमित्रा झूठ बोल रहे थे ?"

"क्या कह रहे थे, वे लोग ?"—सन्नाटेमें आकर सुनयनाने पूछा।

"यही कि मैंने पत्र लिखकर तुम्हें समाजमें बदनाम कर डाला और तुमने मेरी इस हरकतको ठीक नहीं समझा।"

"फाल्तू बकवाद है।"

"भला झूठ बोलनेसे उनका क्या आशय हो सकता था ?"

"उनका आशय उन्हींसे पूछिए जाकर। बात वे कहें और उसका आशय आपको समझाऊँ मैं, यह आप एक ही कहते हैं।"—कुछ असहिष्णु-सी होकर सुनयना बोली।

प्रदीपने कुछ नहीं कहा। चुपचाप मुड़कर धीरे-धीरे कमरेके बाहर निकल गया। सुनयनाका व्यवहार उसे पसन्द नहीं आया। किन्तु जीने में उतरनेसे पहले ही सुनयनाकी आवाजने उसे रोक लिया।

पास आकर सुनयना बोली—"देखिए आपको अनेक ग़लत फ़हमियां हो सकती हैं। इसलिए जितना मैं जानती हूं उतना सुनते जाइये। जिस दिन आपका वह पत्र आया उस दिन किरणकी तबियत विशेष खराब थी। ममी उसके पास बैठी थी। मैं धमाकसे कमरेमें घुसकर चिल्ला उठी—'प्रदीपजीका पत्र है ममी!' और साथ ही किरणने जैसे पाग़ल होकर आपके और मेरे सम्बन्ध पर अनेकों अभद्र आरोप लगाने शुरू कर दिए। मेरी तो कुछ भी समझमें नहीं आया। पर सहन न कर पानेके कारण रो उठी। किन्तु मेरा सारा रोष तो किरण पर था। मैंने कब सोचा था कि मेरे पीछे-पीछे आई सुमित्राने उस सारे काण्डको देख-सुनकर उसका मन चाहा अर्थ लगा डाला है। पर जाने दीजिए। संसारमें सभी प्रकारके लोग होते हैं।"

उलटे पाँव सुनयना लौट गई। प्रदीप भी बिना रुके नीचे उतरकर मकानके बाहर हो गया। उसकी छाती परसे एक बड़ा भारी बोझ उतर गया। चाहे सुनयना उसके जीवनमें रहे न रहे, एक भारी ग़लतफ़हमी तो मिट गई।

११

प्रदीपको कई बातोंकी फ़िक्र करनी थी।

सबसे पहले तो उसको ट्यूशनोंकी खोज हुई। पिछली सब ट्यूशनें तो छुट गई थी। सुनयना नहीं पढ़ेगी। प्रमिला फेल हो गई, शायद ही दोबारा उससे पढ़े। उसकी बड़ी बहिन सुधाका विवाह होनेवाला है, और मँझली बहिन वनमालाको शायद कभी ट्यूटरकी आवश्यकता नहीं पड़ेगी। फिर भी उसने उनके घर जाकर मालूम कर लेना ठीक समझा।

घरके भीतर सबसे पहले उसकी भेंट प्रमिलासे हुई। इस लड़कीको प्रदीप कभी नहीं समझ पाया था। साधारण बातोंमें उसे कोई रस ही नहीं आता था। पन्द्रह-सोलह सालकी होगी, कालेजकी पढ़ाई-लिखाईके नाम उसके सिरमें दर्द होने लगता था। घर वाले एक तरह ज़बरदस्ती ही उसे पढ़ा रहे थे, किन्तु आए साल फेल होकर वह उनका मनोरथ पूरा नहीं होने देती थी। छः महीने तक प्रदीप उसको अंग्रेज़ी, हिन्दी, सिविक्स, इकोनोमिक्स और इतिहास पढ़ाता रहा, किन्तु उस लड़कीने कभी भी एक बात समझनेकी चेष्टा नहीं की। लैक्चर सुनते-सुनते अचानक वह कह बैठती।

"अजी, आज तो इतना ही बहुत है। अब एक कहानी सुना दीजिये!"

उसकी स्वप्नशील, बचपन-भरी आँखें और भोला, विश्वास-पूर्ण मुखड़ा देखकर प्रदीपको हँसीके साथ-साथ स्नेह उमड़ आता। फिर आश्चर्यकी बात थी कि इतनी बड़ी होकर भी उसको राजकुमारों, परियों और भूत-प्रेतोंकी कहानीमें इतना ही रस आता, जितना कि एक चार-पांच बरसके शिशुको।

प्रदीपको देखते ही वह हँसती-हँसती बोली—

"देखिए जी, मैं तो फेल हो गई। मेरे examiner ने न जाने कैसे-कैसे उटपटांग सवाल पूछे? मैं क्या करती?"—और साथ-साथ उसके समस्त मुख-मण्डल पर एक हल्की लालिमा फैल गई। किन्तु कोई भी उसे देखकर नहीं कह सकता था कि उसे तनिक भी पश्चात्ताप हुआ है।

प्रदीप कुछ नहीं बोला। मुस्करा कर बैठ गया।

"कलसे मुझे फिर पढ़ाना शुरू कर दीजिये!" प्रमिला बोली।

"पर भाई तुम पढ़ो तब तो पढ़ाऊँ ना। तुम तो फिर कहानियाँ सुनना चाहोगी, वरना कहोगी मेरे सिरमें दर्द हो रहा है। क्यों?"

"नहीं अबकी बार मैं सचमुच पढ़ूँगी।" और फिर धीमे स्वरमें प्रदीपकी ओर झुककर बोली—

"जी, आपसे पिताजी पूछें तो कह दीजियेगा कि पेपर बड़े सख्त थे, इसलिये फेल हो गई। वह सुधाका सैकण्ड डिवीजन क्या आया है, धरती सिरपर उठाए लेती है। सब कहते हैं कि प्रदीपजीने तो पढ़ानेमें कसर नहीं की, सुधाका कैसा अच्छा नतीजा निकला है, यह प्रमिला ही

कुछ नहीं करके देती। सच जी, आप भी यही मानते हैं कि मैंने मेहनत नहीं की?"

प्रदीपको बे-तरह हँसी आ रही थी।

इसी समय खबर पाकर ऊपरसे सुधा और वनमाला भी आ पहुँची। प्रदीपने दोनोंको पास होनेकी बधाई दी। वनमाला प्रदीपकी छात्रा नहीं थी, फिर भी प्रायः रोज़ ही प्रदीपकी उससे बातें हो जाया करती। इस लड़कीमें कुछ साहित्य प्रेम था। प्रदीपसे अनेकों पुस्तकें इसने मंगवाई और अनेकों बार शरद् बाबूके शेष प्रश्न, पथके दावेदार और महादेवीकी कवितायें लेकर वह प्रदीपसे समझने बैठी थी। अबकी बार उसने बी० ए० प्रथम वर्षकी परीक्षा पास की थी।

सुधा सबसे बड़ी बहन थी। किन्तु उसकी सांसारिक बुद्धि देखकर प्रदीपको कभी उसे पढ़ानेमें उसे विशेष आनन्द नहीं आया। वह घरके हिसाब-किताब, देख-संभालमें ज्यादा लगी रहती थी। पढ़ने लगती तो यही भाव रहता कि यह भी ज़रूरी काम है, करना ही चाहिये। भावुकता अथवा साहित्यिक रुचिके नाते उसमें कुछ नहीं था। सुन्दरसे सुन्दर कविताको पढ़कर उसका अर्थ इस प्रकार लगाती जाती जैसे कोई महाजन अपने रुपए गिनता हो। परीक्षामें जितना चल जाए उससे अधिक जानने समझनेकी उसे कोई प्रवृत्ति नहीं थी। जल्दी-जल्दी वह अपना नियमित रूपसे किया काम प्रदीपको दिखाती और आगेके पाठ, लैक्चर इत्यादि लेकर चली जाती। उसका सारा पढ़ना-लिखना एक-बारगी यन्त्रवत् था।

"जी आपने गांवमें बड़े दिन लगा दिए !"—सुधाने सामने पड़े बड़े सोफा पर बैठते-बैठते कहा।

"लगाते क्यों नहीं ? दुलहिन कोई रोज़-रोज़ थोड़े ही मिलती है।"—वनमाला बोली।

प्रदीप हँसने लगा।

"सच्च जी, आपकी वे बड़ी सरूप है ?"—प्रमिला बोली।

"सरूप नहीं तो क्या काली-कुबजाको थोड़े ही इन्होंने देखकर पास किया था ?"—वनमालाने कहा।

"अच्छा, प्रदीप जी, आपको भी उनने पास किया या नहीं ?"—प्रमिला पूछने लगी।

"यह पति परमेश्वरकी भूमि है, प्रमिला। यहाँ स्त्रियोंकी राय नहीं ली जाती। क्यों सुधा ?"—प्रदीप बोला। सब सुधाकी ओर देखने लगे।

"मुझे क्यों देखते हो सब ? मैं क्या जानूँ ?"—वह शरमाकर बोली।

"अरे वाह, भोली बनती हो। तुमने नहीं कहा था नरेशसे मेरा ब्याह करा दो ?"—वनमालाने चुटकी काटी।"

"अच्छा बतलाती हूं। ठहर।"—कहकर सुधा वनमालाकी ओर लपकी। वह भागकर कमरेके बाहर निकल गई। सुधा वापिस अपनी जगह बैठ गई। दो क्षण सब मौन रहे।

"सुनयना कह रही थी कि उसका फर्स्ट डिवीजन आता, वह तो यों ही कुछ पेपर खराब हो गए।"—सुधाने प्रदीपको लक्ष्य करके कहा।

"हाँ, बहुत सम्भव था।"

"आप भी मज़ाक करते हैं। पास होनेके लाले पड़े थे। आपकी वजहसे सैकण्ड डिवीजन क्या आ गया दिमाग़ ही ठिकाने नहीं रहा लड़कीका।"

"सुनयनाके लिये यह क्या कहती हो सुधा। वह तो बेचारी घमण्ड करना जानती नहीं।"—प्रदीप गम्भीर होकर बोला—

"अजी बस जाने दीजिये। उस जैसा बनना भी भला किसीको आता है?"—सुधा बोली।

प्रदीप चुप रहा। बातको बढ़ाकर सुनयनाके विरुद्ध वह कुछ सुनना नहीं चाहता था। उसे सुधाकी बातोंसे पीड़ा पहुँची।

अचानक प्रमिला बोली—"एक बात कहूँ, प्रदीपजी?"

"हां, ज़रूर।"

"ये अमेरिकन लोग जो नई कारें लाए हैं, सो मुझे बड़ी अच्छी लगती हैं। अगर ऐसी कार मुझे मिले, तो मैं एक अमेरिकनसे ब्याह कर लूँ।"—साथ ही प्रमिलाके मुँह पर जो अपरिच्छिन्न अभीप्साका भाव उमड़ा उसे देखकर प्रदीपको हँसी आने लगी।

"बस इन बातोंमें जी लगता है। पढ़ने-लिखनेके नाम चित्त। कौन अमेरिकन ब्याह करेगा तुझसे। एक शब्द तो अँग्रेज़ीका बोलना नहीं आता।"—सुधाने डांट बताई।

"ओ बड़ी आई अँग्रेज़ी बोलनेवाली। अच्छा तू अपना डिप्लोमा लेकर चल मेरे साथ देखूँ वे लोग किसको पसन्द करते हैं?"—प्रमिला आँखें नचाकर बोली।

"सो तो पद्मिनीजी तुम्हारे रूपकी चर्चा दुनियामें हो रही है···।"

सुधाकी बात पूरी होनेसे पहले किसीने पीछेसे कहा।

"किसके रूपकी चर्चा हो रही हम भी तो देखें।"—प्रदीपने मुख फिराकर एक अपरिचिता लड़कीको देखा। हलके आसमानी रंगकी सलवारके ऊपर क्रीम रंगका नीचा कुरता पहने, गुलाबी रंगकी अत्यन्त बारीक ओढ़नी गलेमें डाले, उसके श्याम-वर्ण मुखपर सुनहरी कमानीके चश्मेमेंसे दो आँखें अत्यन्त कोमल भावसे मुस्करा रहीं थीं। किन्तु प्रदीपको उसके स्वर-माधुर्य्य पर आश्चर्य हुआ। ऐसी सुन्दर आवाज़ उसने जीवन्में कभी नहीं सुनी थी। सहसा वह पुलकायमान हो उठा और इस आशासे उसकी ओर देखने लगा कि वह फिर बोले तो कानोंको साफल्य लाभ हो।

"आप इनको नहीं पहचानते प्रदीपजी? ये हैं सन्तोष, सुधाकी जेठानी।"—वनमाला, जो इस नवबालाके साथ कमरेमें आई थी, बोली।

"यानी नरेशके बड़े भाई साहबकी बहूरानी।"—प्रमिला बोली, और पिटनेके डरसे भागनेको तैयार हो बैठी।

सब हँस पड़े।

"सुधा सुनो तो।"—सन्तोष बोली और सुधा उसके साथ उठकर बाहर चली गई।

ये तीन शब्द अन्तिम थे, जो प्रदीपने उस कलकण्ठसे सुने। उसके अन्तरमें न जाने किस ओरसे माधुर्यका श्रोत झर उठा। उसे इच्छा हुई कि सन्तोषके विषयमें अधिक पूछे, किन्तु वह मुँह नहीं खोल सका।

सहसा उसे ख्याल आया कि वह तो ट्यूशनकी खोजमें आया था। मानो आसमानसे गिरा हो। तनिक खाँसकर प्रमिलासे पूछने लगा।

"तो कलसे किस वक्त तुम्हें पढ़ाने आऊँ ?"

"वही पुराना वक्त।"

"अच्छा तो मैं चला।"—कहकर प्रदीप उठ खड़ा हुआ।

"और जी सुधा भी तो पढ़नेको कह रही थी ?"

"अच्छा···पर उसका तो···।"

"कहती है कि मियां एफ० ए० पास है, बीबी बी० ए० पास न करे तो कान कैसे मल सकेगी ?"—वनमालाने उत्तर दिया, किन्तु प्रदीपको हँसी नहीं आई। वह अनमना-सा हो रहा था। इन लोगोंसे कुछ कहे तो कैसे ? ये क्या समझ सकती हैं। 'खैर।

"तो सुधाको रातके वक्त पढ़ा जाया करूँगा।"

"नहीं जी, दो बार क्यों आएँ। सुबह ही थोड़ा वक्तसे आनेसे चल जाएगा।"—प्रमिला बोली

"नहीं री, इन्हें भी तो कालेज जाना है। गरमीके दिन हैं। सुबहके कालेज हैं। दो-दो ट्यूशन कहीं हो सकती हैं एक साथ ?"—वनमालाने कहा।

"हाँ ठीक है। मुझे कालेज जाना होगा। पिछले साल तो मैं बिल्कुल नहीं पढ़ा।"

"आपको भला पढ़नेकी क्या जरूरत है ? बिना पढ़े ही आप रिकार्ड तोड़ देंगे ?"—प्रमिला श्रद्धाके भावसे बोली। प्रदीपने उत्तर नहीं दिया।

"अच्छा तो कल सुबह आऊँगा।"—कहकर वह कमरेके बाहर हो गया।

रास्ता चलते-चलते वह सोचने लगा इन लड़कियोंके बारेमें। कैसा सरल, सरस जीवन है इनका। कितना मिठास है इनकी बातोंमें, कितनी सौजन्यता है इनके व्यवहारमें! सुनयना जैसा गम्भीर आत्मविश्वास इनमें भले ही न हो, उर्मिला जैसा मूढ़ अभिमान तो नहीं है। उर्मिला··· पगली···बात-बात पर किस तरह रूठती लड़ती रहती है। तनिक भी नुकता-चीनी उसे सह्य नहीं होती। सलीकेकी एक बात बताओ और तनककर उत्तर देती है—"तो फिर किसी वैसी लड़कीसे ब्याह क्यों नहीं करा लेते?"

किन्तु उर्मिला को खाली दोष देना उसके साथ अन्याय करना है। उसे समझना भी तो होगा। वह एक साधारणसे शहरमें, साधारण घरमें जन्मी, पली, पनपी। उसका व्यक्तित्व उसके अब तकके वातावरण का परिचायक है। उस व्यक्तित्वके प्रति असहिष्णुता दिखाकर कलह करना अत्यन्त संकुचित मनोवृत्तिका प्रदर्शन है। उर्मिलाका मनुष्यत्व निखरा न हो, नष्ट तो नहीं हुआ है। उनका नारीत्व खिला न हो, बिखरा तो नहीं है। उसे अवसर मिले तब तो समझा जाये कि उसमें किस-किस उदयके अंकुर हैं।

रास्तेसे प्रदीपने एक सिगरेट खरीदकर सुलगाई। दो बार धुआँ खींचते ही उसका सिर भारी हो गया, जी मचलाने लगा। प्रमिलाके घरसे निकलकर कालेजकी ओर चला था। अचानक तबियत खराब हो गई। वह लौट चला। अपनी कोठरीमें जाकर लेटेगा। सो जाएगा।

स्कूलके फाटक पर पहुँचकर उसे ध्यान आया कि उसकी कोठरी वाले कमरेमें तो क्लास लग रही होगी। वह भीतर कैसे जा सकता है? एक

बजे स्कूलकी छुट्टी होगी, तभी वह अपनी जगह जा सकेगा। तो कहाँ जाए ? कहां जा सकता है ? इस शहरमें इतने घर हैं, जाकर लेट रहनेका तो उसको कहीं भी अधिकार नहीं।

कुछ देर वह फुटपाथ पर खड़ा सोचता रहा। फिर एडवर्ड पार्कमें जाकर लेट रहनेके विचारसे वह चल पड़ा। साधारणतः उसका शरीर ठीक ही रहा करता था। हाँ, पिछले कुछ दिनोंसे उसका गला सख्त खराब रहने लगा था। उसने विशेष ध्यान नहीं दिया था। सब ठीक हो जाएगा। आरोग्यता उसको माँके दूधके साथ मिली है, रोग जैसी कोई बला कभी उसे नहीं दबा सकती।

उसने एक सिगरेट और खरीदकर सुलगाई। तबियत और खराब हो गई और बाग़ तक पहुँचते-पहुँचते उसकी जान पर आ बनी। एक पेड़के नीचे साएमें अपना शरीर धरती पर डालकर वह स्वस्थ होनेकी बाट जोहने लगा। ठण्डी हवा से धीरे-धीरे उसकी तबीयत संभलने भी लगी, किन्तु उठकर चलने-फिरनेकी तनिक भी इच्छा नहीं रह गई थी।

यदि वह गांवमें होता तो उर्मिला उसके लिये सुन्दर, स्वच्छ बिस्तर बिच्छा देती, उसके सिरहाने बैठकर पंखा झलती, उसका सिर सहलाती। वह सो जाता। माँ चार बार पूछती—"बेटा कैसा जी है ?"—और यहां ? कौन है उसका ? कई मित्र हैं उसके, किन्तु बीमार बनकर वह किसके घर जाए ? अपना घर होता······अपना घर होता···

प्रदीपकी आँखोंसे बहकर कुछ मूक आँसू घासपर गिर गए। उससे आँख पोंछनेका प्रयास भी नहीं बन पड़ा।

तहमद और बनियान पहने, सिरके लम्बे बालोंमें छँटाक भर तेल डाले, सुरमेसे लदी आँखोंमें मस्ती संभाले, एक हट्टा-कट्टा नौजवान हाथ की शीशियाँ हिलाता, "तेल मालिश" की आवाज़ लगाता, धीरे-धीरे उसके पाससे निकल गया। प्रदीपके मनमें बराबर वही आवाज़ आ रही थी। अपना घर...अपना घर...

२०

प्रदीपको घर बसानेकी धुन सवार हुई। ज्यों-ज्यों उसने सोचा, उसे लगा मानो उसके सारे दुख परिताप केवल इसीलिए हैं कि उसका अपना घर नहीं। वास्तवमें तो घरका सुख उसने कभी नहीं देखा था। गाँवमें वह अपनी माँ के साथ रहा। उसके पिता न-जाने कितने सालसे कलकत्ते रहते थे। महीने-दो-महीनेमें उनका एकाध पत्र आ जाता। साल-दो-सालमें थोड़े दिन ठहरकर चले जाते। वे कभी रुपया नहीं भेजते थे। प्रदीपकी माँ ही अपनी थोड़ी-बहुत जमा-पूँजीसे किसी तरह काम चलाया करती। माँ ने कभी भी प्रदीपको किसी चीज़ के अभावका अनुभव नहीं करने दिया ; किन्तु प्रदीप जानता था कि उस बिचारीको न-जाने क्या-क्या मुसीबतें उठानी पड़ती हैं। एक बार दूसरे घरकी दादीके मुँहसे जली-कटी सुनकर उसे मालूम हुआ था कि पिछली बार उसके पिता गाँवमें ठहरे, तो माँ ने दादीसे रुपया उधार

लेकर काम चलाया था। मन-ही-मन उसको अपने पितासे नफरत होने लगी।

बहुत बार जब हाथ बिल्कुल तंग हो जाता, तो माँ उसे लेकर मामा के घर चली जाती। दो-चार महीने वहाँ ठहरनेके बाद उसकी छोटी मामी जो हाथ धोकर उनके पीछे पड़ती, तो माँ को मैका छोड़नेके सिवाय कोई चारा ही नहीं रह जाता। ऐसे दिनोंमें माँ अपने पाससे छोटा-मोटा जेवर बेचकर दिन काटती थी। बादमें जब प्रदीपको छात्र-वृत्ति मिलने लगी, तो महीने-के-महीने मिलनेवाले उन चार रुपयोंने उनकी बहुत-कुछ चिन्ता दूर कर दी। ये वे दिन थे, जब कि सारे संसार में व्यापारिक गति अवरोध हो जानेसे सभी वस्तुएँ मिट्टीके भावमें मिल जाती थीं।

इसके सिवाय प्रदीपको पिताका अभाव एक और तरह भी अनुभव होता था। वह था भारी नटखट और दंगाबाज़। गाँवमें रहनेवाले बाबा-चाचा सदा उसके पीछे पड़े रहते, मार-पीट करते। साथ खेलनेवालों से उसका झगड़ा हो जाता। वह किसीको पीट देता, तो हिमायतमें पीटनेवाला अपने पिता या बड़े भाईको बुला लाता ; किन्तु वह पिट जाता तो किसके साथ शिकायत ले जा सकता था। बाबा-चाचा तो उल्टा उसको ही धमकाते-मारते और माँ के सामने आँखोंमें आँसू लेकर जाने में सदा उसको लज्जा अनुभव होती रही। वह कहीं छुपकर रो लेता।

उसके बाद वह लगभग ग्यारह-बारह सालकी आयुमें दिल्ली चला आया, अपनी छोटी जीजीके पास। उसके जीजा अत्यन्त शान्त प्रकृति के देवता-तुल्य आदमी थे ; किन्तु जीजीके अन्तरमें गहन स्नेह होनेपर

भी उसका चिड़चिड़ापन प्रदीपको प्रायः रोज ही रुलाए लेता था। वह जितनी उदार थी, उतनी ही मुँहफट और कड़वी। एक दिन भी प्रदीप को ऐसा नहीं लगा कि वह अपने घरमें रह रहा है। सदा ही वह उस घरको पराया समझता रहा और स्कूलके चार साल उसने किसी प्रकार बिता दिए। कालेजमें प्रवेश करते ही वह जीजीका घर छोड़कर स्कूलकी इस तंग, तारीक कोठरीमें चला आया, जहाँ वह रात बसेरा ही ले सकता है। उसको यहाँ रहते पूरे पाँच साल हो गए। अपनी माँ से, अपने घरसे अलग हुए उसको नौ साल हो चुके थे। घर किसे कहते हैं, यह एक दिन भी उसने नहीं जाना। छुट्टियों में गाँव जाता, तो अपने उस कच्चे मकानमें उसे कभी दिलचस्पी नहीं होती। वहाँ बैठकर पढ़ने तकको स्थान नहीं था। फिर बूढ़ी माँ को वह श्रद्धा-सम्मान दे सकता था। उसका प्यार तो अवलम्बनहीन रह जाया करता। केवल अबकी बार उर्मिलाके साथ दो महीने बितानेमें उसको कुछ नवीनताका आभास मिला। पर उसके अन्तरमें किसी औरका प्यार जब करवटें लेता, तो वह भयभीत होकर कह उठता—

"मेरे विधाता, यह कैसा परिहास है? इतने दिनोंके बाद मेरे जीवनमें एक साथी आया, जिससे कुछ छिपाए बिना मैं घुल-मिलकर एक हो सकता हूँ; किन्तु मैं उसे अनन्य भावसे प्यार जो नहीं कर पाता···"

अगले दिन प्रातःकाल जब प्रदीप उठा, तो उसके गलेमें भयानक पीड़ा हो रही थी। नमकके ग़रारे करनेके लिये वह गरम जल इत्यादि माँगनेके लिये मैंनाकी माँ के पास पहुँचा। वह अँगीठी सुलगाए, मिलमें काम करनेवाले अपने देवरकी रोटियाँ सेंक रही थी। चारों

ओर फैली गन्दगीको देखकर प्रदीपको भयानक घृणा होने लगी। इसका गरम किया हुआ पानी वह हलकमें डालेगा कैसे ? उल्टे पाँव फिरकर वह नल परसे अपना लोटा भर लाया और मैनाकी माँ से अनुमति माँग कर अँगीठी पर टिका दिया। इस डरसे कि मैनाकी माँ कोई गन्दी कटोरी उसपर न ढँक दे, या आटेमें सनी अपनी उँगली पानीमें डालकर उसका तापमान न देखने लगे, वह स्वयं ही सँड़ासी लेकर वहाँ बैठ गया।

"गरम पानीका क्या बनाएँगे, बाबूजी !"

"मेरे गलेमें दर्द है, नमक डालकर ग़रारे करूँगा।"

"बाजारमें आप उटपटांग खा गये होंगे। घरके खानेकी होड़ कहाँ हो सकती है ?"

प्रदीपकी आँखें पास थालीमें रखी काले रंगकी मोटी, कच्ची दस-बारह रोटियों पर जा टिकीं। यह क्या इसीको घरका खाना कहती है—वह सोचने लगा। बोला कुछ भी नहीं। पर साथ ही उसको अपनी माँ और उर्मिलाका बनाया हुआ खाना याद आ गया। उस रोटी-तरकारीकी क्या मुँहसे तारीफ़ की जा सकती है।

"यह क्या, बाबूजी ! आपके कमीजमें एक भी बटन नहीं।"—मैना की माँ बोली।

"बटन टूट गए। धोबी तोड़ लाया। लगाऊँगा।"

"आप क्या लगाएँगे। मुझे देना, आँख झपते टाँक दूँगी।"

"अच्छा, तुम्हें दे दूँगा।"

"आप अकेले क्यों रहते हैं ? बहूरानीको क्यों नहीं ले आते ? घरमें मेहरारू हो और आप इत्ती तकलीफ उठाएँ, समझमें नहीं आता। मैनाके बापू तो मुझे एक दिन भी नहीं अलग करते। औरतके बिना कहीं चलता है, बाबूजी !"

प्रदीपने कुछ उत्तर नहीं दिया। वह इस इन्तजारमें था कि पानी गरम हो जाए, तो वह वहाँसे उठे। यह औरत बिना बात उसके मनमें दबी अभिलाषाओंको कुरेदकर जगा रही थी। कल शामको अपनी कोठरीमें लेटे-लेटे उसने खूब सोचा-विचारा था कि उर्मिलाको लाकर घर बसाना चाहिये कि नहीं। वह इसी परिणामपर पहुँचा था कि केवल चाहिये, इसीलिये सब बातें हो नहीं जाती। कहाँ वह मकान खोजेगा, कहाँ आटा-दालकी फिक्र करेगा, कैसे घर-गृहस्थीका भार वहन करेगा। इस चक्करमें यदि वह पड़ा, तो उसकी पढ़ाई तो बस हो चुकी। नहीं, छः-सात महीने जो बाकी हैं, वे उसी तरह बीत जाएँगे ; पीछे पता नहीं वह दिल्लीमें रहे अथवा अन्य कहीं जाए, कौन ठिकाना। रोटीका सवाल हल हो, तो घर बसानेकी फिक्र की जाए।

इरविन हास्पिटल जानेको प्रदीप निकला, तो लगभग नौ बजनेवाले थे। अगस्तकी धूप घर-घरमें सुलगे चूल्होंसे होड़ लगा रही थी। शहरमें अनेकों घोड़ा-गाड़ी, ताँगे, मोटर, बसें चलती थीं ; किन्तु प्रदीपको अपनी गरीबीके कारण किसी पर चढ़नेका अधिकार नहीं था। पैदल चलते-चलते उसने देखा कि सड़क परसे कितनी ही सवारियाँ बिल्कुल खाली इधर-से-उधर जा रही हैं और साथ ही कितने ही स्त्री, पुरुष, बच्चे इत्यादि खाली हाथ अथवा सामान इत्यादि लिये पैदल चल रहे हैं।

उसको सचमुच बड़ा कौतूहल-सा होने लगा। अपने-आपको सभ्य समझनेवाले समाजमें भला इतनी बड़ी बेसमझी क्यों कर सम्भव है? इन लोगोंकी जेबमें पैसा नहीं अथवा जो है, उससे इनको अधिक आवश्यक चीजें खरीदना है—क्या इसीलिये इनको दूर-दूर तक, धूपमें पैदल चलना पड़ेगा—जब कि कितनी सवारियाँ खाली इधर-से-उधर चक्कर लगाया करती हैं। यही क्या। सवारीका अभाव तो तुच्छ बात है। इनको पेटकी आग बुझानेको अन्न नहीं मिलता, जब कि खत्तियोंमें लाखों मन गेहूँ, चना, चावल सड़कर रेत हो जाता है। तन ढाँपनेको कपड़ा नहीं, जब कि कितनी ही गाँठें गोदामोंमें गलकर कर नष्ट हो जाती हैं। सिरके ऊपर छत नहीं, जब कि हजारों महल कबूतरों और चिमगीदड़ोंको आश्रय देते हैं। समाजके ठेकेदारोंके पास जाओ, कह देंगे कि ये लोग आलसी हैं, अशिक्षित हैं, मूढ़ हैं। और·········

चमककर प्रदीप एक ओरको हट गया।

देखा कि एक ताँगा प्रायः उसके ऊपर चढ़ गया था। अपने विचारोंमें डूबा वह सड़क पर भटक गया था और ताँगेवालेकी बड़बड़ाहट सुनकर ही जागा। वह कह रहा था—

"घरसे फालतू है क्या? कूल्हे मटकाता सड़कके बीच चल रहा है, बेटा! जा, तकदीर थी, बच गया, वरना······।"

ताँगा आगे बढ़ गया। बाकीके शब्द प्रदीपने सुने नहीं। देखा कि ताँगेमें जो दो पुरुष बैठे थे, वे ठीक साधारण कोटिके थे। लेकिन उनको तो ताँगेवालेने न-जाने कितनी बार हुजूर कहा होगा और कहेगा।

अस्पताल पहुँचकर प्रदीपने अपना टिकट बनवाया और गलेकी बीमारीवाले वार्डमें खड़ा हो गया। और भी अनेक स्त्री-पुरुष बड़े बूढ़े खड़े थे। डाक्टर और नर्स लोग एपरोन पहने, स्टैथोकोप लगाये इधर-उधर घूम रहे थे। प्रदीपको भयानक एकाकीपन महसूस होने लगा। कोई उसको नहीं पहचान रहा था। उसका अपना व्यक्तित्व एक भीड़में मिलकर विलीन हो गया। वह एक रोगी था, बस, और कुछ नहीं! अस्पतालमें काम करनेवाली नर्सोंके विषयमें उसने अनेक कहानियाँ सुनी थीं—यही कि वे लोग शीघ्र ही प्रेम करने लगती हैं, किसीसे भी, बस आँखें मिलाते ही! प्रदीपने अनेकोंसे आँखें मिलानेकी चेष्टा की, दो-चारसे मिलीं भी; किन्तु उन आँखोंमें प्यार नहीं था, परिचय तक नहीं, सहानुभूति भी नहीं। केवल एक शीतल अंगीकार। तुम भी एक रोगी हो? अच्छा। ठीक है, तुम्हारी भी देख-रेख करेंगे हम। इससे आगे उन लड़कियोंका नारीत्व नहीं बढ़ पाया, प्रदीपके समस्त पुरुषत्वका आह्वान पाकर भी।

प्रदीपने सामने दरवाजेमें लगे बड़े कांचमें अपनी धुँधली छाया-मूर्ति देखी। साफ प्रतिबिम्ब नहीं था, केवल छाया मात्र। लम्बा पतला शरीर, ढीले पाजामे और कुरतेमें ऐसा कुछ जँच नहीं रहा था। एक दृष्टि उसने अपने कपड़ोंपर डाली। हाथके बुने मोटे खद्दरके वे कपड़े, जो उसने अपने हाथों धोये थे, जिनपर इस्त्री तक नहीं की गई थी, भला किसका ध्यान आकर्षित करने लगे? और फिर याद आई उसको अपने साँवले, रक्तहीन चेहरे की—जिसपर बचपनमें निकली चेचकके अत्यन्त छोटे-छोटे दस-पाँच दाग़ थे। पिचके गाल, धँसी, छोटी आँखें, मोटा,

भोंडा नाक, छोटा माथा, लम्बी चिबुक, जिसपर कई दिन हजामत न बनानेके कारण बालोंकी छीदी-छीदी डण्ठलें उभर आई थीं और सिरके लम्बे अस्त-व्यस्त बाल—ऐसी सूरतपर दया दिखाई जा सकती है, कोई भला अपना प्यार क्योंकर उडेल देगा ? प्रदीपको उर्मिलाकी याद आई। वह तो वास्तवमें उससे प्यार करती है, अपरिच्छिन्न, अमोघ। और सुनयना.........

"मिस्टर प्रदीप" की आवाज आई और वह हड़बड़ाकर चपरासीके साथ भीतर चला गया। डाक्टरने उसे एक अजीबसी कुर्सीपर बैठाया और आंखोंपर शीशा चढ़ाकर उसका गला और नाक देखना शुरू किया। प्रदीपको कौतूहल हो रहा था। न-जाने यह क्या बीमारी बताएगा।

अपना काम समाप्त करके डाक्टरने पेन्सिल उठाई और एक परचेपर कुछ लिखकर प्रदीपको देते हुए कहा—

"आपके नाकमें आपरेशन होगा !"

"क्या ?"—भौंचक-सा प्रदीप उसकी तरफ देखने लगा। उसके गलेमें खराबी थी, नाकका क्या कसूर है, जो उसमें आपरेशन होगा ; किन्तु इससे पहले कि वह कुछ पूछता, डाक्टरने अगले रोगीका नाम बोल दिया और प्रदीप सन्नाटेमें आया-सा बाहर निकल गया। उसकी समझ में कुछ भी नहीं आ रहा था। किससे पूछे। असमंजसमें एक ओर खड़ा होकर राह देखने लगा कि कोई एपरोन पहने इधरसे निकले, तो पूछे कि आखिर मामला क्या है ? एक काली, दुबली-सी, जवान नर्स उधरसे गुजरी और आगे बढ़कर प्रदीपने उसका रास्ता रोक लिया।

"Excuse me, miss, could you........"

"I am sorry."

और बराबरसे निकलकर वह आगे बढ़ गई। प्रदीपको भय-सा लगा। कहीं वह कुछ अनुचित तो नहीं कर बैठा। सिर उठाया, तो देखा कि कोट-पतलून पहने एक खूब खाते-पीते-से सज्जन उसकी ओर देखकर मुस्करा रहे हैं। वे बोले —

"छोकरीको घबरा दिया आपने, साहब !"

"जी, मैं तो यही पूछ रहा था कि इस परचेमें क्या लिखा है।"— प्रदीपने डाक्टरका लिखा पुरजा उनको दिखाते हुए कहा।

"Never mind, यह ब्रह्मचारियोंका देश है। यहां अपरिचित पुरुषोंके मुँहसे बात निकलनेसे पहले ही स्त्रियां उसके मायने समझ जाती है...है...है...है...है।"—वे साहब हँसने लगे। प्रदीप कुछ नहीं बोला।

"आपको क्या बतलाया डाक्टरने ?"

"बोले नाकमें आपरेशन होगा।"

"ओ, आपकी सेप्टम शायद Deflect हो गई !"

"जी ?"

"नाककी बीचवाली हड्डी कभी-कभी टेढ़ी होकर गला खराब कर देती है। उसका आपरेशन करना होता है। मेरे छोटे भाईको भी इन्हीं डाक्टर प्रेमदयालने ठीक किया था। किन्तु यहाँ दिखानेसे बात नहीं बनेगी। इनके घर पर जाइए। सुबह आठसे दस बजे तक घर पर देखते हैं। पूरी तसल्ली कर देते हैं। फीस सिर्फ सोलह रुपए है। बाकी सौ दो सौ आपरेशनमें खर्च होगा......।"

प्रदीप सब कुछ सुनकर भी नहीं सुन रहा था। इतने लम्बे-चौड़े रुपयोंकी बात भला क्यों कर उसकी समझमें आती।

"जी, आप..."

"मैं होटल चलाता हूं। फतहपुरीमें 'कारोनेशन होटल' देखा होगा। आपका ही है!"

"अच्छा नमस्ते! धन्यवाद।"—कहकर प्रदीप बाहर चल पड़ा। रास्ते भर मनमें रह-रहकर विचार उठता था—सोलह रुपए फीस और सौ दो सौ आपरेशनके!

२१

प्रदीपके गलेमें तक़लीफ़ बढ़ती गई। दिन-रात उसके गलेमें एक तेज़ाबी पानी-सा गिरता रहता था और वह बार-बार उसे समेटकर बाहर फेंक देता था। यहाँ तक कि कहीं जाकर बैठ रहना उसके लिये मुसीबत हो गया। सुबह प्रमिला और सुधाको पढ़ाने जाता तो बीस बार उठकर उसे नालीके पास जाना पड़ता। हस्पतालमें वह नहीं गया, वहाँ जानेमें उसे भय होता था, न जाने डाक्टर और क्या-क्या बताने लगे। इन्हीं दिनों उसके हाथ एक होम्योपैथीकी पुस्तक लगी। उसको पढ़कर उसे ऐसा लगता था मानों संसारके समस्त रोग-व्याधियोंके लक्षण उसमें विद्यमान हैं। एक परिचित छात्रके पिता वैद्य थे, उनसे मिला।

वह बहुत देर तक उसको फर्श पर लिटाकर उसके पेटमें अपनी उँगलियाँ चुभाते रहे। फिर बोले—

"आप रिक्शा चलाते हैं क्या ?"

"नहीं तो !"—प्रदीपने उनकी बात समझे बिना उत्तर दिया।

"साईकल ?"

"जी नहीं, साईकल मेरे पास नहीं।"—अपना अधिक अभाव वैद्यजी को समझानेके आशयसे प्रदीपने कहा।

"आपका पेट कहता है कि आपको पाँवसे बहुत काम लेना पड़ता है।"

"हाँ, चलता तो बहुत हूँ मैं। यूनिवर्सिटी यहाँसे कितनी दूर होगी ? पाँच मील समझ लीजिये। रोज़ पैदल जाता और आता हूँ।"

"पैदल जाना बन्द कर दीजिये। तांगे या बसमें जा सकते हैं।"

प्रदीप कुछ नहीं बोला। उसको आश्चर्य हो रहा था कि वैद्यजी के सामने पड़े उसके शरीर पर लिपटे मैले, मोटे खद्दरसे क्यों वैद्यजी कुछ नहीं समझ पाए।

आखिर वैद्यजीने बतलाया कि ख़राबी सब उसके पेटमें है। अग्नि-मंद होनेसे पित्त ढीली पड़ गई है, वात और कफका प्रकोप है। प्रदीप मन ही मन कह रहा था कि वैद्यजी चाहे जो समझ लीजिये, मेरा गला ठीक होना चाहिये। वैद्यजीने उसको एक बोतल द्राक्षासव देते हुए खान-पान इत्यादिके विधि-निषेध समझाए और कहा कि प्रतिदिन प्रातः-काल भुने हुए गरम चने और मुनक्का अवश्य खानी चाहिये। घर आकर प्रदीपने एक कटोरीमें आसव डालकर पिया और फैसला कर लिया कि इसे वह रोज़-रोज़ नहीं पी सकेगा। रही चने और मुनक्काकी

बात, सो दो दिन सेवन करनेसे उसको ऐसा लगा कि रोग कम होनेकी अपेक्षा बढ़ गया है। लौटकर वह वैद्यजीके पास नहीं गया।

छोटी जीजीके पास उसने एक दिन ज़िक्र किया तो वे हमेशा अपने पास रक्खी रहनेवाली प्रदीपकी जन्म-कुण्डली लेकर एक ज्योतिषीजीके पास पहुँचीं। ज्योतिषीने अपना गणित-फलित करके न जाने किस नक्षत्र का प्रकोप बतलाया। जीजीने डाकोतको तेल और पुराना ताँबेका पैसा दिया, एक चाँदीकी अँगूठी बनवाकर प्रदीपके बाँयें हाथकी दूसरी उँगली में पहनाई। और भी अनेक उपचार किए। किन्तु प्रदीपके गले पर चढ़ी राहुकी दिशा नहीं बदली। दिन पर दिन उसकी हालत गिरती ही गई। सारे शरीरमें एक भयानक मुर्दनी-सी फैलने लगी, सिर भारी रहने लगा, उसकी सोचने-समझनेकी शक्ति क्षीण हो चली। एक दिन जीजीके घर बैठा था, तो किसी पड़ौसिनसे कहते उनको सुना—

"हमने तो बहुत मना किया था कि लड़कियोंको पढ़ानेका काम अच्छा नहीं है। आग और फूँस कहीं पास-पास रह सकते हैं। पर यह नहीं माना। उन मरी चुड़ैलोंका क्या बिगड़ा, मेरा एक ही भाई है।"

प्रदीप साफ़ समझ गया कि जीजीको पूरा विश्वास है कि उसने अपनी छात्राओंके साथ घोर व्यभिचारका आचरण किया है। सुनयनाका ध्यान आया उसको। मारे ग्लानिके प्रदीपकी छाती धँस गई और वह उठकर चला गया। फिर कभी वह अपने रोगको लेकर जीजीके घर जानेको तैयार नहीं था। हाँ, इतना वह जानता था कि जीजीको उसपर अनन्त ममता है, जिसके कारण उन्हें आजकल भूख-प्यास भी नहीं लगती। कई बार वे अपने चार पुत्रोंका नाम लेकर कह चुकी थीं।

"इनमेंसे एक-दोको कुछ हो जाए, पर, भगवान ! मेरे भाईका बाल भी बाँका हुआ, तो मेरा आधा संसार उजड़ जाएगा।"

और साथ ही उनकी आँखोंसे आँसू बहने लगते। किन्तु इस अँधी-ममताका लोभ प्रदीपको एक दिन भी नहीं हुआ। सदा वह उससे बचनेकी चेष्टा करता रहा

धीरे-धीरे प्रदीप सब ओरसे निराश हो गया। उसने इधर-उधर जाना-आना छोड़ दिया। कालेजमें जाकर पढ़ना अथवा प्रमिला इत्यादि को पढ़ाना अब उसके बसका नहीं रह गया था जब तक स्कूलमें नहीं रह सकता था, वह जाकर किसी पार्कमें पड़ रहता और बाकी समय अपनी कोठरीमें लेटकर बिता देता। उसकी हिम्मत टूट गई। घंटों पड़ा-पड़ा वह मृत्युकी बाट जोहता रहता। रातमें उसे कीटसकी वे लाइनें याद आती थीं :—

Now more than ever seems it rich to die,
To cease upon the midnight with no pain.

किन्तु जब उसे याद आती थी कि गाँवमें उसकी बूढ़ी माँ है, जिसने गिन-गिनकर इतने दिन बिताए हैं, इस आशासे कि प्रदीप किसी दिन जवान होकर उसका दुःख-दर्द दूर कर देगा ; एक और स्थान पर उसकी उर्मिला है जो उठते यौवनकी मीठी नींदमें प्रणयके अनूठे, रङ्गीन स्वप्न देखा करती है और आशा करती रहती है कि पढ़ाई समाप्त करके प्रदीप जब घर बसायेगा, तो वह उसकी रानी बनेगी ; उसकी बड़ी बहिन है, जो अपने एक बेटेके निधनके पश्चात् प्रदीपको देख-देखकर ही धैर्य रक्खा करती है ; तो वह मृत्युके भयसे काँप उठता। वह मर गया तो इनका

क्या होगा ? माँ क्या करेगी, उर्मिला कहाँ जाएगी, बड़ी जीजीको क्योंकर सब्र आएगा ? प्रदीप पड़ा-पड़ा अपनी बेबसी पर घंटों आंसू बहाता रहता। शरीर मुर्दा, मन आशा विश्वास विहीन, कोई साधन नहीं, उपाय नहीं, वह क्या कर सकता था ?

इन दिनों प्रदीपकी दार्शनिक समस्या और भी गहन हो चली। वह बार-बार समझनेकी चेष्टा करता था कि आखिर संसारमें यह सब रोग-शोक, दुःख-परिताप क्यों है ? पिछले जन्मके बुरे कर्मोंका फल कह देनेसे बात नहीं बन जाती, भाग्यका नाम लेनेसे भी हल नहीं मिलता। भगवान्, जिसको संसार सत्यं, शिवं, सुन्दरं कहता है, क्यों अपने संसारमें असत्य, अशिव और असुन्दरका अस्तित्व सहन करता है ? वह सर्व-शक्तिमान है, पलक झपकते वह इस क्रूर-चक्रको बन्द कर सकता है। पर वह ऐसा करता क्यों नहीं ? क्या उसको अपने संसारकी इन सब दुःख-तकलीफ़ों से आत्मीयता है, जो सब कुछ देख-सुनकर भी इनकी मार्जनामें हाथ नहीं हिलाता। यह भी हो सकता है कि संसार बना देनेके बाद उसका नियन्त्रण अक्षुण्ण नहीं रह सका। सम्भवतः भगवान् सब कुछ देख-सुनकर, कुछ इच्छा रहते भी, कुछ नहीं कर पाता। अथवा वह संसारके प्रति एकबारगी उदासीन है, संन्यासीकी भाँति। उसे कुछ मतलब ही नहीं। कुछ भी होता रहे, कोई हँसे-रोए, मरे-जीए, उसकी बलासे।

अन्ततः प्रदीप भगवान्‌के विषयमें कुछ निष्कर्षों पर पहुँच गया। संसारको देखते हुए भगवानके तीन रूपोंकी कल्पना की जा सकती है। गुण्डा, नपंसक, अथवा संन्यासी। संसारकी गुंडा-गर्दीमें उसका साझा है, इसलिये वह चुप है। या बिचारेके बसकी बात नहीं, जानकर अनजान

बना रहता है। या उसको संसारसे घोर वैराग्य है, यहाँ कुछ भी हुआ करे, उसको मतलब नहीं।

इन तीनों रूपोंमेंसे एक भी रूपकी उपासना नहीं की जा सकती, एक भी रूप मानवके विश्वास और पौरुषको बढ़ावा नहीं दे सकता। भगवान अगर गुंडा है तो मानवको उसके विरुद्ध विद्रोह करके उसके साम्राज्यका तख्ता उलटना होगा। अगर नपुंसक है तो उससे कोई क्या आशा रख सकता है। और यदि संन्यासी है तो हुआ करे, हमारा उससे मतलब ही क्या, वह अपने घर, हम अपने घर। बात-बातमें उसकी दुहाई देना घोर नीचता है, कमीनापन है। हम रोएँ, गिड़गिड़ाएं और किसीके कान पर जूँ तक न रेंगे, किसीकी समाधि भंग न हो, चेहरे पर करुणा की रेख तक न फूटे—ऐसे पत्थरसे भगवानको लेकर कोई करे भी तो क्या?

उपनिषद् कहते हैं कि संसार माया है, अविद्याके कारण ही हम जगत्को सत्य मानकर सुख-दुःखकी अनित्य घाटियोंमें घूमते हैं, रज्जुमें साँपका भ्रम करते हैं। जान पड़ता है कि उपनिषद्कारोंके गलेमें कभी इतनी भयानक पीड़ा नहीं हुई, सिरमें पाषाण नहीं जमे, अन्यथा सारी तत्त्व-चर्चा भूलकर दवा-दारूके चक्करमें पड़ जाते। उनको रोग होता भी कैसे? जङ्गलोंकी खुली हवामें आश्रम बनाकर रहते, खानेको फल-फूल मिलते और पीनेको झरनोंका अमृत-सा पानी अथवा राजा-रईसों द्वारा दानमें दी हुई धेनुओंका शुद्ध, स्वच्छ दूध। उनको रोग क्यों होने लगा। यदि वे लोग दिल्लीकी संकरी, सड़ी गलियोंमें काल-कोठरी लेकर निवास करते, शुद्ध भोजनालयमें गौड़-ब्राह्मणके हाथका पकाया

हुआ पुराना अन्न और गली-सड़ी सब्जियोंका साग खाते, धूपमें मीलों मील पाँव-पाँव चलकर जाते, तो कदाचित् ही संसारको माया कहनेका साहस उनको होता। वे सहज ही मान लेते कि संसार निश्चय ही सत्य है, कठोर, कड़वा, असहनीय भले ही हो। दुखी, त्रस्त, सन्तप्त मानव-सन्तानका इतना भारी परिहास करनेकी क्षमता वे नहीं जुटा पाते। हाय रे वेदान्त!

वैष्णव लोग कहते हैं कि संसार भगवान्की लीला है! वह बड़ा नटनागर है, बड़ा मायावी। दुःख-सुख, सब कुछ नहीं। भगवान्की देन है, श्रद्धाके साथ नत-मस्तक होकर सब स्वीकार करना चाहिये। और दुःख तो भगवान अपने परम-आत्मीयोंको देता है। उसकी इस मधुर प्रसादीको चखकर जो अपनेको धन्य नहीं मानता वह अत्यन्त पामर है, दुर्भाग्यशाली है। 'बलिहारी वा दुःखकी पल-पल नाम रटाय।' 'रघुपति राघव राजाराम।' 'श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे।' 'जानकीवल्लभ, गोपीनाथ'—'गोपी पीन पयोधर मर्दन चंचल करयुगशाली।' 'पीनपयोधर मर्दन···राधाके चितचोर'···'मक्खन चुरानेवाले···रास रचानेवाले!' कान्हाके गलेमें दर्द नहीं हुआ, न वे इरविन हास्पीटलके एपरोन पहनने वाले डाक्टर और नर्सोंके हाथोंमें पड़े। वैद्यजीके सामने लेटकर उन्होंने अपने गरीब पेटपर अत्याचार नहीं सहा। अन्यथा कौन जाने लीला कर पाते कि नहीं। बाँसुरी बजाकर गोपियोंके संग नाचनेमें कौन-सी बहादुरी है। अरे यदि लीला करनी थी तो इतनी बीभत्स क्यों की? भगवान्, समस्त चराचर विश्वके सिरजनहार, लीला करें और उसके फल-स्वरूप कोई शरीर, मन और प्राणोंमें दुर्वह पीड़ा, परितापका अभिशाप

लेकर चौंसठ घड़ी तिलमिलाता रहे—बात कुछ समझमें नहीं आती। उसी लीलाके फलस्वरूप केवल सौष्ठव शरीर, प्रफुल्ल मन और मुग्ध प्राण ही वे समस्त संसारमें फैला सकते थे। किन्तु भगवान्‌को क्या पड़ी? कोई रोए, झींके, बिलबिलाए। उनकी लीला चलती रहती है, अजस्र, अबाध। लीलामें कोमलता, करुणाका क्या काम? पत्थरका दिल चाहिए, यन्त्रवत थिरकते रहनेके लिए। अन्यथा पलक मारते सुरतालसे स्खलित हो जाएँ। प्रलय—सृष्टिका लय! नहीं, नहीं!

संसारमें दुःख-सुखकी स्वयंभूत सत्ता माननी होगी। उनको केवल माया-मोह अथवा नटनागरकी लीला कह देनेसे किसीका समाधान हो जाए, दुःख-सुखके अस्तित्वमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। केवल समाधान और बौद्धिक निरूपणके फेरमें पड़कर मनुष्य थोड़ी लीपा-पोती करनेमें भले ही सार्थक हो जाए, वस्तु-जगतकी पार्थिव सत्तामें वह एक अणुका भी हेर-फेर नहीं कर पाता। किन्तु आश्चर्य यह है कि रस्सीको साँप कहनेवालेको तो हम पागल और भ्रान्त कहते हैं और साँपको रस्सी कहनेवालेको मनस्वी, योगी और न-जाने क्या-क्या अलौकिक उपाधियाँ देकर युग-युगका परम पूज्य और प्रातःस्मरणीय ठहराते हैं। इसीलिए तो आज भी संसारके पुजारी-पण्डे छप्पन-भोग खाकर अलख निरञ्जनका प्रचार करते-रहते हैं। पर मानव एक दिन अवश्य जागेगा······एक दिन उसको अपनी भूल समझमें आएगी······एक दिन······

इसी प्रकार प्रदीपके मन और बुद्धिमें अपनी बीमारीकी प्रतिक्रिया चलती थी। उसने सुना था कि मनुष्यपर जब दुःख पड़ता है, तो सिवाय भगवान्‌के कोई सहारा नहीं रहता, भगवान्‌पर उसका विश्वास दृढ़

हो जाता है। किन्तु उसके अपने जीवनमें तो ठीक उल्टा हुआ। यह दुःख ..के ऊपर आनेसे पहले वह दृढ़ निश्चयके साथ नहीं कह सकता था कि भगवान-वगवान सब एकदम बकवाद है, अज्ञान और आत्म-विश्वास-हीनताका फल है; अनेक बार सोचा था उसने; किन्तु नितान्त निष्कर्षपर वह एक दिन भी नहीं पहुँच पाया था। इस बीमारीने उसके अस्थिर अविश्वासको केवल तर्ककी बाड़से ही नहीं बाँधा, बल्कि एक अत्यन्त उद्दाम भावनाके जलसे सींचकर जमा दिया। उसका मन, बुद्धि, प्राण, किसी प्रकार भी यह माननेको तैयार नहीं थे कि दुःख संताप भरे संसारका स्रष्टा, नियन्ता एक सत्यं, शिवं, सुन्दरं सच्चिदानन्द है। और साथ ही प्रदीपका जीवन गहन अन्धकारसे भर उठा। विश्वासका बल नहीं रहा, आशाकी अन्तिम ज्योति टिमटिमाकर बुझ गई। प्राणोंका बोझ शरीरके लिए दुर्वह होता जा रहा था। वह निश्चय ही आत्म-हत्या कर लेता; किन्तु ऐसा विचार करनेके साथ-साथ बूढ़ी माँ और नवोढ़ा पत्नीका मुख उसकी आँखोंमें थिरक उठता था, जैसे वे कह रही हों—"हमारी तरफ देखो प्रदीप! कौन है हमारा तुम्हारे बिना? टूटे-फूटे, अच्छे-बुरे, जैसे तुम हो, तुम हो तो सही। तुम नहीं रहोगे, तो हम कहाँ जाकर सिर छुपाएँगी, कौन हमें आश्रय देगा......?"

प्रदीपने अपनी कोठरीमें टँगी ईसा-मसीह और गांधीकी तस्वीरें उतारकर फगवाको दे दीं। दर्शन-शास्त्रके अनेकों ग्रन्थ उसके पास थे। इधरमें विशेषकर वह श्री अरविन्दके दर्शन और योग-सम्बन्धी पुस्तकोंका अध्ययन कर रहा था। एक दिन सबको इकट्ठा करके वह घरसे निकला और शाम तक जगह-जगह जाकर जिन मित्रों और पुस्तकालयोंकी वे

पुस्तकें थीं, उन-उनको लौटा आया। साथ ही उसने ढूँढ़-ढूँढ़कर टामस् हार्डी और जोजेफ़ कोनरेडके उपन्यास इकट्ठे किए और उनको पढ़-पढ़कर अपने दिन बिताने लगा। अनन्त, अथाह निराशाके गर्तमें उतरते-उतरते उसने आशाकी अभीप्सा-मात्र मनसे मिटा डाली।

जिस दिन उसने हार्डीका Jude the Obscure पढ़कर समाप्त किया, उस दिन उसके भीतर न-जाने क्या कह उठा—"तू पत्थर है, मानव नहीं; सब सहता जा, सब सह सकेगा।"

२२

सुनयनाने नौकरके हाथ प्रदीपको बुला भेजा था। वह उसके घर पहुँचा, तो प्रायः साँझ हो चली थी। नीचे सहनके बीचोबीच पड़ी आराम-कुर्सीपर लेटकर प्रदीप सुनयनाकी बाट जोहने लगा। आते ही उसने कहा—

"प्रमिला कह रही थी कि आपकी तबियत ठीक नहीं रहती। क्या बात है?"

"अचानक न-जाने कैसे मेरे शरीरका दीवाला निकल गया है। समझ में नहीं आता, क्या किया जाए?"

"किसीको दिखाया था क्या?"

"डाक्टरने कहा कि नाकमें आपरेशन होगा। उसके लिये मैं तैयार नहीं। वैद्यजी कहते हैं कि मेरे पेटमें खराबी है, पर उनकी दवासे तो कुछ लाभ नहीं हुआ।"

"आप दिल्ली छोड़कर चले क्यों नहीं जाते? यहाँ तो आपकी देख-रेख करनेवाला कोई नहीं। खाने-पीनेका कुछ ढंग नहीं। बात बढ़ गई, तो बड़ी मुश्किल हो जाएगी।"

"कहाँ जाऊँ, यही तो मैं भी सोचता हूँ।"

"उर्मिला भा[illegible] कहाँ हैं?"

"रोहतकमें, अ[illegible] पिताके घर।"

"वहीं चले जाइए। वह गाँवका गाँव है, शहरका शहर। वहाँ डाक्टर-हकीम भी मिल जाएँगे, अच्छा हवा-पानी भी। क्यों?"

प्रदीप चुप रहा। वह क्या कह सकता था। अपनी बेबसी सुनयनाके सामने कहनेसे उसे नफ़रत होती थी। रोहतक जाकर वह कहाँ ठहरेगा, कौन अपने सिर उसका भार लेगा? वहाँ ठहरनेको घर चाहिए। उर्मिला भी साथ रहेगी। घर चलानेको रुपया चाहिए। दवा-दारूका भी इन्तजाम करना होगा। वह भला कहाँसे रुपया लाएगा। और उसकी पढ़ाईका क्या होगा? इस साल उसे एम० ए० पास कर ही लेना चाहिए। और अधिक समय यूनिवर्सिटीमें बितानेको उसके पास नहीं था।

"आप चुप क्यों हैं, बोलिए ना?"—अत्यन्त कोमल स्वरमें सुनयना बोली। प्रदीपके मौन भंग न करनेपर वह फिर कहने लगी—"आपका यह हाल मुझसे नहीं देखा जाता; किन्तु मेरी बेबसी भी आप ज[illegible]
जी चाहता है......"

कहते-कहते सुनयनाकी आवाज भारी हो गई, आँखोंमें आँसू छलछला आए और वह उठकर चली गई।

प्रदीप अपने स्थानपर बैठा रहा। सुनयनाकी छातीमें उमड़नेवाले प्यार और संयमके द्वन्द्वको वह समझ सकता था। आज पहले-पहल उसको निश्चित रूपसे अनुभव हुआ कि सुनयना उससे कितना प्यार करती है और उसके अन्तस्तलमें जागते हुए निबिड़ माधुर्यके अतिरेकने उसको विभोर बना डाला। माँ और बहिनोंका अनन्य स्नेह उसने पाया था। उर्मिलाने भी अपने नारीत्वका समस्त प्यार उसके व्यक्तित्वपर उँडेला था। किन्तु सुनयनाका यह मूक प्रणय मानो अपनी जातिमें भिन्न रहा हो। प्रदीप भूल गया कि वह कुरूप है, दरिद्र है, रुग्ण है। सहसा उसके जीवनपर छाया हुआ काला, कठिन, कुहासा बिखरकर शीतके अरुणोदय-सा मीठा सुख उसके तन-प्राणमें भर गया। प्यार करनेमें गहन आनन्द मिलता है; किन्तु साथ-साथ तीखी वेदना भी। किन्तु प्यार पानेकी अनुभूति शुद्ध, स्वच्छन्द, अपरिसीम आनन्दकी लहर-पर-लहर उठाकर जीवनको अनुपम रूपमें सार्थक बना जाती है।

उस आनन्दातिरेकमें डूबकर प्रदीप भूल गया कि वह किसी दिन भी सुनयनाको अपनी जीवन-संगिनीके रूपमें नहीं पा सकेगा। एक झूठे मोहमें पड़कर क्या वह अपनी अपूर्व उपलब्धिको झुठला दे? दो क्षण ही क्यों न हो, सुनयनाका प्रगाढ़ प्रणय, उसके जीवनके बिखरते साजको सम्भालकर, यदि जीवन-संगीतकी एक भी स्वर्गीय हिलोर प्रेरित कर पाया, तो वे दो क्षण ही प्रदीपके लिए अपने चारों ओर फैली विशाल नैराश्यकी मरुभूमिपर आशाके दो सजल, उज्ज्वल हिमकण बनकर उसके डगमगाते

विश्वासको सम्भालते रहेंगे। सदा-सदा वह दावेके साथ कह सकेगा कि मानवकी विडम्बना कितनी ही दुरूह हो, उसका दुःख कितना ही अपरिमेय हो, उसकी वेदना कितनी ही अगाध हो—मानव प्रणयका पात्र है और हृदयकी इस विभूतिको जीवन-तुलाके इस पलड़ेमें रखते ही, वह पलड़ा फूलके समान ऊपर उड़ जाता है।

लगभग बीस-पचीस मिनट इसी प्रकार अपना अस्तित्व भुलाकर प्रदीप आनन्द-सागरमें गोते लगाता रहा। ग्रीष्मकी सान्ध्य बड़े अलस भावसे गाढ़ी होती जा रही थी। वह बैठा रहता; किन्तु सुनयनाके नौकरने आकर नींदसे जगा दिया।

"बीबीजीने कहलाकर भेजा है कि आपको देर हो जाएगी, आप जाकर आराम कीजिए।"—नौकर प्रदीपसे अत्यन्त विनम्र, स्नेहपूर्ण स्वरमें बोला। मानो सुनयनाने उसको भेजनेसे पहले कई बार ये शब्द उसके मुँहसे कहलाकर रिहर्सल कराई हो।

"अच्छा! हाँ, सुनयनासे एक किताब तो ले आओ। मैं कागजपर लिखे देता हूँ।"—प्रदीपने उठते हुए कहा।

"जी, बीबीजीने अपने कमरेका द्वार भीतरसे बन्द करते हुए कहा था कि कोई कुछ भी क्यों न कहे, उनको द्वार खोलनेके लिए न कहा जाए।"

प्रदीप कुछ नहीं बोला। वह मन्द गतिसे घरके बाहर निकलकर चल दिया। गलीमें कुछ आगे बढ़कर उसने सुनयनाके घरके छज्जेपर निगाह डाली, तो अन्धेरेमें इतना देख पाया कि उसके ऊपर आँख उठाते ही एक छाया-मूर्त्ति पीछे हटकर विलीन हो गई।

प्रदीपके तन-प्राणमें एक अत्यन्त कोमल, भीनी-भीनी, स्फुर्ति मुस्करा रही थी। जीवनकी स्पृहा, जो इतने दिनसे क्षीण होते-होते प्रायः मिट चली थी, एक अँगड़ाई लेकर अपने नवयौवनका बोध कराने लगी। पाँवके नीचे पड़ी कठोर धरती कह रही थी—

"तुम जीनेका व्रत लो, प्रदीप। अपने असंख्य पुत्रोंका भार मैं वहन करती हूँ; किन्तु मेरी आकांक्षा है कि एक पुत्रके अभिमानसे मेरी छाती फूल उठे। तुम जीनेका व्रत लो, प्रदीप।"

उसके चारों ओर फैला असीम आकाश संगीत-स्वरमें फुसफुसा रहा था—

"तुम थकनेका नाम न लो, प्रदीप। जलते रहो। भड़कना कापुरुष का काम है। मेरे अन्तरमें भरे अन्धकारमें जगमगानेका अधिकार तुम्हारा सदा अक्षुण्ण रहेगा। तुम बुझनेका नाम न लो, प्रदीप!"

रातके मलयानिलमें रूपान्तरित होता दिनका वातास बाँसुरी-सा बज उठा—

"तुम उड़ना छोड़ बैठे, प्रदीप! यह क्या किया तुमने? अपने पर क्यों समेटे? खोलो डैने, फड़फड़ाओ पाँखें; मैं तुमको अप्सराओं के लोकमें ले जाऊँगा। अम्बर मत छोड़ो, मेरे भाई! उड़ो, और ऊँचे उड़ो, प्रदीप!"

प्रदीपको चार दिन पहलेकी अपनी दार्शनिक माथा-पच्चीपर हँसी आने लगी। किस प्रकार उसने अपने विचार और भावनाके वैभवको लुटाया था। छीः, पगला! जीवनमें यदि हार मिली, तो रोने-धोनेके क्या मायने। पसीना पोंछ, और फिर जूझ जा। निराशाके मूल

में अभिमान होता है; किन्तु अभिमान किससे, गिला किस पर ! कोई हो तो ! विश्वका प्रत्यावर्तन, शाश्वत नियमोंसे तिल भर भी स्खलित न होनेवाला लौह-चक्र—और मानव ! कोमल, कच्चा, कम-हुनर मानव ! इस स्थितिमें जो चुनौती विद्यमान है, उससे कायरकी नाईं पीठ फेरकर तू अपने दुर्भाग्यपर रोएगा, बदनसीबीपर माथा फोड़ेगा ? मानवके चोलेपर कलंक मत लगा, प्रदीप ! पाँव लड़खड़ाते हैं, हाथ काँपते हैं, मन मूर्च्छायमान होता है, आँखें देख नहीं पातीं; पर तू डग भरता जा, अजस्र, अबाध गतिसे, संशय विमुक्त, भयविहीन। ऊसर मिले, बीहड़ मिले, मरुथल मिले—पथमें पत्थर हों, काँटे हों, अंगारे हों—रुक गया, तो तेरी मानवता तुझको धिक्कार उठेगी। नहीं, तू रुक मत। चलाचल। पथ नहीं जानता, दिशाका ज्ञान नहीं है, मंजिलकी पहिचान नहीं—मत हो, पर यदि मानव है, तो तू बैठ नहीं सकता।

अपनी मानवताकी आवाज सुन, जड़-यन्त्रकी गड़गड़ाहट उसमें डूब जाएगी।

प्रदीप अपनी छोटी जीजीके पास पहुँचा। सुनयनाने जो सलाह उसे दी थी, वह सब उसने अपने शब्दोंमें कह सुनाई। सुनकर जीजी बोली—

"हाँ, तुम जरूर रोहतक चले जाओ। वहाँ मेरा मकान खाली पड़ा है, वहीं रहना। एक महीना और, फिर सर्दियाँ आ जाएँगी। सब ठीक हो जाएगा।"

"लेकिन जीजी, वहाँ घर बसाकर रहनेमें, तुम जानती हो, खर्च होगा। मेरे पास तो फूटी कौड़ी भी नहीं है। बापूके पास लिखना फिजूल है। रुपया कहाँसे आएगा ?"

"रुपएकी बड़ी कही। कोई लाख-दो-लाखका मामला होता, तो हम लाचार थे ; पर हजार-पाँच सौ लायक तो हम हैं, भाई ! तुम अच्छे हो जाओ, तो बहुत कमाओगे। आड़े दिन सबके आते हैं, पर रोज-रोज तो नहीं रहते।"

प्रदीप मुग्ध-सा जीजीकी ओर देखने लगा। कोई दर्प नहीं, अभिमान नहीं ; कितनी सरलतासे उन्होंने सारा भार अपने सिर ले लिया। वह जानता था कि जीजीके पास धन-दौलत नहीं है, जीजा जो कमाते हैं, उसमें ये अपना काम ही चला पाती हैं। पर आदमीका दिल भी तो कोई मायने रखता है। परिस्थितियोंका बन्धन ही सब कुछ नहीं होता।

अपनी कोठरीपर जाकर प्रदीपने सुनयनाको एक पत्र लिखा—

"सुनी,

तुम्हारी बात मानकर मैं रोहतक जा रहा हूँ। तुमसे विदा नहीं ले सकता, इसका मुझे खेद है। जीता रहा, तो फिर किसी दिन तुम्हें आ देखूँगा। और क्या कहूँ ?

—प्रदीप"

जल्दी-जल्दी प्रदीपने अपने कामकी बहुत-सी पुस्तकें बटोर लीं और दूसरे दिन वह रोहतकके लिए चल पड़ा। सुनयनाको छोड़ आनेके परितापके साथ-साथ उसके मानसमें उर्मिलासे मिलनेका आह्लाद भी था। हाँ, उसके मस्तिष्कमें जिस उर्मिलाका छाया-चित्र था, वह हाड़-मांसकी उर्मिलासे मेल नहीं खाता था। न-जाने किस प्रकार प्रदीपकी आँखोंमें रह-रहकर एक स्वर्ण-वर्णाकी मूर्त्ति घूम जाती थी। सुन्दर, सुडौल,

मांसल शरीर, उन्नत उरोज, भरी हुई चंचल जाँघे और लताके समान उसके साथ लिपट जानेवाले दो गोरे, गोल कलाइयोंवाले हाथ—इतना ही वह देख पाता था। उर्मिलाका चेहरा और बात-चीत उसको भरसक प्रयत्न करनेपर भी याद नहीं आते थे। मानो उर्मिला केवल मात्र शरीर हो, उसके परे कुछ नहीं। स्वस्थ यौन-वासनामें निश्चय ही दोष नहीं होता; किन्तु मनुष्य उसके ऊपर भावनाका प्रासाद बनाना चाहता है। प्रदीपके साथ अजीब खेल हुआ। एक प्रासाद था कि जिसको आधार नहीं मिल सका, एक आधार था कि जिसपर प्रासाद नहीं बन पाता था।

उर्मिलाने अपनी जार्जटकी साड़ी उतार, सादे वस्त्र पहिनकर बर्तन मले, चौका लगाया, साग काटा, आटा गूँथा और आग जलाकर ज्योंही गरम पतीलीमें ज़ीरा और घी डाला, तो सामने चारपाईपर लेटे प्रदीपके मनने कहा—

"नारी या तो प्रणयनी बन सकती है या गृहिणी। उसके कोमल फूलसे हाथोंको या तो चूमा जा सकता है, या उनसे झाड़ू लगवाई जा सकती है। जिस समाजमें प्रणय और कामके बीच यह दीवार गिर जाएगी, उसमें प्रणय, प्रणय रहेगा और काम, काम—यह आज कह देना नितान्त हठ-धर्मी है।"

"आप तौरीमें पानी ज्यादा पसन्द करते हैं कि कम?"—उर्मिलाने पूछा।

"तुम भूल गईं, उर्मि! मुझे क्या पसन्द है और क्या नापसन्द?"—कहता हुआ प्रदीप उठकर उसके पास जा बैठा।

कुछ-कुछ आरक्त कपोल पर एक अनपेक्षित चुम्बन पाकर उर्मिला कुहुंक उठी—

"बड़े वैसे हो !"

२३

प्रदीपके रोहतक पहुँचनेके दो-चार दिन बाद उसकी माँ बर्तन-भाण्डे इत्यादि घर-गृहस्थीका सामान और कुछ रुपए लेकर अचानक आ पहुँची। प्रदीपने लौट जानेको कहा, तो बोली—

"तुम बीमार होकर यहाँ पड़े रहो और मैं घर बैठी तुम्हारी चिट्ठीकी राह देखती रहूँ—यह मुझसे नहीं हो सकता, प्रदीप ! मैं माँ हूँ, बेटा !"

माँ ने आते ही घरका सारा भार अपने सिरपर ले लिया। सदासे उनका स्वभाव था कि और किसीका किया काम उनको पसन्द ही नहीं आता था। उर्मिलाको सब औरसे फ़ुर्सत मिल गई। उसके सिर अब प्रदीपकी देख-भाल करना भर रह गया। प्रदीपको शरत्-साहित्य पढ़नेके पश्चात् स्त्रियों द्वारा की गई सुचारु देख-रेखका नशा रहता था। वह आशा करता था कि उर्मिला सावित्री और राजलक्ष्मीकी भाँति तन्मय भावसे उसकी सेवा करेगी। वह यह भूल गया कि सावित्रीके लिए सतीश और राजलक्ष्मीके लिए श्रीकान्तका होना आवश्यक था। और जब उसने देखा कि उर्मिलाका प्रायः सारा समय पास-पड़ौससे आई लड़कियों में बैठकर गप्पें मारनेमें बीत जाता है, तो उसे झुँझलाहट होने लगी। उर्मिला उसके पास बैठती, तो प्रदीप आशा करता कि वह अपनी गोदीमें लेकर उसका सिर सहलाएगी और नयनोंकी मौन-भाषामें अनवरत कहती

रहेगी—"मेरे हाथोंमें तुम निश्चिन्त रह सकते हो। मैं केवल अपने मूक-प्यारसे सारी व्याधियाँ दूर कर दूँगी!"

किन्तु उर्मिला या तो उसको देख-देखकर आँखोंमें आँसू भर लाती अथवा गहने-कपड़े इत्यादिकी बातें चलाकर उसका धैर्य नष्ट कर डालती। प्रदीप चाहता था कि उर्मिला एक गम्भीर, सम्पूर्ण नारीके रूपमें प्रस्तुत हो, जिसकी सुरक्षामें वह शिशुकी भाँति अपने-आपको छोड़ दे। पर उर्मिला तो स्वयं बालिका थी, जिसको सतत एक संरक्षककी आवश्यंता होती थी। वह प्रदीपकी माँगको भला क्या पूरी करती!

एक दिन प्रदीपने दवाके समय देखा कि उर्मिलाने तीन घण्टे पहले की जूठी कटोरीमें शीशी उँड़ेलकर उसकी ओर बढ़ा दी है। प्रदीपको भयानक क्रोध चढ़ आया और कटोरी लेनेके लिए उसने हाथ नहीं बढ़ाया। उर्मिला बोली—

"दवा पी लो ना!"

प्रदीप चुप रहा। उसके मुखकी घोर मुद्रा देखकर उर्मिला फिर बोली—

"गुस्सेकी क्या बात है? मुझसे कोई कसूर हुआ है क्या?"

प्रदीप चीख उठा—"तुम चली जाओ यहाँसे! मैं तुम्हारे हाथसे दवा नहीं पीना चाहता।"

हाथकी कटोरीको जमीनपर पटककर उर्मिला हवाकी तरह कमरेके बाहर हो गई और बाहर दालानमें बैठकर घण्टों रोती रही। माँ ने आकर प्रदीपसे पूछा कि बहूको क्या कह दिया, तो प्रदीप कुछ नहीं बोला। उसका खून जल रहा था। कैसी बुद्धू लड़की है!

चार-पाँच दिन तक दोनोंमें मन-मुटाव रहा। उर्मिला प्रदीपके कमरेमें आती-जाती रहती; किन्तु प्रदीप उसे देखकर मुँह फेर लेता। एक-दो बार उर्मिलाने बड़ी दबी आवाज़में उससे पूछा—

"कुछ चाहिये तो ला दूँ ?"

किन्तु प्रदीपने उत्तर नहीं दिया। वह सिर झुकाकर धीरे-धीरे कमरे के बाहर निकल गई।

वैद्यजीने प्रदीपके सिरमें मलनेके लिये एक तेल दिया था। उनका अनुरोध था कि आध घण्टे तक मालिश करके उसके घुटे हुए सिरमें कमसे कम दो-तीन तोले तेल रोज़ खपा देना चाहिये। यह काम उर्मिला ही किया करती थी। इन मन-मुटावके दिनोंमें भी ठीक समय पर आकर वह उसके सिरहाने बैठ जाती और अनथक गतिसे मालिश करती रहती। प्रदीप आँखें बन्द किए पड़ा रहता, जैसे उर्मिलाके अस्तित्वको स्वीकार करनेके लिये वह बिलकुल तैयार न हो।

उस दिन प्रदीपने अचानक आँखें खोलकर एक बार उर्मिलाको निहारा। उर्मिलाकी आँखोंमें आँसू थे, मुख पर भारी बेबसी। पलक मारते वह पिघल गया। अपना हाथ उसके कन्धे पर रखता हुआ, वह अत्यन्त संवेदनापूर्ण स्वरमें बोला—

"क्या बात है, उर्मि ?"

और उर्मिला उसकी छातीमें सिर छुपाकर बुरी तरह सुबकने लगी। प्रदीप उसका सिर सहलाता रहा। थोड़ी देर बाद उर्मिला उठकर चली गई और शाम तक उसके कमरेमें नहीं आई। टहलने जानेसे पहले प्रदीपने उसे बुलाया।

"मेरा शादी वाला सूट निकाल ला तो, उर्मि।"

वह बिना बोले जाकर प्रदीपका ऊनी सूट निकाल लाई। वह कपड़े पहनकर तैयार हुआ तो एक साफ-सफेद रुमाल उर्मिलाने उसकी ओर बढ़ा दिया। रुमाल लेते हुए वह कनखियोंसे उसकी ओर देखकर मुस्करा दिया। वह सिर झुकाकर धोतीका आँचल बाएँ हाथकी तर्जनी पर लपेटने लगी। आगे बढ़कर प्रदीपने उसको बाहूपाशमें भर लिया। बोला—

"सिर ऊपर उठाओ, उर्मि।"

उर्मिलाने सिर ऊपर उठाया तो वह उसकी आँखोंमें आँखें डालकर मुस्कराने लगा। फिर उसके सूखे अधरों पर एक गहरा चुम्बन आंकते हुए वह फुसफुसाया—

"एक बार मुस्करा दो ना।"

और उर्मिलाके मुखकी एक-एक रेखामें एक उत्फुल्ल, अम्लान मुस्कुराहट भर गई। उसके गाल पर दो हलके चपत लगाकर प्रदीप कमरेके बाहर हो सीढ़ियाँ उतर गया।

एक मधुर भावमें डूबा प्रदीप साँझके झुटपुटेमें शहरके बाहर निकल चला। हिसार जाने वाली सड़क पर एकान्त था। कभी-कभी कोई बस या तांगा सन्नाटेको भङ्ग करता हुआ निकल जाता था। प्रदीप मन्द, अलस गतिसे सड़क पर बढ़ता जा रहा था।

उसका मन ज़ोर-ज़ोरसे कह रहा था कि निश्चय ही उसने उर्मिलाके साथ घोर अन्याय किया है। उसको सुनयनाके शब्द याद आए—

"आपने उर्मिला भाभीके मापदण्डसे कभी अपने आपको आँककर देखा है? आँक कर देखिए, आप स्वयं कितने ओछे उतरेंगे।"

वास्तवमें वह सदासे उर्मिलाको अपने माप-दण्डों पर आंकता रहा। उसके माप-दण्ड शरद् बाबूके स्त्री-चरित्र थे—सावित्री, राजलक्ष्मी, भारती, नीलिमा, शिवानी। उन नारी-मूर्तियोंसे उर्मिलाका मेल नहीं खाता था और प्रदीपको झुँझलाहट होती थी। आज प्रदीपने अपने निजके आदर्शों पर ही कुठाराघात करना प्रारम्भ किया। उसे ऐसा लगा मानो शरद् बाबूने हाड-मांसकी बनी नारीकी सीमाएँ नहीं पहिचानी, उसकी स्वतन्त्र, पुरुषसे भिन्न सत्ताके दावेको नहीं माना। हाड-मांसकी नारीके मार्गमें वे काव्यकी नारियाँ कितनी बड़ी बाधाएँ हैं? पहिले पुरुष समाज सीता, सावित्रीके आख्यान सुनाकर नारीके दासत्वको शास्त्र-प्रमाण की सफेदीसे पोत देता था। जब वे आदर्श बेकार होने लगे, तो शरद् बाबू जैसोंने एक नवीन आदर्शका ठप्पा बनाया। दोनोंकी जड़में अभि-प्राय एक ही रहा—नारीकी स्वतन्त्र-सत्ताको, उसके अपने आत्मनिष्ठ व्यक्तित्वको माननेसे इन्कार करना। नारी पुरुषकी रखैल है, प्रेयसी है, सेविका है—यही तो। इससे अधिक कुछ नहीं। नारी अपने आपमें कुछ नहीं। यही तो?

उर्मिला भरण-पोषणके लिये उसका मुँह ताकती है, इसीलिये तो आत्म-निर्णयका अधिकार उसे नहीं मिला। प्रदीप मुस्कराता है तो उर्मिलाका संसार जगमगा उठता है। वह तेवर चढ़ाता है, तो उसका संसार अंधकारमें डूब जाता है। उर्मिलाके हँसने-बिगड़नेके जैसे कोई

मायने ही नहीं ! और इस स्थितिके विरुद्ध वह विद्रोह नहीं कर सकती। ऐसा करनेका अधिकार उसको समाजने नहीं दिया।

प्रदीपको याद आई उस दिनकी जब उर्मिलाको उसके पिताके घर देखकर उसने कह दिया था कि वह उससे विवाह करेगा। उस दिन यह बात उसके विचारमें ही नहीं आ सकी थी कि यह एकतरफा फैसला पूर्ण फैसला नहीं हो सकता। वह सोच ही नहीं सका था कि उर्मिला उसे पसन्द है तो क्या, वह उर्मिलाको नापसन्द हो सकता है। उर्मिलासे किसीने पूछा तक नहीं। पूछनेकी आवश्यकता तक नहीं समझी। बस प्रदीपके हाँ कह देने पर उर्मिलाके घरवाले लड़कीके सौभाग्यको सराहने लगे। कैसा वर पाया था !

पिछले दिनों गाँवमें वह उर्मिलाके साथ रहा, तो मन ही मन अपनी ग़लती पर कुढ़ता रहा। उर्मिला उसकी आशानुरूप सुन्दरी नहीं निकली, उसमें शिक्षाका अभाव था। किन्तु सुन्दर तो वह स्वयं भी नहीं था। और शिक्षा उसकी भला उर्मिलाके किस काम आई ? दुनियाकी आँखोंमें वह प्रकाण्ड विद्वान हुआ करे, उर्मिलाको उससे क्या ? उसकी विद्वत्ताने कभी भी उसे उर्मिलाके व्यक्तित्वको सहानुभूतिके साथ समझकर उत्साहित करनेके लिये प्रेरित नहीं किया। साथ ही उसके पाण्डित्यके गर्वने उर्मिलाके व्यक्तित्वको पैरों तले कुचल डाला। इससे अच्छा तो कोई साधारण बुद्धिका पति उर्मिलाको मिला होता। वह बैठकर उसके साथ इधर-उधरकी बातें करता, उसकी बातोंमें रस लेता, उसके गहने-कपड़ेकी माँगोंको उचित समझकर पूरा करनेका भरसक प्रयत्न करता। ऐसे व्यक्तिके साथ उर्मिला अधिक प्रसन्नतासे दिन बिता सकती थी।

पतिसे पत्नी सुखकी आशा रखती है। सुख यदि वह नहीं पा सकती, तो पतिके यश, बल अथवा बुद्धिको लेकर क्या वह चाटे? और प्रदीप पर तो सूखा गर्व भी नहीं किया जा सकता। वह तो नितान्त दीन-हीन है, कुछ भी तो उर्मिलाको नहीं दे सकता। ऐसी अवस्थामें उस लड़कीकी विडम्बनाकी क्या सीमा?

प्रदीपके पास उस समय उर्मिलाको देनेके लिये केवल एक वस्तु थी—अपना समस्त प्यार। पर वह क्या उसने कभी उसको दिया? कभी नहीं। मिलनकी उन प्रथम रातोंमें वह उर्मिलाके शरीरसे अपनी वासना पूरी करके, पीठ फेरकर सो जाता। उर्मिला यदि उससे दो बात कहना चाहती या कुछ पूछना चाहती अथवा अपनी अतृप्त वासनाके इङ्गित जताकर उसका आवाहन करती, तो वह चिढ़कर उसे डाँट देता। कभी उसने प्यारकी चार बातें कहकर उसका मन नहीं रक्खा। सदैव उर्मिला उसका मुँह ताकती रही कि प्रणयके दो अस्फुट शब्द उस कण्ठसे निकल जाएँ, प्रणयकी एक ज्योति उसके नयनोंमें थिरक जाए, प्रणयकी एक हलकी मुस्कान उसके होठों पर खेल जाये—किन्तु उसकी वह आशा तो किसी दिन प्रदीपने पूरी की नहीं! और स्वयं वह आशा करता है कि उर्मिला नारीत्वके चरम आदर्श तक उठकर अपना सम्पूर्ण माधुर्य, समस्त सेवा उसपर लुटा दे! कैसा अन्याय है, कितनी भीषण स्वार्थपरता!

प्रदीपको घोर पश्चात्ताप हो रहा था। किस प्रकार वह ऐसी संकुचित मनोवृत्तिका पोषण करता रहा!

अन्धेरा हो रहा था। प्रदीप चलता चला जाता। अचानक एक गाड़ीवालेने गाड़ी रोककर ऊँचे स्वरमें उससे पूछा—

"ओ बाबूजी, क्या बजा होगा ?"

साथ-ही-साथ प्रदीपको भी समयका ध्यान आया। उसके पास घड़ी नहीं थी। अनुमानसे उसने गाड़ीवालेको समय बता दिया। करीब आठ बजने आये थे। उसको घर पहुँचते-पहुँचते नौ बज जाएँगे। अब लौट पड़ना चाहिये, नहीं तो माँ और उर्मिलाकी चिन्ताका किनारा नहीं रहेगा।

घरकी ओर मुख मोड़नेके साथ-साथ प्रदीपकी विचारधाराने पलटा खाया। वह सोचने लगा—"माना कि मैंने उर्मिलाके प्रति अन्याय किया है। इसका मुझे घोर पश्चात्ताप है। किन्तु उर्मिलाको अपना प्यार कैसे दूं ?"

प्यार करना तो अपने वशकी बात नहीं। प्यार हो जाता है। उर्मिलासे एक दिन उसने प्यार किया था, ऐसा प्यार कि उसके हृदयका माधुर्य मुखरित होकर कविता बन गया था। वह प्रथम झाँकी ! उर्मिला अपनी एक सहेलीका कन्धा पकड़कर भयभीत-सी उसके आगे आई थी। उसको भय था कि कहीं यह पुरुष 'ना' कहकर न चला जाए। प्रदीपने सिर हिला दिया, तो उसकी लाज और ग्लानिका कूल-किनारा नहीं रह जाएगा। किन्तु प्रदीपके सामने उस दिन उर्मिला एक नारी थी। नारी, जिसको पुरुष अपना प्रेम देता आया है, उसका प्रेम पानेके लिये। प्रदीपने उर्मिलाको देखा तक नहीं। वह एक नशेमें झूमकर शहरके बाहर तालाबके किनारे जा बैठा था और धूमिल सन्ध्यामें जंगलसे लौटते हुए पशुओंके किंकिण स्वरके साथ-साथ उसने गाया था—

"हृदय-मन्दिरमें उतरी, प्राण,
तुम्हारी प्रतिमा यह साकार।
हुए सारे भ्रम संशय दूर,
मिला मुझको जीवनका सार !"

उसके बाद छः महीने तक उसने जो रंगीन स्वप्न देखे थे, उनकी स्मृति मात्र आज उसको विभोर कर जाती है। वह चाँदनी रातोंमें उर्मिलाको लेकर नदी-तटपर गया, नावमें बैठाकर उसे बाँसुरीके स्वर द्वारा अपना अगाध प्यार समझानेका प्रयत्न किया। उर्मिलाको लेकर बाजारोंमें घूमा। वहाँसे खरीदी महावर अपने हाथों उसके पाँवमें लगाई, कुंकुम की बिन्दी अपनी अनाड़ी उँगलियोंसे उसके माथेपर बनाई, मोतियोंके फूल अपने हाथसे उसकी चोटीमें सजाये और······उन सपनोंका क्या अन्त था? पर जब उर्मिला उसको मिली, तो एक भी सपना सत्य न बन सका। क्यों?

सम्भवतः इसी बीच उसका प्यार सुनयनाने चुरा लिया था।

और सुनयना? उसको लेकर किसी प्रकारके सपने देखनेका अधिकार प्रदीपको नहीं था। चाह रहनेपर भी वैसे सपने देखनेसे उसने इन्कार किया था। फिर भी वह प्यार पनपता गया, यहाँ तक कि आज वह उसके समूचे हृदयपर अधिकार कर बैठा है। उसे आज यह याद करनेमें कि एक दिन उसने उर्मिलासे भी उतना ही गहन प्यार किया था, एक प्रकारका श्रम करना पड़ा। जाने कैसे उसका मत यह हो गया था कि उर्मिलासे विवाह उसने प्यारके कारण नहीं किया, बल्कि इसीलिये कि वह उसके बाबाको निराश करनेका साहस नहीं कर सका था। किन्तु यह

तो सरासर झूठ है। उर्मिलाको प्यारके नाते ही उसने पाया था। पर अब वह नाता इतना क्षीण क्यों हो चला? कुछ समझमें नहीं आता।

अचानक उसकी आँखोंमें उर्मिलाकी मूर्ति उतर आई। वह कह रही थी—"तुम यह सहानुभूति, यह समझ, यह करुणा, दया-माया—सब मुझपर क्यों उड़ेल रहे हो, प्रदीप? मेरे निकट तो इन भावनाओंकी कानी कौड़ी भी कीमत नहीं। मैं नारी हूँ। पुरुष की सहानुभूति अथवा दयाकी भिखारिन मैं नहीं। मैं माँगती हूँ उसका अभिन्न प्यार अथवा उसका आदर-भाव। ये सब नहीं दे सकते, तो चुप करके बैठो। तर्क-वितर्कके क्या मायने? मुझे अबला समझकर, मेरे प्रति किये गये अन्याय पर पश्चात्तापका ढोंग करके तुम अपने बौद्धिक और नैतिक स्वाभिमानको पुष्ट करनेके साथ-साथ मुझे हेय और तुच्छ बनाना चाहते हो? यह ढकोसला छोड़ो प्रदीप! अपना हृदय टटोलकर देखो। वहाँ प्यारकी यदि एक भी चिनगारी बची है, तो फूँक-फूँककर उसे ज्वाला बना सकोगे। अन्यथा बुझी, ठण्डी राखको उलटने-पलटनेसे क्या लाभ? मैं तुमको दोष नहीं देती। तुम्हारा कोई अपराध नहीं। मैं तुम्हारी पत्नी हूँ, इसीलिये प्रेयसी भी हो जाऊँगी, ऐसा सोचना एकबारगी मिथ्या है। यह तो केवल एक थोथी सामाजिक धारणा है कि पत्नीसे पतिको प्रेम करना ही चाहिये। विवाह-अनुष्ठानके मायने सदा प्रेम-अनुष्ठान नहीं हुआ करते। एक व्यवहारकी वस्तु है, दूसरी हृदयकी। व्यवहारमें यदि हमारे दोनोंके हृदय एक धारमें नहीं बह पाते, तो मत बहें—व्यवहारमें समझ-बूझ और पारस्परिक आदर-भाव ही काफी है। हाँ, इतना कहे देती हूँ कि

किसी अन्य स्त्रीसे यदि हृदयका नाता हो, तो उसको छुपाये रहना, प्रदीप !"

घर पहुंचकर वह कपड़े उतार रहा था कि माँने कमरेमें घुसकर बड़े हर्षके साथ सुनाया—"बहूका पाँव भारी है, बेटा !"

प्रदीप कुछ नहीं बोला। दिलके भीतर मानो कुछ भारी बोझ-सा बैठ गया। वह नहीं चाहता था यह सब।

"देख लेना, लड़का होगा।"

"अच्छा माँ, तुम जाओ !"

माँ चली गई। दबे पाँव उर्मिला आकर उसके पीछे खड़ी हो गई। प्रदीप पीछे मुड़ा और अपने दोनों हाथ उर्मिलाके कन्धे पर रखकर अपलक आँखोंसे अपनी छाती पर झुके उसके सिरके बीचोबीच निकली सीधी, उज्ज्वल माँगको देखता रहा।

"दिवालीके कितने दिन हैं, उर्मि ?"

"माँसे पूछकर आती हूँ।"—कहकर वह बाहर भाग गई।

२४

प्रदीपको रोहतकमें आये लगभग एक मास हो गया था। डाक्टर और वैद्य उसके रोगका उपचार करते रहे; किन्तु प्रदीपको उसमें विशेष दिलचस्पी नहीं थी। वह दवा खा लेता और उनके बताये विधि-निषेध भी सेवन करता रहता; किन्तु स्वयं उसको चूर्ण, काढ़े, अवलेह, अनुपान अथवा मिक्सचर, इन्जैक्शन और टानिकसे विशेष आशा नहीं थी। गांधीजीका अनुयायी जब वह था, तो उसके मनपर यह बात बैठ गई थी कि डाक्टर और वैद्य हमारे समाजमें रोगके नाशक नहीं, पोषक हैं। गांधीजीकी विचार-धाराको वह प्रायः अस्वीकार कर चुका था; किन्तु फिर भी कुछ-कुछ प्रभाव बाकी था और दवा-दारूमें घोर अनास्था एक ऐसा ही अवशिष्ट प्रभाव था। उसे ऐसा लगता था कि ये लोग एक हाथ रोगीकी नब्ज पर और दूसरा उसकी जेब पर रखते हैं। फिर जिस भाषामें वे लोग बात करते थे वह भी उसकी समझमें कम आती थी। और उसको बिना समझे विश्वास करनेकी आदत नहीं थी।

वह दवा इत्यादिका भार उर्मिलापर डालकर एक प्रकार निश्चिन्त-सा हो गया। उसका सारा समय पढ़नेमें बीतता था। अपने बिस्तर पर पड़ा-पड़ा वह अरस्तू और प्लेटोकी रचनाएँ पढ़ा करता। ग्रीक् राजनीतिक दर्शन पर उसका एक पेपर था। उसी बहाने वह इन दोनों विचारकोंकी समस्त रचनाएँ आद्योपान्त पढ़ गया। बीच-बीचमें थककर वह कोई अच्छा-सा उपन्यास पढ़ डालता।

किन्तु मनमें अपने रोगके सम्बन्धमें तर्क-वितर्क चला करता था। उसे सन्देह होता जा रहा था कि वास्तवमें उसे कोई शारीरिक रोग भी है। ऐसा जँचता था, जैसे उसके अवचेतन मनके निगूढ़, निम्न स्तरोंमें बिस्तर पकड़नेकी कोई भारी अभिलाषा आसन मारे बैठी है। रोगीको सहानुभूति मिलती है—करुणा, माया, ममता, स्नेह—सभी कुछ। ये सब पानेको तो प्रदीप सदा ललायित रहा करता और जब पर्याप्त मात्रामें वह उन्हें नहीं पा सका, तो रुग्ण होनेकी प्रेरणा उसके अन्तरने उसे दी। शरीरकी पार्थिव सत्ता कितनी ही दुर्भेद्य क्यों न दीख पड़ती हो, उसके भीतर छुपा मन ही वास्तवमें उसका नियन्त्रण करता रहता है; किन्तु रोगीके प्रति सहानुभूति, दया-माया और सेवा-सुश्रूषाका जो पाठ उसने श्रीकान्त और शरद् बाबूके अन्य उपन्यासोंमें पढ़ा था, वह स्वयं उसके जीवनमें पूरा नहीं उतरा। वह समझता था कि ऊपरसे उसकी माँ और उर्मिला कैसा ही ममताका भाव बनाये रखें, भीतर-ही-भीतर उनको उससे चिढ़ होती है। धीरे-धीरे अपना अवचेतन मन कुरेद कर देखने की उसे इच्छा होने लगी। इसी सिलसिलेमें फ्रायडके मनो-विश्लेषण-सम्बन्धी ग्रन्थोंकी खोजमें वह रोहतक कालेजके एक प्रोफेसरसे मिला। प्रोफेसर साहबको आत्म-साक्षात्कारकी धुन सवार थी। स्वयं वे शंकर-मार्गीय वेदान्तमें विश्वास रखते थे; किन्तु वैसे समस्त भारतमें घूमकर किसी योग्य गुरुकी खोज कर आये थे। श्री अरविन्द, रमण महर्षि, श्रीकृष्ण प्रेम, उड़िया बाबा—सबके विषयमें उनका अपना मत था। योग द्वारा आत्म-साक्षात्कार माननेमें उन्हें भारी दुविधा होती थी। आत्म-दर्शन तो निरा बौद्धिक चमत्कार होना चाहिये।

'तत्त्वमसि' कहते ही 'स्वरूपे अवस्थानम्' हो जाए, ऐसा प्रबल निरूपण।

प्रोफेसर साहबके घर प्रदीप पहले-पहल अपने श्वसुरके साथ गया था। वे अपनी ऊपरकी बैठकमें नहीं थे। वहाँ एक ओर एक पीठवाले मूढ़े पर एक मोटा-सा गोल-मटोल मुँहवाला नौजवान, तहमद और बनियान पहने बैठा कुछ पढ़ रहा था। पूछने पर उसने प्रोफेसर साहब का ज्येष्ठ पुत्र कहकर अपना परिचय दिया। वह देहलीके मिशन कालिजमें दर्शन शास्त्रका एम० ए० का छात्र था। प्रदीपको दिलचस्पी हुई, किन्तु दो-चार बातें करते ही वह समझ गया कि हजरत फिलासफीके सौ कोस तक भी नहीं पहुँचे हैं। प्रदीपके मुँहसे Epistomology, Ontology, Aixology इत्यादि भारी-भरकम शब्द सुनकर वह सन्नाटेमें आ गया और जब प्रदीपने बताया कि वह स्वयं इतिहासका छात्र है तो बिचारा इस प्रकार प्रदीपको देखने लगा जैसे वह कोई आश्चर्यजनक जन्तु हो। प्रदीप मन ही मन ही कह रहा था—"इस बिचारेको फिलासफी पढ़ानेकी यन्त्रणामें जिसने डाला है, वह अवश्य ही इसका हितेच्छु नहीं हो सकता।" वह नवयुवक जैसे उसके मनकी बात समझ गया। बोला—

"मुझे तो फिलासफी-विलासफी पढ़नेमें कुछ भी मज़ा नहीं आता। फादरसे कहा था कि आर्मीमें कमीशन मिल रहा है। पर वे मान कर ही नहीं दिए। कहते हैं, हमारे खानदानमें फिलासफी पढ़ना अत्यन्त आवश्यक है।"

प्रदीप मुस्करा उठा। वह कहता भी क्या। लड़केकी मनोदशा वास्तवमें बड़ी दयनीय थी। जिन गूढ़, क्लिष्ट वाद-विवाद और तर्ककी

भूलभलैयोंमें अच्छे-अच्छोंके होश बिगड़ जाते हैं, वहाँ इस बिचारे गरीबको छोड़ देना निश्चय ही घोर अन्याय था। पर प्रोफेसर साहबकी आँखोंमें कुल-मर्यादा कदाचित् न्याय-अन्यायके ऊपरकी वस्तु रही हो, कौन जाने। अत्याचार मनुष्यके शरीर पर ही नहीं बुद्धि पर भी किए जाते हैं।

प्रोफेसर साहब थोड़ी देर बाद आए और एक गुच्छा अंगूर तथा एक गिलास गरम दूधसे प्रदीपका स्वागत किया। फिर पाश्चात्य-दर्शनके विषयमें बातें होती रहीं। प्रदीपने अपनी कुछ कविताएँ भी उनको सुनाईं। प्रोफेसर साहबने प्रसन्न होकर उसके श्वसुरसे कहा—

"भई गुप्ता साहब, लड़का तो बड़ा तेज़ है।"

"बस जी आपकी दया है"—गुप्ता साहबने उत्तर दिया।

"अच्छा, इनको मौनीजीसे मिलाया कि नहीं?"

"जी, अभी तो नहीं। ये तो घोर नास्तिक हैं, मैं कई बार कह चुका, इनका जी नहीं चाहता।"

प्रदीप बोला—

"वास्तवमें साहब मुझको इन साधु-महात्माओंसे बेहद चिढ़ है।"

"आपने श्री अरविन्दका दर्शन और योग पढ़ा है?"—प्रोफेसर साहबने पूछा।

"हाँ, पढ़ा है।"

"कौन-सी पुस्तक?"

"मेरे विचारमें जो कुछ छपा है, सभी मैं पढ़ चुका हूँ।"

"अच्छा। क्या खयाल है?"

"यही सोचता हूँ कि और-और दार्शनिकोंकी भांति हम उनकी विचारधाराकी अवहेलना नहीं कर सकते।"

"आप पांडीचेरी तो नहीं गए होंगे?"

"जी नहीं। जानेका इरादा भी नहीं है।"

"मैं गया था, पिछले साल।"

प्रदीप आगे सुननेकी इच्छासे चुप रहा।

"मुझे तो अरविन्दकी यौगिक क्षमतामें विश्वास है। किन्तु उनको देखकर कुछ निराशा-सी ही हुई।"

"सो क्यों?"

"उनके बाल सफेद हो गये हैं। पेट बढ़ा हुआ है। योगीके शरीरकी ऐसी दशा नहीं हो सकती।"

प्रोफेसर साहबकी कसौटी पर प्रदीपको मन-ही-मन बड़ी हँसी आई। किन्तु भद्रताके नाते संयम रख कर उसने पूछा—

"तो फिर आप क्योंकर कहते हैं कि उनमें यौगिक क्षमता है?"

"मेरा विश्वास अपने एक अनुभव पर है। मैंने अरविन्दको एक पत्र लिखा था। तीसरे दिन प्रातःकाल जब मैं ध्यानमें बैठा तो मुझे आत्म-साक्षात्कार हो गया। वह अनुभव ठहरा नहीं, किन्तु उसकी अलौकिकतामें कोई सन्देह मुझे किसी दिन नहीं हुआ।"

"कैसा अनुभव था?"

"वाणीसे उसकी व्याख्या करना असम्भव है। अन्तस्तलमें अजस्र बहनेवाली विचारधारा रुक जाती है और श्वासोच्छ्वास भी।"

अब प्रदीपके पास कहनेको कुछ नहीं रह गया। ब्रह्मज्ञानके आगे वह क्या बोल सकता था। चुपचाप बैठा रहा।

"आपको मौनीजीसे अवश्य मिलना चाहिए।"—गुप्ताजी प्रदीपसे बोले।

"हाँ, यह तो मैं भी कहूँगा"—प्रोफेसर साहबने समर्थन किया।

सन्ध्या समय प्रदीप प्रोफेसर साहबके साथ मौनीजीके आश्रम पर पहुंचा। दिनमें उर्मिलाने प्रदीपको उनके विषयमें अनेकों बातें बतला दीं थीं। वे दूरके नातेमें उर्मिलाके नाना होते थे और रोहतकमें होती तब उर्मिला प्रायः उनके दर्शन करने जाया करती। वे बैठाकर उससे प्रदीपके विषयमें अनेक बातें पूछा करते। उर्मिला क्या बता सकती थी। शरमाकर सिर झुका लेती

मौनीजी ज- कारबार छोड़कर संन्यासी हुए तो अपने रुपएसे उन्होंने यह सुन्द॰ ॰ाश्रम बनवाया था। बाहर पौर पार करके छोटा-सा पक्का सहन था जिसके एक ओर पानीका हौज़ हाथ-पाँव धोनेके लिए और एक ओर छोटा रसोई-घर था। सामने दालान पार करके एक बड़ा कमरा बना था, जहाँ मौनीजी प्रायः बैठते थे। कमरेके पीछे आधी दूरमें फैली छोटी-सी फुलवारी थी और आधी दूरमें भगवान्का मन्दिर, जिसमें जानेका रास्ता कमरेके दाईं ओर पड़ता था। बड़ी-बड़ी दीवारमें बनी अलमारियोंमें संस्कृत और हिन्दीकी धर्म तथा दर्शन सम्बन्धी अनेक पुस्तकें थीं। एक ओर कोनेमें बीसियों मोटी तुलसीकृत रामायण और ढेर सारी काठकी रहलें रक्खी थीं, जो सामूहिक पाठके काम आती थीं। चारों दीवारोंमें सफेदीके ऊपर नीले अक्षरोंमें राम-

नाम और अन्यान्य सूत्र लिखे थे। फर्शपर दरीके ऊपर सफेद चादर बिछी थी और बीचों-बीच पिछली दीवारके सहारे आसन पर लम्बे बाल और दाढ़ीवाले एक अधेड़ सज्जन बैठे माला जप रहे थे। यही मौनीजी थे।

सबने प्रणाम किया। मौनीजीने सामने रक्खी लालटैनकी बत्ती तेज़ की और फिर सामने पड़ी सलेटपर चाकसे लिख दिया—"आप लोग ऊपर जाकर बैठिए, मैं अभी आता हूँ।"

ऊपर छत पर दो सत्संगियोंने जाजम बिछा दिया और प्रदीप प्रोफेसर साहबके साथ बैठ गया। वातावरण खूब शान्त था और वायुमें उमड़ता मन्द शीत ऋतु-परिवर्तनकी सूचना दे रहा था। प्रोफेसर साहबने बतलाया कि मौनीजीका अपना मार्ग भक्ति होते हुए भी वे ज्ञान मार्गियों का आदर करते थे। एकान्त पाकर प्रायः नित्य ही प्रोफेसर साहब उनके सम्मुख ध्यानमें बैठकर अन्तर्ज्योतिकी बाट जोहा करते। उतावला होते ही मौनीजी डांट देते थे कि आत्मज्ञान कोई हलवाईके लड्डू तो हैं नहीं जो जेबसे पैसे निकाले और खरीद कर खा लिए। यह तो खड्गकी धार है, सिरका सौदा करना हो तो आगे आइए। प्रदीप सब सुनता रहा—प्रोफेसर साहब गम्भीरता पूर्वक सब समझाते जा रहे थे। पर मन-ही-मन इन बातोंपर उसे हँसी आ रही थी। ये भक्त लोग भी अपने आपको सूरमा समझकर मन-ही-मन तलवार-भाला चलाते खाते रहते हैं। अन्यथा शायद अपना आत्मविश्वास बनाए रखना दूभर हो जाता।

मौनीजी ऊपर आए। साथ-साथ उनका एक सेवक उनके बैठनेका आसन इत्यादि लगा गया। बैठकर वह एक स्नेहपूर्ण दृष्टिसे प्रदीपको देखते हुए बोले—

"आज तुम आए हो। दो बातें होंगी। मैंने सोचा थोड़ी देरके लिए मौन भंग करना उचित होगा। क्यों?"

प्रदीप क्या कहता। खाली मुस्करा दिया। फिर अचानक न जाने क्या प्रेरणा पाकर वह बोल उठा।

"आप आज्ञा दें तो एक मीराका भजन सुनाऊँ?"

"अवश्य, इससे बढ़कर और भला मैं क्या चाह सकता हूँ?"— मौनीजी बोले।

प्रदीपने हलका खाँसकर गला साफ किया और फिर मीराका "म्हाने चाकर राखो जी" गाने लगा। यह एक गान था जो प्रदीप अपने गांधीभक्तिके दिनोंमें प्रायः नित्य ही हरिजन आश्रमकी सन्ध्या-कालीन प्रार्थनाओंमें गाया करता। आज गाते-गाते प्रदीपकी पुरानी स्मृतियाँ उमड़ चलीं और उसके अर्धनिमिलित नयनोंकी पलकें गीली हो गयीं। मौनीजी आँखें मीचे, सिर हिला-हिलाकर झूमते-से भजनका आनन्द ले रहे थे। प्रोफेसर साहब पर न जाने क्यों कोई प्रभाव ही नहीं पड़ा। उनके भावसे समझा जा सकता था कि वे कुछ असुविधा-सी अनुभव कर रहे थे। शायद अन्ध भावनाओंको उकसाकर बुद्धिका दर्पण मैला करना उन्हें वैसा पसन्द नहीं था।

भजन समाप्त हुआ। आँखें खोलकर स्थिर, स्निग्ध मुद्रासे प्रदीपको निहारते हुए मौनीजी बोले—

"और गुप्ताजी कह रहे थे कि तुम नास्तिक हो।"

"सो तो हूँ।"—प्रदीप बोला।

"मैं नहीं मान सकता। नास्तिक भला मीराका भजन इतनी संवेदना से क्योंकर गा सकता है?"

"इसमें विश्वास-अविश्वासका प्रश्न नहीं उठता, मौनीजी। मीराके भजनोंमें सरल, सहज, काव्यमय आत्मनिवेदन है, इसीलिए वे मुझे इतने प्रिय हैं। अन्यथा उसके आत्मनिवेदनका जो लक्ष्य है, उसके विषयमें सोचने पर तो बेहद हँसी आने लगती है।"

"तुम्हारी भूल है, प्रदीप! मीराका लक्ष्य यदि और कुछ रहा होता, तो क्या यह मोहक माधुर्य उसकी रसनासे झर सकता था?"

"क्यों नहीं! संसारमें जो युग-युगसे इतने महाकाव्योंकी रचना हुई हैं, वह क्या आप नहीं देख पाते?"

"जिस काव्यमें मनुष्यको संसारसे विमुख करके भगवानके चरण-कमल में लीन करनेकी प्रेरणा नहीं, वह खाली भाषा, भावना और विचारका दुरुपयोग है।"

प्रदीपके होठोंपर आये शब्द उसने रोक लिये। वह कहना चाहता था—"एक मृगनयनाका मुख-कमल देखकर भावनामें जो कम्पन पैदा होता है, उसका शतांश भी सुन्दरतम चरण-कमलोंका ध्यान यदि उपजा सकता, तो मैं आपकी बात मान लेता, मौनीजी! किन्तु चरण तो चरण ही रहेंगे, उन्हें कमल कहिये या गुलाब।"

इसी बीच प्रोफेसर साहब बोल उठे—

"प्रदीपने, मौनीजी, श्री अरविन्दको खूब पढ़ा है और उनके योग-दर्शनमें काफी विश्वास करता है।"

"जाने दीजिये, प्रोफेसर साहब! आपकी पांडेचेरी जाकर भी आँखें नहीं खुलीं। अड्डेबाज आदमी मोटी-मोटी पुस्तकें लिख सकता है, वाद-विवादके तूफान बाँध सकता है; किन्तु भगवत्-तत्त्वकी प्रसादी वह पा जाय, यह भला कब सम्भव है?"

प्रदीपकी कुछ समझमें नहीं आया। ये किसको अड्डेबाज कह रहे हैं? श्री अरविन्द पर इन्हें इतना क्षोभ क्यों है?

मौनीजी साँस लेकर कहने लगे—

"मैं द्वारकाजीसे पांडेचेरीके लिये चला था। मनमें श्रद्धा ही थी; किन्तु रास्तेमें एक सज्जनने बतलाया कि आश्रममें कई दर्जन सुन्दर, जवान औरतें रहती हैं और कुछ अमीर लोग वहाँ जाकर मौज-मज़ा करते हैं—बस यही किस्सा है। मैं तो भाई, वापस चला आया।"

प्रदीपको आश्चर्य हो रहा था कि यह आदमी जो कुछ कह रहा है, उसमें विचार अथवा समझ-जैसी किसी वस्तुका समावेश नहीं। एक मौलिक द्वेष मानो युक्तियाँ ढूँढ़ रहा है। ऐसी स्थितिमें तर्क करना बुद्धिके साथ शत्रुता करनी है।

मौनीजी फिर भड़क उठे।

"कोई पूछे भला, वह क्यों उस फ्रांसीसी औरतके साथ एकान्त-वास करता है? वह आई थी दर्शन करने, फाँस लिया। और उसका पति विचारा रो-रोकर अरविन्दके दरवाजेपर मर गया। बने फिरते हैं योगी।

मैं सब जानता हूँ।"—और साथ-साथ प्रदीपने देखा कि मौनीजीके मुखपर मानसिक आवेशके चिह्न बनते जा रहे हैं। वह बोला—

"किन्तु क्या स्त्रियोंके पास रहनेसे ही सब पाखण्ड हो जाता है?"

"तुम नहीं जानते, प्रदीप! नारी नरकका द्वार है। वह मोक्षसे तुमको वापस खींच लाएगी।"

"मैं तो समझता हूँ.........।"

"मेरी बात मानो। तुमको विनय सीखनी चाहिये। गुरुजनोंसे तर्क-वितर्क नहीं किया करते। अन्यथा शिक्षाका कोई अर्थ नहीं।"

प्रदीप चुप रहा। प्रोफेसर साहब भी कुछ नहीं बोले। सारे वातावरणमें आवेग-सा भर गया।

आश्रमसे निकलते समय प्रदीपने मन-ही-मन निश्चय किया कि फिर लौटकर वह यहाँ नहीं आएगा।

२५

दिवाली आई। उर्मिलाने सुबह ही स्नान इत्यादिसे निवृत्त होकर नए कपड़े पहने। एक लाल रंगकी क्रेपकी साड़ी, जिसमें मारवाड़ी ढंगके कामदानीके बूटे पड़े थे। ब्लाउज गहरे आसमानी रंगका, नए कटका था। इसे प्रदीपने अपने हाथों खरीदकर विवाहसे पहले उपहारमें भेजा था। वह कुछ शरमाती, मुस्कराती आकर प्रदीपकी चारपाईपर बैठ गई। वह लेटा हुआ प्रोफेसर काशीप्रसाद जायसवालका

लिखा Indian Polity नामका रोचक ग्रन्थ पढ़ रहा था। उर्मिलाकी ओर एक बार मुस्कराकर वह फिर पढ़नेमें तल्लीन हो गया। हारकर उर्मिला बोली—

"इन किताबोंका पीछा छोड़ोगे कि नहीं!"

"क्यों?"—प्रदीपने किताब परसे आँखें उठाये बिना पूछा।

"आज दीवाली है। उठो। आज पड़े रहनेसे कैसे चलेगा?"

"हूँ।"

उर्मिला एक क्षण प्रतीक्षा करती रही कि प्रदीप कुछ और बोले, पर यह देखकर कि वह किताब परसे आँख उठानेको तैयार नहीं, उसने झपटकर किताब उसके हाथसे छीन ली। प्रदीप आर्त स्वरमें बोला—

"यह क्या करती हो, उर्मि!"

"तो तुम मेरी बात क्यों नहीं सुनते?"

"क्या कहती हो, तुम?"

"यही कि आज त्योहारका दिन है। उठो। नहाओ-धोओ और···"

"अच्छा, अभी उठता हूँ। लाओ, मेरी किताब दो। दस सफे बाकी हैं, पढ़कर अभी आता हूँ।"

"नहीं, यह नहीं हो सकता। साढ़े दस बज गये, अभी तुमने हजामत भी नहीं बनाई।"

"अरे हजामत बनाकर क्या होगा, भाई! दिवालीका क्या यह मतलब है कि इस शरीरको दुःख दिया जाए? चौरासी लाख योनियोंके बाद···।"

"अच्छा, छोड़ो अपना पुराना राग। आज मैं एक नहीं सुनूँगी। उठो, हजामत बनाओ, नहाओ, कपड़े बदलो और बाजारसे मिठाई

लाओ। शामको हमारे घर चलना होगा। वहाँसे रोशनी देखने जाएँगे। समझे।"

"देखो उर्मि! और चाहे जो कहो, पर मिठाई लानेकी बात मुझसे कहना बेकार है। तुम जानती हो कि मैं कैसा बुद्धू हूँ, इन मामलोंमें। हलवाई ठग लेगा। मुहल्लेसे किसीको भेज देना।"—कहता-कहता प्रदीप उठकर चारपाईपर बैठ गया। वह चाहता था कि बराबरमें बैठी उर्मिलाको पकड़कर गुदगुदाये; किन्तु वह पहले ही उठकर दूर भाग गई। सहसा प्रदीपकी नजर उसके कपड़ों पर पड़ी। उसे याद आया कि ये कपड़े खरीदनेके लिये उसने जो रुपये उधार लिये थे, वे आज भी उसके नाम ऋणदाताकी बहीमें लिखे हैं।

उर्मिला यह नहीं जानती। वह तो सुन्दर, नवीन साड़ी-ब्लाउज पहनकर मस्त तितली-सी नाचती फिर रही है। दूसरे क्षण ही प्रदीपके मनने कहा कि ऋणके प्रति यह पुराना दृष्टिकोण ग़लत है। किसीके पास रुपये बेकार पड़े हैं, किसीको जरूरत है। अन्ततः तो सम्पत्ति किसी व्यक्तिकी नहीं, समाजकी है और समाजमें सभीको उसे उपभोग करनेका समान अधिकार है। आज यदि उर्मिलाके पास अच्छे कपड़े नहीं होते, तो कितनी उदास और बेमना-सी टुकर-टुकर इधर-उधर देखती। वह क्या प्रदीपसे सहा जाता?

स्वस्थ होकर प्रदीप बोला—

"मेरा शेविंगका सामान ले आओ!"

उर्मिलाने सब चीज़ें लाकर सामने तिपाईपर रख दीं। प्रदीप ब्रुशको पानीमें भिगोकर साबुन लगाने लगा। उर्मिला बोली—

"ध्यानसे काम करना। कभी रोज़-रोज़की तरह सारा चेहरा लहू-लुहान कर डालो।"

"तुम बना दो, मेरी हजामत!"—प्रदीपने ब्रुश उसकी तरफ बढ़ाते हुए कहा।

"हटो भी। औरतें हजामत बनाया करती होंगी!"

"क्यों नहीं! विलायतमें बहुत-सी नाइयोंकी दुकानें हैं, जहाँ औरतें सब काम करती हैं।"

"मेमोंकी क्या बात है? वे तो बे-शरम होती हैं। जात-पात नहीं, धरम-करम, कुल-मरयाद कुछ भी नहीं होता। उनकी हमारी क्या बराबरी?"

प्रदीप चुपचाप चेहरेपर साबुन लगाने लगा। भारतीय नारीके स्वाभिमानकी क्या सीमा? सीता, सावित्रीकी वंशधर भला क्योंकर मेम को अपने साथ खड़ी रहने देगी?

"हमारे स्कूलमें इम्तिहान लेने एक मेम आया करती, मिस सरकार। पचीस सालकी हो गई थी, ब्याह नहीं हुआ था। एक बार विमला बहिनजीसे सुना था कि दिल्लीमें वह किसी-किसीके साथ घूमा करती है। बच्चा रह जाता है, तो हस्पतालमें जाकर गिरा देती है।"—उर्मिला बोली।

"अरे, वाह! तुम तो काली मेमोंकी बातें कर रही हो। मैं असली मेमोंके बारेमें कह रहा था, सफेद मेमोंके बारेमें।"—प्रदीपने कहा।

"ये काली मेमें भी तो सारे कुलच्छन इन्हीं सफेद मेमोंसे सीखी हैं, नहीं तो इस देशमें कभी ऐसा होता था।"

"कुलच्छन कहती हो। वह तो औरतोंकी आज़ादी है।"

"भगवान् बचाये ऐसी आज़ादीसे। दुनिया भरके मरदोंसे खराब होकर गर्भ गिराते फिरना, बड़ी आज़ादी है ना! इससे वेश्या कहीं अच्छी है।"

"पर तुम्हारे दिमाग़में यह गर्भ गिरानेकी बात किसने भर दी। मेमें कोई हिन्दुस्तानी औरत नहीं होतीं, जो पलक मारते पाँव भारी हो जाँए। उनकी इच्छाके बिना उनको गर्भ नहीं रह सकता।"

"यह और लो। यह भी किसीके बसकी बात है। औरत-मरद सोएँ, बैठें, ओर औरतको गर्भ नहीं रहे—ऐसा कहीं हो सकता है। भगवान्के कानूनको कौन बदल देगा? हाँ, बाँझकी बात मैं नहीं कहती।"

प्रदीप कुछ कहना ही चाहता था कि माँने कमरेमें प्रवेश किया और एक लिफाफा प्रदीपकी ओर बढ़ाते हुए कहा—

"तेरी चिट्ठी है, बेटा।"

लिफाफेको देखते ही प्रदीपकी शिराओंमें रक्त फूलने लगा। यह तो सुनयनाका लिफाफा था, वही हलका नीला। उस पर लिखा अपना नाम मिस्टर प्रदीप पढ़कर उसे कोई सन्देह नहीं रहा। माँ चली गई। उर्मिलाने बढ़कर लिफाफा प्रदीपके हाथसे ले लिया और पता पढ़कर बोली—

"यह तो हिन्दीमें लिखी मालूम होती है। मैं भी पढ़ सकती हूँ।" —और साथ ही साथ वह लिफाफा फाड़ने लगी। प्रदीप घोर असमंजसमें पड़ा था। कौन जाने सुनयनाने क्या लिखा हो और उर्मिला क्या समझ

बैठे ? घोर अनर्थ हो सकता है। पर इसके पहले कि वह कुछ बोले उर्मिला पत्र पढ़ने लगी।

"भैया मेरे......"

प्रदीपकी छाती परसे बोझ-सा उतर गया। हिन्दुस्तानमें "भैया" के ऊपर सन्देह करनेका साहस कोई किसी दिन नहीं कर सकेगा। उर्मिला पढ़ रही थी।

"पत्र न मिलने पर सोचती हूँ कि शायद देहलीसे एकदम नाता तोड़कर चले जाने पर दिल्ली वालोंसे भी नाता तोड़ना आपने उचित समझा होगा।

किन्तु आपकी तबियत कैसी है, यह जाननेका अधिकार, मैं समझती हूँ, मेरा है।

उर्मिला भाभीको मेरा प्यार।

सोचती हूँ उन्होंने आपके दिमाग़से बहुत कुछ खुराफात निकाल दी होगी।

पत्रकी बाट जोहूँगी

सस्नेह

—सुनी"

"कौन हैं ये भैयाकी बहिन ?" पत्र समाप्त करके उर्मिलाने पूछा।

"तुम्हें क्या मतलब ?"—प्रदीपने चिढ़ानेके लिये कहा।

"क्यों मतलब क्यों नहीं ? उन्होंने मुझे भाभी बनाया है, इसी नाते सही। भाभी क्या ननदके बारेमें नहीं पूछ सकती ?"

प्रदीपको ऐसी आशा नहीं थी। उसे डर था कि उर्मिला कुछ उलटा-सीधा बकेगी और उससे डांटे बिना नहीं रहा जायेगा। मुफ्तमें कलह हो जाएगी, सो भी दिवालीके दिन। वह बोला—

"तुमको सुनयनाका पता बता देता हूँ। पत्र लिखकर स्वयं ही सब पूछ लो ना।"

उर्मिलाको बात कुछ-कुछ जँची। सोचकर बोली—

"पहले तुम लिखो। फिर नीचे मैं भी दो लाइन लिख दूँगी। अच्छा।"—और वह जाकर दवात-क़लम कागज इत्यादि ले आई।

प्रदीप लिखने बैठा। उसे ऐसा लगा कि अब "सुनी" लिखनेका साहस वह नहीं कर सकेगा। "भैया" का प्रत्युत्तर "बहिन" होता है। उसको शरद् बाबूका एक वाक्य याद आया। बंगला पढ़नेकी चेष्टामें उसने कहीं पढ़ा था "आमार लोक्खी मेये" और पुकारनेका यह ढङ्ग उसे प्यारा लगा था। उसने लिखा—

लक्ष्मी बहिन,

("मुझे डर लगता था कि कहीं तुम रूठ न गई हो। रूठनेका अधिकार सबको नहीं होता। जीवनमें लड़ने-बिगड़नेका दावा तो हम उन्हींके साथ कर सकते हैं, जो न जाने क्यों हमारे कुछ विशेषतया निकट आ जाते हैं।) न जाने क्यों?···नहीं यह मैं कैसे कह दूँ! मैं जानता जो हूँ कि क्यों मैं तुम्हें इतना मानने लगा। तुमने कई महीने तक प्रायः नित्य ही इस बावलेकी बकझक धैर्यसे सुनी। कहते हैं दुःख किसीको सुना देनेसे हलका हो जाता है। तुमसे मिलकर मैं यही अनुभव किया करता। मानव और मानवके बीच खिंचाव पैदा करने वाले

अनेकों सम्बन्ध हुआ करते हैं, सुनी। परन्तु मैंने देखा है कि भावना प्रधान व्यक्तियोंकी आत्मीयता जिस आधार पर पैर जमाकर खड़ी होती है, वह मनुष्यका हृदय है। हृदय, जो सब कुछ सुन समझ सके। वह हृदय तुम्हारे है। इससे अधिक और क्या कहूं ?"

इतना लिखकर प्रदीप होल्डरकी पिछली नोक दाँतों-तले दबाकर कुछ सोचने लगा। उर्मिला बोली—

"चिठ्ठी लिख रहे हो या किताब ?"

"हूं।"

"मैं कहती हूँ कि ये सब फ़ालतू बातें लिखनेसे क्या फ़ायदा ? कामकी बात क्यों नहीं लिखते ?"

"कामकी बातें क्या हैं ?"

"उन्होंने पूछा कि तुम्हारी तबियत कैसी है और तुम "हृदय" की कहानी सुनाने बैठ गए। तुम्हें न जाने कब अक़्ल आएगी।"

"इसमें बे-अक़्लीकी कौन-सी बात है ?"

"अच्छा ये कुँवारी हैं कि ब्याह हो गया ?"

"कुँवारी हैं।"

"कुँवारी लड़कियोंको यह सब लिखा जाता होगा !"

"क्यों क्या दोष है ?"

"कोई और पढ़ेगा तो क्या सोचेगा ?"

"क्या सोचेगा ?"

"अच्छा, बाबा जल्दी खत्म करो। जो लिखना है लिखो। मैं भी दो लाईन लिखकर काम करने जाऊँगी।"

इसी समय उर्मिला लौट आई। हाथका पत्र प्रदीपको देती हुई बोली—

"लीजिए। पता करके भेज दीजिये।"

प्रदीपने उसके बदले हुए सम्बोधन पर ध्यान नहीं दिया। पत्र लेकर देखने लगा। ठीक उसके हस्ताक्षरोंके नीचे वाली लाईन पर नीली स्याहीकी एक मोटी रेखा खिंची थी और फिर उर्मिलाने अपनी अशुद्ध, अपरिपक्व भाषामें लिखा था—

"बीबीजी,

मेरा प्यार। तुमको देखा नहीं, तुम्हारे बारेमें इनसे सुना है। कभी मिलेंगे।

इनकी तबियत पहलेसे अच्छी है। पर अभी आराम नहीं हुआ।

पत्र देती रहना।

नमस्ते।

आपकी भाभी

उर्मिला"

प्रदीपने उसकी ओर देखकर पूछा—"और यह कागज पर स्याही क्यों पोत दी?"

"ग़लत-सलत लिख गई थी। काट दिया।"

प्रदीपने उसका दायां हाथ पकड़कर सारी उँगलियाँ देखीं। तर्जनी उँगली पर नीली स्याही लगी थी। उसने दवातमें उँगली डुबोकर शब्दों पर फेर दी थी। प्रदीप हँसने लगा। फिर बोला—"तुम भी अजीब फूहड़ हो।"

"तो और क्या करती ?"—वह बड़े सरल भावसे पूछने लगी।

प्रदीपने उत्तर नहीं दिया। पत्र लिफाफेमें डालकर पता किया और उर्मिलाको देते हुए किसी बच्चेके हाथ डाकमें डलवा देनेका अनुरोध किया। वह पत्र लेकर जाती-जाती कह गई—

"साढ़े ग्यारह बज गए हैं। सबको भूखा मारनेसे भला क्या मिलेगा ?"

प्रदीपको याद आया कि उसके खाए बिना उर्मिला अथवा उसकी माँ नहीं खातीं। वह उठकर नहाने-धोनेकी तैयारी करने लगा।

अन्धेरा होने पर घरके दिए जलाकर प्रदीप और उर्मिला घूमनेको निकले। उर्मिलाने बदलकर गुलाबी रंगकी, सुनहरे बूटेदार, झिलमिल बनारसी साड़ी पहनी थी। ब्लाऊज वही था। पाँवमें नए चप्पल थे। गलेमें सुनहरा, मीना किया हार चमक रहा था और हाथोंमें सोनेके ब्रेसलेट। कानोंमें बुन्दे हिलते और जगमगाते थे, तो देखने वालेकी आँखोंमें मधुर-मधुर कम्पन होता था।

सड़कपर उर्मिला उसके पीछे-पीछे चलने लगी। बहुत अनुरोध करने पर भी वह जब बराबर चलनेको राज़ी नहीं हुई, तो प्रदीपने धमकी दी कि वह लौट जाएगा। तब कहीं वह साथ-साथ चली ; किन्तु सहमी आँखोंसे इधर-उधर देखती जाती थी। डर था कि कहीं कोई जान-पहचान वाला यह बेहयाई न देख ले।

रास्तेमें मुसलमानोंका मोहल्ला पड़ता था। उर्मिलाको विश्वास था कि मुसलमान सब गुण्डे होते हैं और लड़कियोंको उठाकर ले जानेमें उन्हें कोई देर नहीं लगती। कहाँ तो प्रदीपके कहने पर भी साथ-साथ

चलनेमें आना-कानी कर रही थी ; परन्तु अब वह उसके भीतर घुसनेको हो गई।

"क्या करती हो ? अलगसे चलो ज़रा। मुझे गिराओगी, या खुद गिरोगी।"

"मुसलमान हैं, देखते नहीं ?"

"मुसलमान हैं तो क्या हुआ ?"

"देखो मरे कैसे आँख फाड़-फाड़कर देख रहे हैं ?"

"औरतको देखना मर्दका काम है। इसमें क्या बुराई है ?"

"क्यों देखते हैं मुझे। इनके माँ-बहनें नहीं हैं क्या ? जी करता है इनकी आँखें फोड़ दूँ।"

"तो भाई हमको भी बचकर चलना होगा। तुम्हें घूरनेकी आदत हमें भी है। कहीं हमारी आँखों पर आफ़त न आ जाए ?"—प्रदीप हँसने लगा।

"तुम्हारी और बात है ?"

"और बात कैसे है ?"

उत्तर दिए बिना ही उर्मिला उसकी ओर देखकर आँखों ही आँखों में बोली—

"तुम क्या नहीं जानते ? यह भी तुम्हें समझाना होगा।"

प्रदीपका जी चाहा कि उर्मिलाकी वे आँखें चूम ले। किन्तु इस ऋषि-भूमिमें खुली सड़क पर यह दुराचार करनेकी हिम्मत वह नहीं कर सका।

उर्मिलाके पिताका मकान निकट आ गया। ठिठक कर वह बोली—

"देखोजी, अब कँधेसे कँधा मिलाकर चलना नहीं हो सकेगा। या तो आगे चलो या पीछे।"

"नहीं मैं तो साथ-साथ चलूँगा।"

"तो मैं घूँघट निकाल लूँगी।"

"पागल हुई है?"

"पागल मैं नहीं हूँ, तुम हो। क्या कहेगा कोई। चार दिन ब्याहको नहीं हुए, हाथमें हाथ डालकर चलना बड़ा अच्छा लगता है ना!"

"तो मैं नहीं जाता। वापिस लौट चलो।"

"तुम्हें जाना हो तो जा सकते हो। मैं अकेली चली जाऊँगी। सब तुमको ही बुरा बताएँगे।"

प्रदीप हार गया। फैसला हुआ कि उर्मिला आगे-आगे और वह पीछे-पीछे चले।

× × × ×

उर्मिलाकी माँने प्रदीपके आगे एक तश्तरीमें मिठाई रखते हुए कहा—"वैद्यजीसे इन्होंने पूछ लिया था। मूँगके लड्डू और पेठा कोई नुक़सान नहीं करेगा। आप थोड़ा खाइए!"

गुप्ताजीने सलाह दी कि वे लोग मण्डीमें जाकर रोशनी देखें। और थोड़ी देर बाद उर्मिलाके साथ प्रदीप फिर सड़क पर उतर आया।

छोटे शहरकी मण्डी थी। अनेक स्त्रियोंमें प्रदीपने देखा कि उसकी उर्मिला जैसी सजधज, रूप सौन्दर्य किसीको नहीं मिला है। सबकी

आँखें उसपर जम जाती थीं। गर्वके मारे प्रदीपकी छाती फूल गई। अचानक रुककर उर्मिला बोली—

"आगे नहीं।"

"क्यों?"

"ताऊजीकी दुकान है।"

"कौन ताऊजी?"

"द्रौपदीके पिताजी।"

प्रदीप न द्रौपदीको जानता था न उसके पिताको; पर आगे उसने कुछ नहीं पूछा। वह जानता था कि द्रौपदी कौन है, यह पूछने पर वह पगली कह देगी कि ताऊजीकी लड़की। वहींसे दोनों लौट चले।

घर आकर प्रदीपके कमरेमें उर्मिला कपड़े बदलने लगी। प्रदीप उस ओर देखता तो वह लाजसे सिटपिटा जाती थी। उसकी यह हरक़त बन्द करनेके लिये वह आखिर बोली—

"ऐसा भी क्या हो गया? किसीको कपड़े बदलने नहीं दोगे क्या?"

"सच उर्मि तुम्हारा ब्याह तो किसी मण्डीमें बैठनेवाले मुनीमके लड़केसे होना चाहिये था।"

"तो तुम्हीं कौनसे लन्दनसे आए हो?"—तमककर वह बोली।

हँसकर प्रदीप उसकी ओर बढ़ा और उसे बाहूपाशमें भरकर उसके होंठ, आँखें और गाल चूमने लगा।

२६

लगभग एक मास तक प्रदीपकी तबियत कुछ ठीक-सी चलती रही। पहले-पहले तो वह इधर-उधर जाता रहा। प्रोफेसर साहबके पास जा बैठता, किन्तु धीरे-धीरे वह देख पाया कि उनके विचार करने और बोलनेकी एक पटरी है, जिससे उतरकर आसपास दोनों तरफ फैले अनुभवके अन्यान्य क्षेत्रोंका पर्यवेक्षण करनेका उनमें साहस नहीं, अथवा रुचि नहीं। सदा वे एक ही बात पर आकर रुकते थे—कोई ऐसा मन्त्र बता दे कि जिसके जप करने मात्रसे ब्राह्मी स्थिति मिल जाए। प्रदीप जानता था कि योगमें छू मन्त्र जैसी कोई बात नहीं, धीरे-धीरे साधना द्वारा बुद्धि और भावनाका परिष्कार करके अपने अन्तरके आध्यात्मिक आधारको क्रमशः दृढ़ किए बिना आगे नहीं बढ़ा जा सकता। फिर प्रदीपको तत्त्व-चर्चामें विशेष दिलचस्पी नहीं थी। वह कहता था कि जब प्रयोगात्मक प्रणालीसे मानव-चेतनाकी सम्भावनाओंकी गवेषणा की जा सकती है और की जानी चाहिये, तो कुछ मूल विश्वास लेकर चलनेके क्या मायने? इसके सिवाय वह यह भी कहता था कि व्यक्तिकी महत्वाकांक्षा सामाजिक सीमा-रेखाओंको अतिक्रम करके बहुत दूर नहीं जाती। जिस समाजमें चारों ओर धन और सफलताका वावेला मचा हो, वहां किसी भी व्यक्तिको एक अछूती चेतना बनाए रखकर मानसिक उत्कर्षकी चेष्टा काफी दुरूह जान पड़ेगी। इसीलिए तो योगी लोग संसारके कोलाहलसे दूर वनोंमें आश्रम बनाकर रहते आए हैं।

समाजके भीतर रहकर समाजकी दुर्दशा, गंदगी और सड़ाँदकी ओरसे आँखें मींच लेना सरासर बेईमानी है, फिर उसको योग, वेदान्त अथवा और कोई कितना ही भारी-भरकम नाम क्यों न दे दिया जाए।

एक दिन स्थानीय कालेजमें कोई दार्शनिक चर्चा थी। विषय था कि नैतिक मूल्य सापेक्ष है या निरपेक्ष। कालेजके कई प्रोफेसर दोनों ओरसे विवादमें भाग ले रहे थे। प्रदीपको भी निमन्त्रण मिला। उसने निश्चय किया कि वह नैतिक मूल्योंको अन्ततः निरपेक्ष सिद्ध करनेकी चेष्टा करेगा। उसके परिचित प्रोफेसर साहब वेदान्ती होनेके नाते मानते थे कि नैतिक मूल्य सापेक्ष होते हैं।

सभा होनेसे थोड़ी देर पहले वह कालेज-हालमें पहुँचा और अपने प्रोफेसर साहबके बराबरमें जा बैठा। इधर बैठे छात्रोंमेंसे एकने उठकर कहा कि वे लोग प्रदीपजीसे कविता सुनना चाहते हैं। प्रदीपने सबके सामने बैठकर बच्चनका "आत्म-परिचय" जो उसको कण्ठस्थ था, सुना दिया। सबने ताली बजा दी। अधिकतर आँखें उसको बड़ी श्रद्धाकी दृष्टिसे देख रही थीं। प्रदीप समझ गया कि प्रोफेसर साहबने उसके विषयमें बहुत बढ़ा-चढ़ाकर इन लोगोंको सुनाया है। एक बार तो उसको कुछ तृप्ति-सी अनुभव हुई; किन्तु दूसरे ही क्षण वह सोचने लगा—"यह स्थिति तो ठीक नहीं। यह तो घोर विडम्बना है। मुझको कोई भगवान् मानकर मेरी भक्ति करे, यह मुझे बुरा नहीं लगता; किन्तु भक्ति जो करता है, वह वरदान भी तो माँगने लगता है। यहीं तो बिचारे भगवानकी असली आफत आती है। इसीलिए तो भगवान् बनना इतना दुखदायक है।"

प्रदीपका जी चाहने लगा कि किसी प्रकार वह उन लोगोंकी श्रद्धापर कुठाराघात करे। किन्तु क्योंकर? क्या वह अचानक अपनी पतलून खोलकर उनके सामने नंगा खड़ा हो जाए? नहीं, अपने बराबरमें बैठे प्रोफेसर साहबकी पगड़ी उतारकर हवामें उछाले और घूम-घूमकर नाचने लगे। इसी प्रकार सोचते-सोचते वह वस्तुतः उद्विग्न हो उठा। उसको पुराने कवि-सम्मेलनकी याद आई, जब कि वह उठकर भाग आया था। क्या आज भी बिना किसीसे कुछ कहे-सुने उठकर चल दे या गला फाड़-फाड़कर पागलोंकी तरह हँसने लगे? क्या करे वह? इन अनेक आँखोंमें जो श्रद्धा और सम्मान भरा है, उसे वह सहन नहीं कर सकता। उनके बोझसे दबकर वह मर जाएगा।

इसी समय सभापतिने अपना आसन ग्रहण किया। वे कालेजके उप-प्रधान, एक मुसलमान सज्जन थे। सलेटिया रंगका ऊनी सूट पहने थे, सुन्दर, रेशमी, लाल चित्तीदार सफेद नेकटाई, सुनहरी कमानीका चश्मा। अपनी कलाईपर बँधी घड़ीकी ओर बार-बार देख-देखकर दूसरे हाथसे मेजपर रखे हुए कागज़-पत्रोंको अर्थहीन मुद्रासे इधर-उधर करते वे धीरे-धीरे बोल रहे थे—

"और बड़ी खुशीका मौका है कि आज हमारे दरम्यान दिल्ली यूनिवर्सिटीके मशहूर तालिबेइल्म मिस्टर प्रदीप मौजूद हैं। मुझे उम्मीद है कि वो हमारे सामने आए मसअले पर काफी गहरी और नई रौशनी डालेंगे। उनके बारेमें ज्यादा कुछ कहनेका फ़ख्र मुझे हासिल नहीं हो सकता; क्योंकि उनके साथ जाती तौरपर गुफ्तगू करनेका मौका मुझे नहीं मिला है। खैर।

"बहस शुरू होनेके क़ब्ल ही मैं अपना नुक्तए नज़र आप लोगोंके सामने पेश कर देना चाहता हूँ, हालाँकि आमतौर पर सद्रेजलसा इस क़िस्मकी हरकत नहीं किया करते.........।"

इसके बाद वे लगभग पाँच मिनट तक इस्लामकी नैतिक धारणाएँ लेकर चर्चा करते रहे। प्रदीप धैर्य खो बैठा। अजीब इन्सान है यह। बीसवीं सदीमें एक ऐसे कालेजका उप-प्रधान है, जहाँ पदार्थ-शास्त्र, रसायन-शास्त्र और प्राणी-शास्त्र पढ़ाए जाते हैं। सूट पहनता है, नेक्टाई लगाता है, कलाईपर घड़ी बँधी है; किन्तु यह जो इस्लामकी पुरातन धारणाओंको आधुनिक युगमें स्वयंसिद्ध मौलिक सत्य सिद्ध करने खड़ा हुआ है—इसमें क्या इसको कुछ भी हास्यास्पद नहीं जँचता? उस नीतिका निर्माण उस समय हुआ था, जब कि मध्य-युगीय अरबके अन्ध-विश्वासमें डूबे क़बीलोंको ऊपर उठानेकी प्रेरणा मुहम्मद साहबको यात्रा द्वारा दूसरे समाजोंको देखनेसे मिली थी। उस समय वह उन्नतिका मार्ग था; किन्तु आज भी यदि वही नीति छाती ठोंककर मानवका पथ-प्रदर्शन करने चली, तो मानव-समाजका दिवाला निकल जाएगा। आज क्या......मुहम्मद साहबके सौ साल बाद ही फ़ितनोंने सिर उठाया था। उन नवीन विचारकोंको फितना-अंगेज कहना स्थापित स्वार्थोंका काम था, वस्तुतः तो धर्मकी संकुचित और विनाशकारी प्रवृत्तियोंके विरुद्ध ही उन लोगोंने आवाज़ उठाई थी। क्या प्रोफेसर साहबने इस्लामके दर्शनको पढ़कर नहीं देखा? क्या इब्न राशदका नाम इन्होंने नहीं सुना?

प्रदीपने ऊपर आँखें उठाई। बोलनेवाला अब भी बोल रहा था। उसके शब्दों पर प्रदीपका ध्यान नहीं गया। मिर्जा साहबकी तुर्की टोपी

पर ही उसकी आँखें जमकर रह गईं। मानो वह टोपी पुकार-पुकारकर कह रही थी कि शुबा मत करो, मेरे इस नए लिबासमें भी मेरी रूह पुरानी है।

नैतिक मूल्योंको निरपेक्ष ठहरानेके लिए सबसे पहले जो बोले, वे इतिहासके अध्यापक एक और मुसलमान सज्जन थे। उनकी सारी बातोंका तात्पर्य यह था कि नैतिक धारणाओंको सापेक्ष मान लेते ही प्रलय हो जाएगी, समाज बिखर जाएगा, मनुष्य पशुकी कोटिमें पहुँच जाएगा। प्रदीपको हँसी आने लगी। यह आदमी कह क्या रहा है? और जब उन साहबने इतिहाससे उदाहरण देने आरम्भ किए, तो सारांशमें यही समझानेकी चेष्टा की कि बड़े-बड़े साम्राज्यों, सभ्यताओं, संस्कृतियोंका उदय-अस्त केवल उनमें प्रचलित नैतिक धारणाओंके निरपेक्ष और सापेक्ष हो जाने मात्रसे हुआ था।

दूसरे सज्जन, जो नैतिक मूल्योंकी निरपेक्षताका खण्डन करने खड़े हुए, वे फारसीके अध्यापक एक हिन्दू थे। उनकी बातोंसे मालूम हुआ कि दर्शन-शास्त्रसे उनका कोई सन्बन्ध नहीं, उनको इस विषयमें विचार करनेकी आवश्यकता भी किसी दिन अनुभव नहीं हुई। वे केवल सब बातोंका उपहास करना चाहते थे और पाश्चात्यदर्शनकारोंके कुछ शब्दोंको लेकर एक विशेष प्रकारकी भंगिमाके साथ उच्चारण करते जा रहे थे। Transcendantalism पर आकर वे आपेसे बाहर हो गए। प्रदीपसे नहीं रहा गया। वह खड़ा होकर पूछ बैठा—

"आप जो शब्द बोल रहे हैं, उनका अभिप्राय आप समझते हैं?"

"जी, बिल्कुल नहीं, आप समझा दीजिए।"—कहते-कहते उन साहबने एक विचित्र-सा मुँह बना सामने बैठे छात्रोंकी ओर देखा। सब हस पड़े। प्रदीप बैठ गया।

मिर्जा साहबने प्रदीपका नाम पुकारा और वह जाकर उनके दाईं ओर मंचपर खड़ा हो गया। एक बार खाँसकर उसने बोलना आरम्भ किया—

"अभी-अभी जो साहब उधरसे बोल रहे थे, उनकी बातोंपर तो मैं क्या टीका-टिप्पणी करूँ। उन्होंने तो कुछ कहा नहीं। यहाँ लतीफे सुनने अथवा सुनानेके लिए हमलोग एकत्र नहीं हुए। कोई-कोई सोचा करते हैं कि किसी बातका मज़ाक यदि उन्होंने उड़ा दिया, तो बात खत्म हो गई ; किन्तु बात रहती है। मज़ाकको विचारका स्थान देकर हमलोग खाली अपनी बुद्धिके दिवालिएपनका प्रमाण देते हैं.........

"या फिर यूँ कहिए कि मज़ाककी जगे तखय्युलको देकर हम अपने दिमाग़ी जुनूनका सुबूत देते हैं।"—फारसीके अध्यापक बैठे-बैठे बोल पड़े और मुड़कर जो सबकी तरफ देखा, तो अधिकतर लोगोंसे हँसे बिना नहीं रहा गया।

उधर ध्यान दिए बिना ही प्रदीप आगे बढ़ा—

"आप न-जाने क्या सोचेंगे ; किन्तु मुझे ऐसा लगता है कि इससे पहले मैं कुछ कहूँ, मुझे मेरे ही पक्षमें बोलनेवाले पहले सज्जनकी तर्क-पद्धतिका खण्डन करना पड़ेगा। क्योंकि दार्शनिक दृष्टिकोणसे उन्होंने जो कहा, उसका मूल्य न-कुछके बराबर है। एक प्रकारसे बल्कि उन्होंने अपनी बातोंसे यही सिद्ध कर दिखाया कि नैतिक मूल्य निरपेक्ष नहीं,

सापेक्ष हैं। उन्होंने जो कहा कि नैतिक मूल्योंको सापेक्ष मान लेनेसे समाज बिखर जाएगा, मनुष्यका अधःपतन हो जाएगा, सो कहाँ तक सत्य है, मैं नहीं जानता। और उन्होंने जो ऐतिहासिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया, उसमें भी सन्देहको बहुत स्थान रह जाता है। किन्तु इस समय उस बहसमें पड़ना मैं नहीं चाहता। हमारे सम्मुख जो प्रश्न है, उसीका उत्तर देने तक मैं अपनी बात सीमित रखूँगा।

"हाँ, तो यदि समाजके बिखर जानेके भयसे अथवा मनुष्यके अधःपातकी आशंकासे ही हम नैतिक मूल्योंको निरपेक्ष बनाए रखना चाहते हैं, तो नैतिक-तत्त्वका मूलोच्छेदन तो हम पहले कर चुके। फिर तो नैतिक धारणाओं, सामाजिक रीति-रिवाजों और सरकारी कायदे-कानूनोंमें कोई अन्तर नहीं रह जाएगा। किन्तु नैतिक प्रवृत्ति व्यक्तिकी स्वतन्त्र, आत्म-जन्य प्रवृत्ति है। उसमें भय, बल-प्रयोग अथवा किसी अन्य उपलब्धिकी प्रेरणा आते ही वह गदली हो जाती है, उसकी स्वायत्त और आत्म-सम्पूर्ण सत्ता समाप्त हो जाती है। ऐसी धारणाओंके पीछे धर्म, विज्ञान, बल, प्रभुत्व अथवा और कुछ भी हो, नैतिक दृष्टिकोणसे कानी कौड़ी भी उसका मूल्य नहीं। नैतिक धारणाओंको सापेक्ष मानते ही कोई अन्य प्रेरणा आप नैतिक प्रेरणाके ऊपर रख देते हैं। इसलिए नैतिक धारणा केवल निरपेक्ष ही हो सकती है। इतना मैं कहूँगा। नैतिक-तत्त्वको खोजकर उसकी परिभाषा देना मेरा काम नहीं।"

प्रदीप अपने स्थान पर आ बैठा। किसीको आशा नहीं थी कि वह इतना थोड़ा बोलेगा। इसीलिए लोगोंने सहसा तालियाँ नहीं बजाईं; किन्तु दूसरे क्षण एक हल्की-सी, विशृङ्खल करतल-ध्वनि हालमें

गूँज गई। ताली बजाना ही चाहिए, इसीलिए। प्रदीपको मन-ही-मन यहाँ आनेपर अफसोस हो रहा था।

उसके परिचित प्रोफेसर विपक्षमें बोलनेके लिए खड़े हुए। प्रदीप जानता था, वे क्या कहेंगे। नैतिक प्रवृत्ति तो व्यक्तिकी व्यावहारिक प्रवृत्ति मात्र है और व्यक्तिका व्यवहार उसकी परिस्थितियोंके साथ बदलता जाता है। फिर नैतिक धारणाएँ निरपेक्ष कैसे हो सकती हैं? निरपेक्ष तो केवल अनिर्वचनीय, परमार्थ-तत्त्व, सच्चिदानन्द ब्रह्म है।

किन्तु अचानक प्रोफेसर साहब मानो बहक गए। अपना स्वर ऊँचा करके कहने लगे—

"हम अध्यापक लोग यहाँ खड़े होकर नैतिक मूल्योंके विषयमें बड़ी-बड़ी हाँकते हैं; किन्तु क्या हमलोगोंने कभी आत्म-परीक्षा करके देखा है कि यह सब चर्चा करनेका हमलोगोंको कहाँ तक अधिकार है? आखिर हमारे अपने जीवनमें कितनी नैतिकता है। उस दिन स्टाफ-रूममें एक अध्यापक मुझे एक-दूसरे अध्यापकके विषयमें बता रहे थे कि उनको बराबर स्वप्न-दोष हुआ करता है। यह है हमलोगोंकी वास्तविक दशा..."

प्रदीप समझ नहीं सका कि इस असम्बद्ध बकवादके क्या मायने हो सकते थे। वह उठकर हालके बाहर हो गया। और सुननेका धैर्य उसमें नहीं बच रहा था।

कालिजके लॉनमें एक सुन्दर-सा फव्वारा बना था। उसकी सीमेन्टकी प्राचीरपर बैठकर प्रदीप अपलक आँखोंसे अन्धेरेमें देखने लगा। वह सोच रहा था कि ये सब बातें लेकर क्यों वह व्यस्त हुआ करता है। कोई कैसा ही हो, कुछ कहे, कुछ करे—उसको क्या? यह नकचिढ़ीकी

आदत तो ठीक नहीं। अपने चारों ओर घृणित गन्दगी, कुत्सित आचार-विचार फैले हैं तो क्या हम कुढ़ कर मर जाएँ ? हमारी बलासे। हमने कोई संसार चलानेका ठेका लिया है ? यह सब जाने संसारका मालिक। हँसो भाई, तनिक हँसना सीखो। सब बातोंका एक ऐसा पक्ष होता है जिसपर हम हँस सकते हैं। वही पक्ष क्यों न देखा जाय ? हमें रोनेकी ऐसी क्या पड़ी है ? आँसुओंको आँखोंमें समेटे रहना चाहिए।

एक सज्जन और उसके पास आ बैठे। खद्दरका धोती, कुर्ता, नेहरूकट ऊनी वास्केट और गांधी-टोपीमें खासे लीडर-से जँचते थे। बैठते ही वह कुछ हिचकके साथ प्रदीपसे बोले—

"मैं आपसे दो बातें कर सकता हूँ ?"

"क्या बातें करना चाहते हैं, आप ?"

"कोई विशेष कुछ नहीं, यों ही।"

प्रदीप चुप रहा। वह फिर पूछने लगे—

"आपकी जाति ?"

प्रदीपने बता दी।

"आपका गाँव ?"

प्रदीपने बता दिया।

"आप क्या करते हैं ?"

प्रदीपने समझा दिया।

"आप यहाँ कैसे आए थे ?"

यह भी प्रदीपने समझा दिया। जब उनको मालूम हुआ कि प्रदीप बीमार है और इलाजके लिए रोहतक आया है तो वे सरक कर और निकट आ गए। उनके मुख पर उमड़ते दैन्यको देखकर प्रदीप समझ गया कि ये सहानुभूतिका आदान-प्रदान चाहते हैं।

"आप किसका इलाज कराते ?"

"आपको क्या मतलब इन सब बातोंसे।"—प्रदीप असहिष्णु हो गया।

"जी, बात यह है कि मैं भी बहुत दिनसे बीमार हूँ। बहुत इलाज करा चुका। कुछ फायदा नहीं होता। आपके डाक्टर या वैद्यजी यदि कुछ अच्छे हों तो मैं भी उनको दिखाऊँ।"

प्रदीप चुपचाप बैठा रहा। वे साहब अपना किस्सा सुनाते रहे। वे स्थानीय म्यूनिसपैलिटीमें काम करते थे, दो सालसे बीमार रहनेके कारण खाली बैठना पड़ रहा है। दवा-दारू, पथ्य इत्यादि पर इतना रुपया खर्च हो गया। किस-किसका इलाज करवाया। आज-कल पानी और मिट्टीका इलाज करा रहे हैं। खाली फल खाकर रहना पड़ता है। दूध भी मना है। फलोंको भी इतना चबाकर खाना पड़ता है कि मुँह दुख जाता है। सो भी सब मीठे फल। फिर भी तबियत कुछ विशेष संभल नहीं पाती। न जाने क्या होगा। कैसे गुजारा चलेगा। एक लड़का है, स्कूलमें पढ़ रहा है। उससे अभी क्या आशा रक्खी जाए। और लड़की जवान हो गई।

"आपका ब्याह तो नहीं हुआ होगा!"—उन्होंने पूछा।

"जी, अभी तो नहीं।"

"आप ज़रा अपने पिताजीका पता तो लिख दीजिए।"—काग़ज और पेन्सिल जेबसे निकालकर वे बोले।

"क्या करेंगे आप उनके पतेका ?"

"आपके राजी होनेसे तो बात नहीं बनेगी। आपके पिताजीकी भी तो राय माँगनी होगी।"

"लेकिन मैं राज़ी हो गया, यह आपने कैसे समझ लिया ?"

"अरे साहब, उसमें कौन-सी बात है। हम और आप एक जाति के हैं, आप मुझे पसन्द हैं। और क्या चाहिए ?"

"हूँ !"

"क्यों, है ना ठीक !"

"जी ! पर इस विषयमें मेरे विचार कुछ अलग हैं। मैंने क़सम खाई है कि जिस लड़कीके साथ ब्याह करूँगा, उसको पहले अच्छी तरह देखूँ-भालूँगा।"—प्रदीप बोला।

"इसमें क्या दोष है। कल ही मेरे घर आइए। आपको लड़की दिखा दूँगा।"

"देखकर मुझे तसल्ली नहीं होती। मेरे साथ एक कमरेमें दो-तीन घण्टे तक अकेली उसे छोड़ना होगा। जिन्दगी-भरका सवाल है, साहब ! सब कुछ देखना होगा। हो सकता है कि आपकी लड़कीकी छातियाँ ढीली हों, जाँघे पोली हों, दाँत सड़े हों, साँसमें बदबू आती हो। यह भी सम्भव है कि उसका कुमारपन नष्ट हो चुका हो और मुहब्बत करनेके साथ-साथ कोई उसको सूज़ाक, आतशक दे गया हो······"

प्रदीप खड़ा होकर एक साँसमें ये सब कह गया—"सच तो यह है, साहब, औरतके साथ जब तक सोकर न देख ले, उससे कभी विवाह न करे। आपको मंजूर है।"

वे साहब हक्का-बक्का उसकी ओर देखकर कुछ कहना चाहते थे। उनका उत्तर सुने बिना ही प्रदीप उठकर चल दिया।

२७

उसने एक दिन दिल्ली जानेका इरादा किया। जो पुस्तकें वह अपने साथ लाया था, वे प्रायः सब समाप्त हो चुकी थीं और बिना पुस्तकोंके दिन बिताना अभी तक उसने सीखा नहीं था। इसके सिवाय वह एम० ए० फाइनलकी परीक्षा भी इस साल देना चाहता था। और सबके समझाने-बुझानेपर भी कि और पढ़नेका विचार उसे छोड़ देना चाहिए, वह यह सोच ही न सका कि वह परीक्षा नहीं देगा। परीक्षासे प्रदीप किसी दिन भी नहीं घबराया था और न इस बार ही उसके मनमें चिन्ताकी रेखा उभरी। दिल्लीसे आते समय वह जब एक प्रोफेसर साहबके घर उनकी लाइब्रेरीसे पुस्तकें ले रहा था, तो उन्होंने हँसकर पूछा था—

"यह सब किताबें किसलिए ले रहे हो, प्रदीप! क्या इस साल तुम्हारा परीक्षा देनेका इरादा है?"

"जी, इरादा तो है और बदलेगा भी नहीं।"—प्रदीपने कहा था।

"पागलपन करना ठीक नहीं, भाई। मैं यह नहीं कहता कि तुम पास नहीं हो सकोगे; किन्तु बी० ए० आनर्समें जो नाम तुमने पाया था, वह उतावलीके कारण तुम झूठ-मूठ गँवा दोगे।"—प्रोफेसर साहबने चिन्तित होकर कहा था।

"किन्तु प्रोफेसर साहब, आप मेरी परिस्थिति तो पहिचानिये। अपना नाम मैं गँवाना नहीं चाहता और जहाँ तक सोच सकता हूँ, गँवाऊँगा भी नहीं। पर केवल नाम खो देनेकी आशंकासे छात्र-जीवनमें एक साल और जोड़ देना मुझे बेहद खटकता है। मैं तो जितना शीघ्र हो सके, कालेजकी दीवारोंसे बाहर निकलकर कमाना-खाना चाहता हूँ।" —प्रदीप एक दृढ़ भावसे कह गया था।

गाड़ीमें बैठकर प्रदीपकी आँखोंमें दिल्लीका नक्शा घूम गया और जिस स्थानपर उसकी आँखें अटककर रह गईं, वह थी सुनयनाकी सौम्य, मधुर मूर्त्ति। सुनयनासे मिलनेका अवसर निकट देखकर भावनासे विह्वल हो उठा प्रदीप। तीस मीलकी रफ्तारसे दौड़ती हुई गाड़ीपर उसे असन्तोष हो रहा था। वह चाहता था कि आँखें बन्द करे और दिल्ली पहुँच जाए। वह समझ ही नहीं सका कि पिछले तीन महीनोंमें क्यों एकबार भी दिल्ली जानेकी प्रेरणा उसे नहीं मिली। यह बात भी नहीं कि वह एक दिन भी सुनयनाको भूला हो।

दिल्लीमें नहा-धोकर जिस समय वह सुनयनाके घर पहुँचा, तो साँझ हो गई थी। नौकरने उसको देखते ही नीचेके कमरेमें बैठनेको कहा और सुनयनाको खबर देने ऊपर चला गया। प्रदीपको भय लग रहा था कि सुनयनाको बिना कारणके उसका चला आना पसन्द भी आएगा

कि नहीं। यदि उसने नौकरसे कहला भेजा कि वह उससे नहीं मिल सकती, तो वहाँसे उठकर जाना उसके लिए कठिन हो जाएगा। उसने गलती की है। वह वासुदेवके घर चला जाता। सुमित्रासे दो बातें करके सुनयनाके विषयमें पता लगा लेता। सुनयनाको उसके दिल्ली आने की बातका पता चल ही जाता और इच्छा होती तो वह स्वयं ही उसको बुला भेजती। पर अब तो जो होना था, सो हो गया। साँस रोककर प्रतीक्षा करनेके अतिरिक्त वह कर भी क्या सकता था।

किन्तु उसकी सब आशंकाएँ उसके अपने मस्तिष्कमें भरी कातरतासे अधिक कुछ नहीं थीं। थोड़ी देरमें नौकरने आकर कह दिया कि सुनयना ऊपरके कमरेमें उसे बुला रही है। प्रदीप सीढ़ियाँ चढ़ गया। सुनयना दीवारसे पीठ लगाए अपने पलंगपर बैठी थी। नवम्बरकी हल्की ठण्डके कारण उसने एक बादामी रंगकी गरम शालसे अपने पाँव ढँके हुए थे। सिरपर साड़ीका आँचल नहीं था। उसके खुले हुए लम्बे बाल बाएँ कंधेपरसे आगे आकर उसके वक्षस्थल पर बिखरे हुए थे। आँखोंमें उसके कुछ गाम्भीर्य-सा भरा था और मुखपर फैली थी गाढ़ी उदासीनता। प्रदीपके पास आनेपर वह जरा सीधी होकर बैठी और पासमें पड़ी कुर्सी की ओर आँखोंसे इशारा करती हुई बोली—

"आप अचानक कैसे ? आनेकी कोई खबर तो नहीं थी।"

"कौन मेरी प्रतीक्षामें बैठा था, जो खबर देता। जी किया, चला आया।"—प्रदीप बोला।

सुनयनाने कुछ उत्तर नहीं दिया। फिर दीवारके सहारेसे बैठ गई। एक क्षण सन्नाटा रहा। जैसे अपनेको कुछ संयत करके सुनयनाने पूछा—

"आपकी तबियत कैसी है ?"

"पहलेसे कुछ ठीक ही है।"

"अभी तो रोहतक ठहरेंगे ना ?"

"कुछ कह नहीं सकता। विचार तो ऐसा है कि दिल्ली चला आऊँ। परीक्षाके दिन निकट आ गए।"

"आप परीक्षा देनेका विचार भुला नहीं सके !"

"नहीं, भुलानेकी कोई आवश्यकता अभी तो नहीं देखता।"

सुनयना फिर चुप हो गई।

"तुम्हारी पढ़ाई कैसी चल रही है ?"—प्रदीपने पूछा।

"बस कालेज चली जाती हूँ, और क्या ?"

प्रदीप चुप हो गया।

"उर्मिला भाभीकी बात सुनाइए !"—सुनयनाने कहा।

"क्या सुनाऊँ, बोलो। तुमसे मिलनेको कह रही थी।"

"साथ क्यों नहीं ले आए ?"

"वह तो कह रही थी। माँ ने नहीं आने दिया।"

"क्यों, आपकी माँ को भला इसमें क्या असुविधा हो सकती थी।"

"उर्मिलाने माँ बननेकी तैयारी की है, सुनी ! उसका इधर-उधर जाना अभी नहीं हो सकता।"

"यह बात है !"—कहकर सुनयना मुस्कराने लगी।

"क्यों, क्या बात है ?"—प्रदीपने पूछा।

"कुछ भी नहीं।"

"तुम मुस्कराई क्यों ?"

"ऐसे ही।"

"ऐसे ही भी कोई मुस्कराता है।"

"तो आप ही बताइए, मैं क्यों मुस्कराई।"

"मैं क्या जानूँ?"

सुनयना कुछ नहीं बोली। प्रदीपसे भी कुछ कहते नहीं बना। बात आगे बढ़ ही नहीं रही थी। प्रदीपको बेचैनी-सी होने लगी। यह संयम और उदासीनता दिखाकर जैसे सुनयना उससे कह रही थी कि आप चले जाइए। अब आपका यहाँ आकर बैठना, बातें करना उचित नहीं है। संयोगवश हम जीवन-पथपर मिले थे, एक-दूसरेको पसन्द आए, कुछ दिन साथ-साथ चले, कोई बुरा नहीं; किन्तु अब और साथ-साथ जाना नहीं हो सकता। हमारे रास्ते अलग-अलग हैं—मैं इधर जाऊँगी, आप उधर। मेरे साथ और चलते रहनेका हठ करके आप मुझे मुसीबतमें डाल देंगे। आप पुरुष हैं, लौट सकते हैं, आपको कोई असुविधा किसी दिन नहीं होगी। किन्तु मैं नारी हूँ। मुझे सोचना पड़ता है। मेरा फैसला यही है कि, बस, और आगे नहीं। यहीं तक हमारा साथ था, निभा दिया। अफसोस नहीं होना चाहिए।

"अच्छा, तो मैं चलता हूँ।"—प्रदीप एक गहरी साँस छोड़कर बोला।

सुनयना फिर मुस्करा दी। बोली कुछ नहीं।

"क्यों, मुस्कराई क्यों?"

"मुझे आश्चर्य होता है कि आप अपने ऊपर जबर्दस्ती क्यों करते हैं।"

"जबर्दस्ती कैसी ?"

"आपका जानेको जी नहीं चाहता। फिर भी आप जाना चाहते हैं।"

"तुम्हें कैसे मालूम कि मेरा जानेको जी नहीं चाहता ?"

"आपकी मैं बहुत-सी बातें जानती हूँ और आप नहीं जानते कि मैं जानती हूँ।"

"कैसे जानती हो, भला ?"

"हम औरतें हैं, प्रदीपजी ! पुरुषका मुँह देखकर उसका मन समझ लेना हमारे लिए कोई बड़ी बात नहीं।"

"तो अपनी विद्या मुझे भी सिखा दो ना, सुनी !"

"आप सीखकर क्या लेंगे ?"

"बहुत बार तुम्हारे मनकी बात जाननेको जी चाहता है, पर जान नहीं पाता।"

"किसी दिन जान भी नहीं सकेंगे। खैर, आप क्या जानना चाहते हैं मेरे मनकी ?"

"यही कि·········"प्रदीप बोलते-बोलते अटक गया।

"हाँ, बोलिए, बोलिए, रुक क्यों गए ?"

"क्या होगा बोलकर, सुनी ! तुम नाराज हो जाओगी।"

"नहीं, नाराज न होनेका वचन देती हूँ। आप कहिए तो। बात पेटमें रखनेसे पेट फूल जाता है।"

दोनों हँसने लगे।

"अच्छा, सुनी, तुम्हारे पास तो बहुतसे अच्छे उपन्यास हैं। मेरे पास पढ़नेको सिवाय बड़ी-बड़ी पुस्तकोंके कुछ नहीं रह गया। दो-चार उपन्यास दो तो महीना बीस दिन चल जाएगा।"—प्रदीपने कहा।

"वह सामने आलमारीमें सब रक्खे हैं। आपको जो पसन्द आएँ ले लीजिये"—पलंगसे उतरते हुए सुनयना बोली—"आप इतने किताबें देखिए, मैं चायका प्रबन्ध कर लाती हूँ, हैं?"

वह कमरेके बाहर हो गई। प्रदीप उठकर आलमारीमें पुस्तकें देखने लगा। ऊपरवाले खानेके एक कोनेमें उसने कुछ फोटो रक्खे देखे। उठाकर वह एक-एक पर आँख दौड़ाने लगा। सब नवयुवक थे। फोटो देखते ही प्रदीप समझ गया कि सुनयनाके विवाह की बात चल रही है। उसकी छातीमें न जाने क्या होने लगा। क्या सुनयनाने उनमेंसे किसीको चुन लिया है? कौन है वह? अथवा ये सब ऐसे उम्मीदवार हैं, जिनकी सुनवाई नहीं हुई?

उसने जो दो-चार पुस्तकें छाँटी थीं, वही लेकर वह वापिस कुर्सी पर आ बैठा। उसका मन कह रहा था कि अब और उसे सुनयना के मार्गमें नहीं आना चाहिये। उसका अपना घर बसा है। सुनयना को भी तो घर बसानेका अधिकार है। वह अपने लिये साथी खोज रही है। उसे खोजना ही चाहिये। अकेली भारतीय नारी, वह जीवन-पथ पर क्यों कर चल सकेगी? प्रदीप यदि डाह करे तो उसकी नीचता है, स्वार्थपरता है। वह उससे प्रेम करता है; किन्तु इसी कारण तो सब बातोंका सीधा फैसला नहीं हो जाता। उसके देशमें, समाजमें

पुरुष और स्त्रीके प्रेमका कोई मूल्य नहीं आँका जाता, उन्हें और परिस्थितियोंका ध्यान रखकर ही अपना सम्बन्ध जोड़ना होता है। जाति, कुल, वंश-मर्यादा—ये ठोस बातें हृदयकी अमूर्त भावनाओंसे तौलने पर यहाँ भारी उतरती आई हैं और न जाने कब तक भारी उतरती रहेंगी। तो फिर विकल होनेके क्या मायने? सुनयना उसकी नहीं हो सकती—यह सत्य कड़वा है, कठोर है, मनको अच्छा नहीं लगता। पर मनको जो अच्छा नहीं लगे वह क्या मिट जाता है, और मनको जो अच्छा लगे वह क्या हो जाता है?

दबे पाँव आकर सुनयना अपने पलंग पर बैठ गई। पीछे-पीछे आकर नौकर चायका सामान प्रदीपके सामने जमा गया। प्रदीप प्यालेमें पानी ढालकर चाय बनाने लगा। देखा कि एक ही प्याला है।

"तुम चाय नहीं पिओगी?"—उसने सुनयनासे पूछा।

"नहीं।"—परिमित-सा उत्तर मिला।

प्रदीप बिना आगे बोले चाय पीने लगा।

"कुछ पुस्तकें मिलीं आपको?"—सुनयनाने पूछा।

"हाँ। मुँशीके ऐतिहासिक उपन्यास निकाले हैं। तुम इनमेंसे कोई पढ़ तो नहीं रही हो?"

"नहीं, आप सब ले जा सकते हैं।"

"तुमने पढ़े होंगे। कैसे हैं? सुना है मुँशीने गुजरातके इतिहासको सजीव बना डाला है।"

"नहीं मैंने तो नहीं पढ़े। आप लाए थे, तबसे योंही रक्खे हैं।"

"तुमने तो बड़े चावसे मंगाए थे।"

"पर वह चाव टिका नहीं। मुझे वसी फ़ुर्सत भी नहीं मिली।"

"फ़ुर्सतको तुम करती ही क्या हो ?"—प्रदीपने हँसकर कहा।

"सोचती रहती हूँ।"

"क्या सोचती रहती हो ?"

"आप क्या करेंगे जानकर ?"

"शायद तुम्हारी कुछ मदद कर सकूँ ?"

"और मैं यदि कह दूं कि मुझे आपकी मदद नहीं चाहिए ?"

प्रदीप अप्रतिभ-सा हो गया। सुनयनासे ऐसा उत्तर पानेकी आशा नहीं थी। वह चुपचाप अपने प्यालेकी चाय पीने लगा।

"आप तो, देखती हूँ, बुरा मान गए।"—सुनयनाने कहा।

"नहीं, बुरा माननेकी कोई बात नहीं। अपने मनकी यदि तुम न बताना चाहो तो किसीका क्या ज़ोर है ?"

"आप क्या सचमुच मानते हैं कि आपका मुझ पर कोई ज़ोर नहीं ?"

"मेरा क्या ज़ोर हैं ?"

"खूब सोचकर देखिये।"

"तुम मुझे क्यों बना रही हो, सुनी ?"

"यह आपका अन्याय है। मैं भला आपको क्यों बनाने लगी ?"

"सो तो तुम्हीं समझ सकती हो ?"

सुनयना चुप रही। प्रदीप अपना प्याला समाप्त करके सिगरेट सुलगाने लगा।

"देखिए, मेरे सामने विवाहकी समस्या आई है। बताइए आप मेरी क्या मदद कर सकते हैं?"—सुनयनाने सीधी चोट कर डाली।

"विवाहमें समस्या कैसी? विवाह तुम्हें करना है। कर डालो।'

"जी, बस गुड्डा-गुड़ियाका खेल है ना। रचा डालो!"

"और नहीं तो क्या है?"

"आपके कहने भरसे हो गया व "

"नहीं, तुम्हीं विचारकर देखो। इस देशमें विवाह और क्या हो सकता है?"

"जो होना चाहिये सभी हो सकता है।"

"अच्छा। तो तुम्हें बधाई दिए जाता हूँ, सुनयना देवी।"—कह कर प्रदीप खड़ा हो गया

वह अपने स्थानसे हिली नहीं। अत्यन्त धीर संयत, स्वरमें बोली—

"मैंने आपके मतसे सहमत होनेमें आनाकानी की, क्या इसीलिये आप नाराज होकर जा रहे हैं?"

"नाराज होकर जा रहा हूँ, यह तुमने कैसे मान लिया?"

"नहीं तो यह 'सुनयना देवी' के क्या मायने? आप तो मुझे 'सुनी' कहते आए हैं।"

"अब भाई आदत बदल डालनी चाहिए। तुम पत्नी बनने वाली हो। कोई नाराज हो सकता है?"

"मेरे पतिके विषयमें बड़ी ओछी धारणा है आपकी!"

"कोई भी पति अपनी पत्नीके साथ किसी दूसरे पुरुषकी आत्मीयता सहन नहीं कर सकता।"

"आपको मैंने जो पत्र लिखा था, सो क्या आपको याद नहीं !"

प्रदीप समझ नहीं सका। सुनयना फिर बोली—

"आपको 'भैया' कहकर जो पुकारा था, उसके क्या कोई मायने नहीं ?"

"नहीं, कोई मायने नहीं।"

"यदि मैं मायने देना चाहूँ ?"

"मुझे नामंजूर है। यह एक-तरफा फैसला मैं नहीं मान सकता।"

सुनयनाने कुछ उत्तर नहीं दिया। प्रदीप भी किंकर्त्तव्यविमूढ़-सा खड़ा रहा।

"चलिए आपको नीचे तक पहुँचा आती हूँ।"—सुनयनाने उठते हुए कहा।

"नहीं, मैं चला जाऊँगा।"

"आज जीनेकी बत्ती खराब है। आपको टार्च दिखाये देती हूँ।"

"यह काम तो नौकर भी कर सकता है।"

"पर मैं स्वयं जो करना चाहती हूँ। आप क्या मेरा हाथ पकड़कर कह सकेंगे, नहीं। बोलिये कह सकेंगे ?"

जीनेमें सुनयनाने टार्च जलाई। प्रदीप आगे था, वह पीछे।

सहसा प्रदीपके रक्तमें आग लग उठी। उसका जी चाहा कि सुनयनाको एक बार बाहू-पाशमें भर, उसकी आँखोंमें आँखें डालकर, उसके होंठ चूम ले और उसके साँसमें अपनी साँस डुबाकर फुसफुसाए।

"सुनी, मैं तुमसे प्यार करता हूँ। तुम एक बार कुनमुन दो 'प्रदीप, मैं तुमसे प्यार करती हूँ।' एक बार कुनमुना दो। मैं चला जाऊँगा। फिर किसी दिन लौटकर तुम्हारा दरवाज़ा देखूँ, तो तुम मुझे नफ़रत करनेका अधिकार पा जाओगी। मैं तुम्हारे रास्तेमें और नहीं आऊँगा। तुम एक बार कुनमुना दो, 'प्रदीप मैं तुमसे प्यार करती हूं।' मेरा प्यासा प्यार मेरे हृदय में कांटा-सा खटकता है। तुम्हारा एक चुम्बन, एक आलिंगन, दो शब्द, मेरा कांटा निकाल देंगे। मैं जीते रहनेके योग्य हो जाऊँगा। तुम एक बार कुनमुना दो, सुनी, 'प्रदीप, मैं तुमसे प्यार क.ती हूं'।"

सहनमें पाँव पड़ते ही जीनेकी अन्तिम सीढ़ी पर खड़ी सुनयना बोली—

"देखिए।"

प्रदीपने मुड़कर उसकी ओर देखा। सुनयनाकी आँखोंमें आँसू थे, मुख पर वही चिर-परिचित बेबसी। वह बोली—

"मैंने आपका जी दुखाया है। क्षमाकर दीजियेगा।"—और साथ ही साथ मुड़कर वह ऊपर चली गई।

प्रदीप बाहर निकल कर अपने निवास-स्थान, की ओर न जाकर, शहर के बाहर चल दिया।

२८

तुर्कमान दरवाजेसे निकलकर प्रदीप सीधा राजघाटकी ओर चल दिया। नई दिल्ली जानेको उसका जी नहीं चाहा। वहाँकी जगमगाहट और चहल-पहल उसके ताजे घाव पर नमक छिड़क देगी। वह तो कहीं अँधेरेमें मुँह छुपाना चाहता था, जहाँ वह अकेला बैठकर दो घड़ी रो ले और कोई आँसू पोंछनेके बहाने उसे नादान, पागल न कहने पाए। कृष्ण-पक्षकी रात थी। बादलोंके साथ आँख-मिचौनी खेलता हुआ चाँद आज उसका परिहास नहीं कर पाएगा। अनन्त आकाश पर टिमटिमाते तारे तो रोने वालेके साथ सुबकियाँ लेने लगते हैं। उनकी महफ़िलके सामने बैठकर प्रदीप अपनी छातीमें उलझे तूफ़ानको आँखोंके रास्ते बहा देगा। और मानव कर ही क्या सकता है?

सच, मानव कर ही क्या सकता है? वह कितना लघु, अल्प, अकिंचन, निर्बल, लाचार है। ब्रह्माण्डके आँगनमें अनवरत, अथक गतिसे घूमने वाले असंख्य नक्षत्र-ग्रह न जाने मानवकी पृथ्वी पर क्या प्रभाव डालते हैं? मानवको उन सब क्रियाओं-प्रतिक्रियाओंका शिकार होना पड़ता है; किन्तु उनमें से समझ पाता है एक-दो। स्वयं उसकी पृथ्वी ही कितनी भेद भरी है, कैसी अनबूझ पहेली। कहते हैं इसकी छातीमें आग भरी है, दहकते अँगारे, जो किसी दिन भी लावेसे बह कर मानवके नगर, गाँव, हाट, बाजार, घर-खेतको दक्ष-यज्ञमें परिणित

कर सकते हैं। इस डायनकी छाती पर उभरे हुए, तन कर खड़े ये जो अनेक पर्वत, सीधे, साधे, मौन, निरापद दीख पड़ते हैं—इन्हींमेंसे न जाने कौन कब आफ़तका परकाला बन जाए। शान्त, धीर, कलकल गतिसे बहने वाले ये नदी-नाले आज हमारी धरतीको सींचते हैं, हमारे हजार काम आते हैं। पर इनका विश्वास क्या? किसी दिन भी ये एक प्रलयकारिणी बाढ़ बन कर मानवके सारे पसारेको निगल बैठें! यह समुद्र, जो इतना गम्भीर, आत्मनिष्ठ, आत्मतुष्ट होनेका आभास देता है, किसी दिन भी उफ़ल कर थल को जल बना दे और मानव और उसके ये सारे सरो-सामान तिनकेसे तैरते फिरें। यह मन्थर गतिसे बहने वाला वातास, जो मलयानिलका नाम पाकर इठलाता फिरता है, किसी समय भी आँधी, तूफ़ान, झञ्झा बनकर मानव-जीवनके सारे प्रपञ्चको एक टिमटिमाते दीपक-सा बुझा सकता है। और यह आकाश—निर्दोष, निर्लिप्त, निरीह-सा दीख पड़ने वाला अनन्त, असीम, नीला आकाश—पलक मारते वे बिजलियाँ गिरानेकी क्षमता रखता है कि जिनसे चराचर झुलस कर राख-सा दिशाओंमें उड़ता विलीन हो जाए।

विज्ञान कहता है कि समस्त सौर-मण्डल, पृथ्वी, आकाश, जलवायु, कुछ शाश्वत लौह नियमोंकी शृङ्खलामें बँधे हैं। वे विचलित नहीं हो सकते। उनके बहक जानेके डरको मनसे भुलाकर मानव अपने कार्यमें लगा रह सकता है!

किन्तु इस विश्वासका क्या आधार है, क्या गारण्टी है? हो सकता है कि यह विज्ञानका सारा पसारा आद्योपान्त मानवके भ्रमकी भूल-भूलैयाँ से अधिक कुछ नहीं हो। आज तक जो देखने, सुनने, समझनेमें आया

उसीके आधार पर विज्ञानका महल खड़ा है। आने वाले कलकी एक घटना, विश्रृङ्खलाका एक झोंका, इस महलको बच्चोंके घरोंदे-सा बिखेर दे। कौन कह सकता है?

पर छोड़ो ब्रह्माण्डकी बातें, भूलो जड़ संसृतिकी राम-कहानी। मानवका अपना संसार क्या कम ऊटपटांग और ऊल-जलूल है। प्रत्येक व्यक्तिको खाना-पहनना, घर-गृहस्थी चाहिये और इन्हीं समस्याओंको सुलझानेमें वह दिन-रात लगा रहता है। पर न्यूयार्कके स्टाक एक्सचेंज में उठने वाला एक हलका-सा बवण्डर अनजानेमें लाखों-करोड़ों स्त्री-पुरुषोंको बेकार बनाकर सड़क पर निकाल देता है, हजारों घरोंके चूल्हे बुझ जाते हैं, वहां दीप नहीं जल पाते, उनके छोटे-छोटे बच्चे एक घूँट दूध और एक कौर रोटीके लिए बिलख-बिलख कर प्राण दे देते हैं। कुछ लोग यदि समझाने जाते हैं कि हमें अपने संसारकी व्यवस्था बदलनी चाहिये, तो उनको डाकू, लुटेरा कहकर जेलोंमें ठूँस दिया जाता है। सारे देशोंमें कुछ पागल लोग झूठ, बेईमानी, गुण्डागदीसे अधिकार जमाकर संसारको युद्धकी आगमें झोंक देते हैं। आसमानसे बम बरसते हैं, धरतीका सीना छलनी हो जाता है—कीट-पतङ्गोंकी तरह स्त्री, पुरुष, बच्चे-बूढ़े मरकर मनुष्य-जीवनकी श्रेष्ठताको झुठला जाते हैं। क्रान्तिका रुँधा हुआ स्वर आक्रोश बनकर उठता है—शहरोंकी तङ्ग, तारीक, सड़ी गलियोंमें और घूरेसे गाँवोंमें रहने वाले नंगे, भूखे, नरपशु, मटमैले मजदूर-किसान ताण्डव मचाते हैं, जिसमें राजा, रानियां, नवाब, सरकार, महल, उपवन छिन्न-भिन्न होकर धूलमें लोट जाते हैं।

भूकम्प, झन्झा, बाढ़, महामारी, दुर्भिक्ष, महायुद्ध, विप्लव—क्या-

क्या गिनाया जाए, श्रुति-स्मृतिकी रूढ़ियोंसे बाहर निकलकर विचार करते ही अखिल विश्वमें भयानक विकलता, अशान्ति, असन्तोष, हलचल, हगामा भरा मिलता है। कुछ भी नहीं ठहरता, सब मिटता रहता है, बह जाता है, खो जाता है! जहाँ विशाल-काय, उत्तुंग गिरिशिखर थे, वहां आज अथाह सागर लहराता है, जहाँ असीम अगाध जलका साम्राज्य था, वहाँ आज वैसा ही निस्सीम मरुस्थल फैला है! बड़ी-बड़ी सभ्यताओं, संस्कृतियोंका उदय हुआ, कला, कौशल, धर्म, नीतिकी सकरी पगडण्डियां बढ़ते-बढ़ते राजमार्ग बन गयीं, साम्राज्योंका उत्थान और विस्तार हुआ—मिस्र, मेसोपोतामिया, सिन्धु, ग्रीस, ईरान, रोम, मगध—जहाँ सुवर्णके प्रासादोंमें, सोनेसे शरीरवाली अप्सराओंके मदिर-कटाक्ष, कोकिल कण्ठ, सरस चुम्बन, गाढ़ आलिंगन और कोमल, लजीले अभिसार आज भी संसारके अनेक महाकाव्योंमें अपनी तीखी, मधुर स्मृति फड़का जाते हैं। पर अचानक इधरसे, उधरसे, आँधी-सी घिरी और पलक झपकते ये सारे नर्तन-गायन क्रूर क्रन्दनमें रूपान्तरित हो गए। क्यों? कोई उत्तर नहीं देगा?

प्रदीप बेला रोड पर बढ़ा जा रहा था। उसकी चालमें आलस-सा, भारीपन-सा भरा हुआ था, जैसे कि शरीर अनिच्छासे प्राणोंका बोझ ढो रहा हो। दोनों हाथ कन्धों परसे बेबससे झूल रहे थे, जैसे उनके करनेको कुछ न बच रहा हो। और मुख पर फैली थी एक व्यंगभरी मुस्कान जो सारे विश्वको चुनौती देकर ललकार रही थी—सब दिखावा है, आडम्बर है, थोथा फसाड। विश्वासका बल, श्रद्धाकी प्रेरणा, अहितका भय, हितकी आशा, आकांक्षा—सब धोखा है, आत्मवञ्चना है। शून्य है सब, अर्थ-

हीन, निस्सार, निरंकुश शून्य, एकमात्र, अकेला शून्य। शून्य, शून्य, शून्य......!

बेहद थक कर वह सड़कके नीचे बने छोटेसे पुलके कंगूरे पर बैठ गया। पीठ पीछे एक बीहड़ मैदान पार करके लाल किलेकी पिछली दीवार थी, जिसके साथ-साथ बने शीशमहल, दीवानेखास, शाहबुर्ज और गुसलखाना तारोंके जुगनूँ-प्रकाशमें किसी प्रकार अपने मर्मर शरीरोंकी फीकी पड़ी शोभाको ढकते, छुपाते लाजसे धंसे जा रहे थे। दीवानखासके भीतर सोनेके अक्षरोंमें लिखा "अगर फिर्दौस बररूए जमीं अस्त। हमीं अस्तो, हमीं अस्तो, हमीं अस्त" आज अन्धेरेमें डूबा, चिमगीदड़ोंके बेसुरे चीत्कारमें वे दिन याद नहीं कर पा रहा था, जब कि वहांकी वायुमें बहता इतर और पायलका शब्द उसे सार्थक किया करता। सामनेकी ओर जमना तटका छोटे-छोटे कांटेदार पेड़ोंसे भरा जंगल फैला था, जिसमेंसे उठनेवाली गीदड़ोंकी आवाज उधरसे बह कर आनेवाली वायुको मानों निदारुण शोकसे बोझिल किए दे रही थी। कोई दो फर्लांग उत्तर- पश्चिममें बड़े पुलकी छाया मूर्ति पर टकी बिजलीकी बत्तियां चारों ओर फैले अन्धकारको और भी गहरा किए जा रही थीं। भयानक सुनसान, नितान्त एकाकीपन, शाहबुर्जसे बार-बार निकलनेवाली उल्लूकी निर्मम निनाद मानों संसारके इतिहासमें भरी बीभत्स ट्रेजरीका सतत स्मरण करा रही थी। यह था सत्य—नग्न, क्रूर, कंटकाकीर्ण। हाय रे मानवके स्वप्न!

उत्तुंग गिरिकी कोखसे गिरनेवाले अबाध झरने-सी प्रदीपकी विचार-धारा अपने बलसे बही जा रही थी और उसके उत्पातमें पड़ कर प्रदीपका

मानस कहीं पांव टिकानेको स्थान नहीं पा सका। सुनयनाके लिए उसके हृदयमें इतना अगाध प्यार भरा था, यह आज उसने मानों पहले-पहल जाना। वह प्यार आज उस लड़कीने, सब कुछ जान-बूझ कर भी, इतनी मौन, शीतल मुद्रासे ठुकरा दिया। क्यों? क्या वह प्रदीपसे प्यार नहीं करती? करती है। निश्चय करती है। प्रदीपका मन गवाही देता है, उसके प्राण पुकार-पुकार कर कह रहे हैं। इतना बड़ा प्यार कभी प्रतिध्वनित हुए बिना नहीं रह सकता। तो क्यों नहीं उसने दो शब्द कह डाले, क्यों इतने दुरावका ढोंग किया? क्यों? क्यों? क्यों?......

वे दोनों एक-दूसरेसे प्यार करते हैं, एक-दूसरेको पाकर सुखी होंगे, एक-दूसरेके बिना दिन रोते-कलपते बीतेंगे—तो क्यों नहीं वे अपने प्यारका दावा करते, क्यों होठों तक आई पुकारको बार-बार गलेके नीचे उतार लेते हैं? क्या है जो उनके पाँव बांध लेता है? क्यों नहीं वे हृदयके बताए पथ पर सीना तान कर बढ़ जाते? क्यों नहीं सुनयनाने प्रदीपका हाथ पकड़ कर कह दिया—"प्रदीप, मैं तुम्हारी हूं। तुम्हारे बिना मैं नहीं जी सकूँगी। तुम आओ, सब कुछ छोड़ कर आओ। तुम्हें कोई कुछ कहे, कुछ समझे, तुम मत रुको। तुम बढ़े चले आओ। चिन्ता कैसी, भय किसका—ओछी बातें हैं। हमारे प्यारमें डूब कर सब बह जाएगा। तुम चले आओ, प्रदीप!" क्यों नहीं प्रदीपने सुनयनाके आगे अपना हृदय खोल कर रख दिया—"सुनी, सिर ऊपर उठाओ, मेरी आँखोंमें आँखें डालो। मेरे फैले हुए हाथ तुम्हारा आवाहन करते हैं, इनकी अवहेलना मत करो, चली आओ मेरे आलिंगनमें। मेरी छाती पर सिर टिका कर मेरे दिलकी धड़कन तुम सुन पाओगी। मेरा एक हलका-सा

चुम्बन मेरे मुँह खोलनेसे पहले ही मेरे मनकी बात तुम्हें बता देगा। भूलो भी मर्यादा। ये मनुहारें कैसी? संयमकी बाधाएँ मिथ्या हैं। तुम मेरे हाथोंमें अपने आपको सौंप दो। तुम्हारा प्यार तुम्हें मुझमें विश्वास करनेकी प्रेरणा देगा। सिर ऊपर उठाओ, सुनी!"

वे दोनों कुछ नहीं कर सके। दोनोंका प्यार दोनोंके सीनेमें घुट कर सिसकता है। क्यों? किसलिए?

प्रदीप सोचने लगा—"नहीं, ऐसा नहीं होने दूंगा। सुनयनासे जाकर कहूँगा—'सुनी, मेरी भूल थी जो मैं चुप साधे रहा। मैं आशा करता रहा कि तुम कुछ बोलोगी। शायद तुम आशा करती रही हो कि मैं कुछ बोलूँगा। दोनों ओरसे नासमझी थी। पर अब इस मौनको भंग करो, सुनी। तुम एकबार हां कह दो। मैं घर-बार, लोक-लाज सब कुछ छोड़ कर तुम्हारे पास चला आऊँगा। तुम बोलो तो'।"

नवम्बरकी अन्तिम रात थी। दस बज गए होंगे। वायुमें शीत बढ़ता जा रहा था। प्रदीपके शरीर पर गरम कपड़े नहीं थे। एक कमीज और पतलून पहन कर ही वह घरसे निकला था। पुल पर घड़-घड़ाहट हुई। तेज प्रकाशकी एक मोटी धारसे अन्धियारेकी छाती चीरती, सीटीके चीत्कारसे सन्नाटेको सहमाती, रेलवे ट्रेन पश्चिमसे पूर्व चली गई।

प्रदीप उठ कर सामनेके कंगूरे पर जा बैठा। अब यमुना उसके पीठ पीछे थी और लाल किलेका पिछला भाग उसके सामने। उसका मन कुछ हलका था। वह निश्चय कर चुका था। कल प्रातःकाल ही जाकर सुनयनाके आगे आत्मनिवेदन कर देगा। फिर···फिर······

सपनों की झड़ी लग गई। सामने वीरान पड़ा लाल किला अब वीरान नहीं रहा। शीशमहल, दीवानेखास, शाहबुर्ज, गुसलखानेको वर्तमानसे खींचकर प्रदीप सत्रहवीं शताब्दीमें ले गया। उस समय वहां चिमगीदड़ नहीं मंडराते थे, उल्लू नहीं बोलते थे। उस समय वह नन्दन-कानन था। शीशमहलमें रात भर मुहब्बतके जशन हुआ करते। शीराज़ी शराबके चश्मे बह जाते, रक्स करनेवालियोंके नीम बरहना जिस्म संगेमर्मरके फर्श पर चकाचौंध मचा देते, मौसीकीकी शैदा दोशीजाएं अपनी नाजुक उंगलियोंसे सितारके तारोंमें रूह फूँकती, अपने मीठे नग़मोंसे चलती हवाको रुक कर सुनने पर मजबूर करतीं। और नौजवान जोड़ियां, एक-दूसरेको अपनी आग़ोशमें भर कर, आँखों-ही-आँखों में मुहब्बतकी मंजिलें पार करतीं चलीं जातीं। वे दिन चले गये, वे रातें लौट कर नहीं आयंगी। शीशमहल सूना है। दीवानेखासमें ईरानी कालीन नहीं, रेत बिछा है और न आशिक माशूक़ एक-दूसरेके हाथमें हाथ डाल कर रातके पिछले पहरोंमें दिलके बलवलोंको शाअरीकी शक्ल देते टहलते हैं। शाहबुर्ज खाली पड़ा है। आज वहां तारोंकी ला इनतहा कन्दीलोंकी मद्धम रौशनीके नीचे, रात-रात भर दिलके अरमानोंको ज़बान देनेसे आज़िज, दो जिस्म एक-दूसरेसे लिपट कर नहीं बैठते। गुसलखानेमें आज वह चिराग़ नहीं जलता, जिसकी गरमीसे इन ठण्डी रातोंमें जमनाका नीला पानी ठिठुरना बन्द कर देता था, इतरके फव्वारे नहीं चलते और उन हीरे-जवाहरात जड़े हौजोंमें जवानीके शबाब से लबरेज़, बरहना जिस्म मछलीसे बेपरवाह तैरते नहीं फिरते। ये सब कलकी बातें है, कल जो चला गया और जो फिर लौट कर नहीं आएगा।

पर इसी लिए तो आजको सच नहीं माना जा सकता। कलके मुकाबलेमें आज तो एकदम झूठ है। यह सन्नाटा, यह चिमगीदड़ों और उल्लुओंका कोहराम, यह पजमुर्दगी सच नहीं हो सकती। मौतमें कोई सचाई नहीं। जिन्दगी……

कल्पना फड़फड़ाई, तसव्वुरने पहलू बदला। प्रदीपको याद आया कि इन्हीं शाही महलातमें न जाने कितनी शाहजादियां अपनी जवानीको आँसुओंमें उड़ा देने पर मजबूर हुईं। बुलबुल और कोकिलने, पपीहे, बादल और चाँदने सदा उन पर सितम ढाया। उनकी छातियोंमें सुलगती आग उन्हें तिल-तिल करके जलाती रही, प्यासे होठोंने सिर्फ अपना खूनेजिगर पिया, मदमस्त आँखोंमें सपने बस-बस कर उजड़ गए। वे शाहजादियां थी, हां, बादशाह और मलिकाकी मुहब्बतका मीठा फल। लेकिन उनका अपना जीवन सरस नहीं हो सका, खारे आंसू और ठण्डी, तल्ख आहें ही उनका साथ निभाती रहीं। यौवन फूला, दिलमें अरमानोंने अंगड़ाई लीं। चीनसे आए हुए हल्के रंगोंके बेबहा सिल्कमें लिपटे हुए जिस्म तनहाई महसूस करने लगे। इतर में बसीं, फूलोंसे लदीं उनकी काली कोमल जुल्फें नागिन-सी चोट करना चाहतीं थीं। अंगूरी शराब उनकी प्यास न बुझा सकी, नाच, गान, शाअरी, अफसाने उनके दिलको न बहला सके और दिलकी जो तमन्ना थी, वसलकी जुस्तजू—उसका पूरा होना तो दरकिनार, वे जबान खोलकर कह भी नहीं सकती थी कि उनको क्या चाहिए। क्यों? वे मुगल शाहंशाहोंकी दुख्तरें थीं, दुनियाके परदेपर किसी मर्द को उनकी जिन्दगी में दाखिल होनेका हक्क नहीं था। शाहंशाहे हिन्द किसीका साला कहलाए, ससुर

उसे अपनानेके लिए निस्सन्देह त्याग करना पड़ेगा। वह धनवान घरकी बेटी है। सुखचैनमें जन्मी, पली, जीवनके पार्थिव साधनोंको परिपूर्ण मात्रामें पाकर ही जीना सीखी है। सबके बदलेमें प्रदीप उसको क्या देना चाहता है? प्यार······प्यार। सुननेमें शब्द अच्छा है। प्यार······प्यार। दिलमें गुदगुदी मचाता है, रोम-रोममें माधुर्यकी लहर दौड़ जाती है। पर प्यारको खाली शब्द मानकर नहीं चला जा सकता। प्रदीप सुनयनासे प्यार क्यों करता है? क्योंकि वह नारी है। नारियाँ तो अनेक हैं। सुनयना सुन्दर भी नहीं। शिक्षिता है, पर और कई शिक्षिता नारियोंको वह जानता है। तो फिर किस लिए?

कोई ऐसा आदर्श नहीं जिसके वे दोनों साथ-साथ दीवाने हों, कोई ऐसा आराध्य नहीं जिसकी एक साथ वे पूजा करते हों, कोई ऐसा पथ नहीं जिसपर एक साथ, हाथमें हाथ डाल, पांव बराबर पांव, कन्धेसे कन्धे मिला उन दोनोंको चलना हो। अब दूर-दूर हैं, एक दूसरेके लिए तड़पते हैं, मिलनकी आकांक्षा मात्र ही उद्देश्य बन चली है। पर जिस दिन मिलकर एक हो जाएंगे, उस दिन? उस दिनकी कौन कह सकता है? वे प्यारकी बातें जो अब दोनोंके सीनोंमें सिर छुपाए पड़ी हैं, शायद आध घण्टेमें समाप्त हो जाएं। एक, दो, तीन, चार—शायद पाँचवें चुम्बन में मिठास कम पड़ने लगे। आलिंगन अजस्र नहीं हो सकते, अभिसार भी नहीं। उसके बाद?

सुनयना रहनेके लिए घर मांगेगी—अपने पिता जैसा प्रासाद नहीं तो एक दो-तीन कमरेका फ्लैट अवश्य। वह अपने हाथसे खाना नहीं पका सकेगी, बर्तन नहीं मांजेगी, कपड़े नहीं धोएगी, न झाड़ू देगी, न

बिस्तर बिछाएगी। घरमें ज्यादा नहीं, बढ़िया भी नहीं, फिर भी फर्नीचर, क्रॉकरी सुनयनाको चाहिए। साड़ियाँ, ब्लाऊज, रूमाल, गरम कपड़े, ट्वायलेट का सामान—सभी मांगेगी वह। सिनेमा, थियेटर, घूमना, घरके बाहर रेस्तरांमें खाना पीना, शॉपिंग—सब जरूरी है सुनयनाके लिए! और ब्याह के बाद प्रदीप एक दिन भी उससे अलग नहीं हो सकेगा—वह रो-रोकर बावली हो जाएगी।

प्रदीप सिहर उठा।

किन्तु दूसरे क्षण ही उसका मन चीत्कार करने लगा। प्यारके सम्बन्धमें यह हिसाब-किताब व्यर्थ बकवाद है। प्यार सार्थक नहीं हो सकेगा, नहीं हो। उसका विश्लेषण करके खोद निकालनेके परिश्रमके क्या मायने। वियोग भी इतना ही सत्य है जितना कि अभिसार। जो जिसके हिस्से आता है, वही लेकर उसे जीना होता है। भागनेके मायने हैरान होना है। भागकर वह कहाँ जाएगा। आँसुओंको पलकोंमें संभालो। भीगी आँखोंसे मुस्करा दो।

प्रदीप वेदनासे सराबोर हो गया। वह उठा और धीरे-धीरे चल दिया।

दरीबेमें किसीका दर्द भरा स्वर गा रहा था—

'संसृतिके प्रत्यावर्तनमें मेरी मिट्टीकी क्या बिसात।'

प्रदीस सोचने लगा। जो भावना विचारके बलपर नहीं खड़ी होती, विचारसे पनपती नहीं, शक्ति प्राप्त नहीं करती, बल्कि विचार का गला घोंटनेपर उतर आती है, उसमें अवश्य कुछ दोष है, अवश्य कुछ मिथ्या है। शब्दोंका थोथा तूफान उठाकर बावले बननेके कोई मायने नहीं।

३०

प्रदीपने अगले दिन ही दिल्ली छोड़ देनेका निश्चय कर लिया। वास्तवमें दिल्लीमें रहनेका साहस उसे नहीं जुट रहा था। भावनाके जिस दुरूह अन्धड़पर उसने इतनी कठिनतासे विजय पाई है वह फिर उठ सकता है और दूसरी बार शायद प्रदीप उसे संभाल न पाए। उसका भाग निकलना ही श्रेयस्कर है—सुनयनाके लिए, उसके अपने लिए और उन दोनोंके प्यारके लिए।

गाड़ीमें प्रदीपके मनके भीतर वही द्वन्द चल रहा था—उसने जो किया सो क्या ठीक किया? विचार और विवेकको उसने साथी बनाया, भावनाके तूफानमें वह नहीं बहा। जीवनमें विचार और भावना दोनों ही व्यक्तिका पथप्रदर्शन करती हैं। बहुत बार विवेक काम नहीं देता, रास्ता नहीं बता पाता तो भावनाके बलपर ही मनुष्य आगे बढ़ जाता है। बहुत बार भावना इतनी अन्धी, संकुचित और संकीर्ण होती है कि व्यक्तिके हृदयमें आशा, विश्वास, ओज और उत्साह नहीं, भय, विकलता और आक्रोश भरता जाता है। उस समय विचारकी लाठी हाथमें थाम, पद पदपर पानीकी थाह लेता, मनुष्य अपना रास्ता निकालता है।

किन्तु ऐसा भी होता है कि मनकी दुर्बलताको आदमी विचारसे ढककर छुपा डाले, कोई काम करनेका साहस नहीं हो इसीलिए उस कामको अनुचित मान बैठे। प्रदीपने जो अपने प्यारका दावा नहीं

किया—वह ऐसी ही कमज़ोरी भी तो हो सकती है। वह विवेककी प्रेरणासे नहीं; भयसे भागा हो!

सुनयनाको अपने जीवनमें खींच लाना अथवा अपनेको उसके जीवनमें ढकेल देना—कोई बड़ी बात नहीं। त्याग और बलिदानकी भावनासे व्यक्तिको जो सन्तोष, स्वाभिमान मिलता है वह उसे नहीं मिल सकेगा। शायद रह-रहकर उसका मन कहता रहे—"प्रदीप तू स्वार्थ साध रहा है। अगर तेरे दिल में सुनयनाके प्रति प्रेम है और उस प्रेममें कुछ बल है, दृढ़ता है, स्थिरता है तो तू सुनयनाकी हत्या करनेपर कभी नहीं उतारू हो सकता। सचमुच सुनयनाका जीवन अपने जीवनसे मिला लेना उसकी हत्या करना है। नहीं, नहीं, ऐसा तुझे नहीं करना होगा। दिलमें दर्द उठे, तू होठ काटकर मुँह फेर ले, या फिर कहीं अकेलेमें जाकर दो घड़ी रोकर हल्का हो ले। पर सुनयनाको अपने दर्दकी दवा मत समझ, उसे अपने आंसू पोंछनेका रूमाल मत बना। मनुष्य है, पुरुष है—दर्दको झेलना तेरी परम्परा है, तेरी शान है। यदि दर्दमें कुछ गहराई है, गाढ़ापन है, तो उसको एक सर्वतोमुखी आगमें बदल दे जो इस सारे रूढ़िग्रस्त, वर्गबद्ध, हृदयहीन समाजकी होली जलाकर ही बुझे।"

पिंजरेमें बन्द पंछी यही समझता रहता है कि पिंजरेका द्वार खुले तो वह उड़ जाय, अनन्त आकाशमें उड़े, बन-उपवनमें डोले, मन चाहे फल फूलोंका रसास्वादन करे। किन्तु ऐसा भी हो सकता है कि बाहर तूफानों-का मेला हो, जिनके थपेड़ोंसे उसकी पांखें फूट जाएँ और वह ढेलासा धरतीपर आ गिरे। बाहर बन-उपवन नहीं, सीमाहीन मरुस्थल फैला हो,

जिसको उड़कर पार करनेमें सारी शक्ति संजोनेपर भी वह सफल न हो पाए और नीचे जलते बालूमें गिरकर उसको अर्थहीन प्राणोत्सर्ग करना पड़े। पंछीको द्वार खुलनेकी बाट नहीं जोहनी चाहिए। उसको चाहिए कि साधना करे, अपने पंखोंमें बल संजोए—ऐसा बल, ऐसा संयम कि समय आनेपर वह पिंजरेकी तीलियाँ तोड़कर अपनी आजादी प्राप्त कर सके। पिंजरेमें बन्द रहनेके कोई मायने नहीं, किन्तु पिंजरेका द्वार खुला पाकर उड़ जाना भी शूर-वीरता अथवा विवेकका परिचायक नहीं। जाना चाहते हो तो पिंजरेकी तीलियाँ तोड़कर जाओ, पिंजड़ेकी सत्ता मिटाकर जाओ। पिंजरा पीछे छोड़कर जाना कायरता है, स्वार्थपूजा भी। कल उसमें कोई और आ फँसेगा। पिंजरेको तहस-नहस करके जाओ। और जो पंख पिंजरा तोड़ सकते हैं, वे तूफानोंका भी सामना करेंगे, मरुस्थलको भी उड़कर पार करेंगे बस यही तो। और क्या?

रोहतकमें घर पहुँचते-पहुँचते प्रदीपको दस बज गए। मन थका था, सोनेको जी चाह रहा था। आँखें मींचकर पड़ा रहना चाहता था। किन्तु उर्मिला सिरपर आ खड़ी हुई। उसको कुछ उदास और मांदासा देखकर वह एकाएक कुछ नहीं बोल पाई। काठकी छोटीसी चौकी खींचकर बैठ गई।

प्रदीपने पूछा—"क्या बात है, उर्मि!"

"कुछ भी नहीं।"

"वहाँ बैठना था तुम्हें। मेरे पास क्यों चली आई?"

उर्मिलाने कोई उत्तर नहीं दिया। सिर झुकाकर गुमसुम बैठी रही। प्रदीपने देखा कि उसकी आँखोंसे टपाटप आँसू गिर रहे हैं। वह

सहम गया। उर्मिलाका सिर ऊपर उठाया। उसके मुखमें रुआंसी भरी थी, जैसे कि वह फूट-फूटकर रोना चाहती हो। प्रदीपने खींचकर उसे अपने बराबरमें बैठा लिया। पर दूसरे क्षण ही वह उसकी छातीमें सिर छुपाकर सिसकने लगी। प्रदीपको अच्छा नहीं लग रहा था, पर वह चुप रहा। वह बाट जोह रहा था कि उर्मिलाके आँसू पूरे बह जाएँ तो कुछ बातें हों। न जाने क्या बात है। प्रदीपके मनमें एक भय भी हो रहा था। कहीं सुनयनाके प्रति उसके प्रेमका परदा उर्मिला पर न खुल गया हो। नहीं तो इस तरह यह क्यों रोती।

उर्मिला धीरे-धीरे शान्त हो गई। पर उसके आँसुओंने प्रदीपकी छाती भिगो दी थी। प्रदीप पलंगपर एक ओरको हट गया और उर्मिलाको बराबरमें लिटाकर उसकी तरफ देख-देख शीतल भावसे मुस्कराने लगा। उर्मिलाकी आँखें देखकर वह समझ गया कि उसके अपने विरुद्ध कोई बात इस लड़कीके मनमें नहीं है। तो फिर हुआ क्या?

"बात नहीं बताओगी, उर्मिला"—प्रदीप बोला।

"तुमने मुझसे क्यों ब्याह किया।"

"मुझे तुम इतनी अच्छी जो लगती हो?"

"तुम्हारे अच्छा लगनेसे क्या होता है।"

"तो और किसका दावा है हमारी बातोंमें। तुम्हीं बताओ।"

"तुम्हारी माताजी और बड़ी जीजी कह रही थीं कि जिस दिनसे ब्याह हुआ है, एक दिन भी लड़केकी तबीयत ठीक नहीं रही। न जाने कौनसी सत्यानाशी घड़ीमें माथेपर चावल चढ़े थे।"

"तो इसमें बुरा माननेकी क्या बात है। वे तो ब्याहकी घड़ीको कोसती हैं, तुम्हें तो कुछ नहीं कहतीं।"

"सुनो तो। कह रही थी कि लड़कीकी सफेद माटी देखी और मचल गए। जन्मकुण्डली मिलाकर देखना था कि लड़कीका भाग्य कैसा है। सच, मेरा भाग्य ही खराब है। नहीं तो क्यों मुझे किसीकी सुननी पड़ती।"—कहते-कहते उर्मिला फिर सुबकने लगी।

प्रदीप उठकर बैठ गया। वह अभी जाकर माँ और जीजीको फटकार बताएगा। वह बीमार है तो इसमें उर्मिलाका क्या दोष। उर्मिलाको कुढानेके क्या मायने। उर्मिलाको प्रदीपने अपनाया है। वे यदि प्रदीपको अपना समझते हैं तो उर्मिला उनके लिए कभी भी पराई नहीं हो सकती। या तो वे लोग प्रदीपसे स्नेह नहीं करते, स्नेहका ढोंग करते हैं, अथवा उनका स्नेह अन्धा है। उनकी आँखें खोलनी होंगी, उनके कान खोलने होंगे, उनकी जबानको लगाम देनी होगी। वे आयुमें बड़ी हैं, शास्त्र और परम्पराने उनको गुरुजनका स्थान दिया है। किन्तु यदि वे लोग अपनी सत्ताका उपयोग बच्चोंकी तरह करें, निर्दोष किसीपर उंगली उठाएँ तो उनकी वह सत्ता छीन लेनी होगी, वह उंगली काट डालनी पड़ेगी। इस बदतमीजीके क्या मायने?

"कहाँ जा रहे हो?"—उर्मिलाने लेटे-लेटे पूछा।

"कहीं नहीं। अभी आता हूँ।"

"मेरा रहना घरमें दूभर करना चाहते हो तो और बात है। नहीं तो तुम चुपचाप पड़े रहो।"

"पर उन लोगोंको यह सब कहनेका क्या अधिकार था। उनको समझा देना होगा कि आगेसे वे लोग ज़बान सँभालकर बोलें।"

"वे उलटी पड़ जाएँगी। कहेंगी कि उन्होंने कुछ नहीं कहा। मैंने तुम्हारे कान भर दिए हैं।"

"वे कुछ कहा करें। उससे क्या।"

"मेरी बात मानो। तड़पकर कुछ भी करनेकी जरूरत नहीं। जो बात उन्होंने आज मेरे बैठे तुम्हारे पिताजीसे कही है, वही बात तुमसे भी कह देंगी। उस वक्त उनको जो चाहो कह सुन लेना। अब नहीं। मैं हाथ जोड़ती हूँ, तुम्हारे पाँव पड़ती हूँ।"—कहते-कहते सचमुच उर्मिलाने प्रदीप के पाँव पकड़ लिए।

प्रदीप वापिस लेट गया। उर्मिला उसके कन्धेपर अपना सिर रखकर उसकी छातीपर बाएँ हाथकी उगलीसे बार-बार लिखने लगी—"प्रदीप"

"लिखनेसे क्या होता है। मुँहसे बोलो तो समझूँ।"—प्रदीपने मुस्कराकर कहा।

"तुम्हारा नाम भला मैं कैसे पुकार सकती हूँ।"

"क्यों? तुम्हारे मुँहमें क्या ज़बान नहीं है, या 'प र द' का उच्चारण नहीं आता?"

"तुमको जैसे मालूम ही नहीं है!"

"तुम्हारी सौगन्ध, मुझे कुछ भी पता नहीं।"

"स्त्रियाँ पतिका नाम नहीं लिया करतीं। दोष लगता है।"

"क्या दोष लगता है ? और देशोंमें तो सब स्त्रियाँ पतिका नाम लेकर बुलाती हैं। तुम्हारी तरह एजी ओजी करके कान नहीं खातीं।"

"और देशोंसे हमें क्या मतलब। मैं तो अपने समाजकी बात कहती हूँ।"

"पर जानना तो चाहिए कि नाम लेनेमें क्या दोष है। जाओ माँ से पूछ आओ ना।"

"हटो भी। बहुत बड़ी बात है जो माँसे पूछने जाऊँगी।"

प्रदीपने उसका गाल चूम लिया। उर्मिला आँख मून्दे आनन्दसे विभोर हो उठी। दोनों चुपचाप पड़े रहे।

प्रदीप सोचने लगा सुनयनाकी बात। उसके साथ घुलमिल जानेका अवसर तो उसे किसी दिन नहीं मिला। न जाने उसके गालपर एक चुम्बन आँक देनेमें कितना मिठास होगा ? सुनयनासे तो वह प्यार करता है। और उर्मिला से ?

कैसे कह दे कि उर्मिलासे वह प्यार नहीं करता! आज कितने शान्त, सरल माधुर्यमें डूबे दोनों एक साथ लेटे हैं। यौनवासना की गन्ध भी दोनोंके मनमें नहीं। दोनोंका संसार बसा है, समाज सम्मत, शास्त्र सम्मत। उस संसारको वे और सुन्दर, और मनोहर, और सुखप्रद बना सकते हैं। आज उर्मिलाके लिए वह कुछ नहीं कर सकता। वह कुछ मांगती भी नहीं। प्यारके दो शब्द, दो चुम्बन पा जाए तो वह चहक उठती है। कल वह कुछ कमाने लगेगा तो उसको उर्मिलाके

लिए छोटी-छोटी वस्तुएं लानेमें आनन्द आएगा। तबतक घरमें एक नन्हा शिशु आ मिलेगा।

प्रदीपके मनमें भीनी-भीनी गुदगुदी होने लगी।

"अच्छा, उर्मि, मा बननेमें तुम्हे कितने दिन लगेंगे?"—प्रदीपने पूछा।

उर्मिलाने शरमाकर मुँह छुपा लिया। बोली नहीं। प्रदीपने उसे गुदगुदाते हुए कहना शुरू किया।—"मुँह छुपानेसे काम नहीं चलेगा। मां तुम्हें बनना होगा। मेरी तरफ देखो। मैं क्या पूछता हूं। बोलो।"

उर्मिला मुंह छुपाए ही बोली,—"छोड़ो भी। क्यों किसीको तंग किया करते हो। लो मैं जाती हूं।"—और वह सचमुच उठकर जाने लगी।

प्रदीपने खींचकर उसे फिर अपने बराबरमें लिटा लिया। बोला,—

"तुम्हें लड़का होगा या लड़की?"

"मैं क्या जानूँ। कैसी बात पूछने लगे हैं!"

"अच्छा तुम्हें क्या अच्छा लगेगा?"

"मैं तो लड़का चाहती हूँ!"

"क्यों?"

"क्यों क्या। पहली बार लड़का हो तो अच्छा है। लड़कियोंका तो नम्बर लग जाया करता है।"

"नम्बर तो मैं नहीं लगने दूँगा न।"

"ओ। तुम बड़े भगवान जो हो!"

"भगवान इसमें क्या करेगा?"

उर्मिला कुछ नहीं बोली। प्रदीपकी ओर हँसते नयनोंसे देखने लगी। वे आँखें कह रहीं थीं,—"तुम भी खूब पागल आदमी हो।"

प्रदीप बोला—"मुझे लड़का बिल्कुल पसन्द नहीं।"

"लड़के जैसी चीज़ नहीं होती। बुढ़ापेमें बहू लाएगा, कमाकर खिलाएगा।"

"मैं बुढ़ापेकी नहीं सोचता। जवानीके सपने देखता हूँ। लड़कीको उत्तम संगीत और नृत्यकला सिखाऊँगा........."

"तुम्हें सदा कुलच्छन ही सूझते हैं। भले घरोंकी लड़कियाँ नाचती गाती फिरती होंगी?"—बीचमें ही उर्मिला बोल पड़ी।

प्रदीप हँसने लगा। इस लड़कीके साथ उसका कहीं भी मेल नहीं खाता था। फिर भी।

"लड़कीका क्या नाम होगा?"—प्रदीपने पूछा।

"तुम बताओ?"

"मणिकुन्तला कैसा रहेगा?"

"किसीको लेना नहीं आएगा। तोड़-मरोड़कर तुम्हारी माताजी न जाने क्या बना डालेंगी।"

"उससे क्या! नाम सुन्दर चाहिए। कानोंमें जैसे जलतरंग बज उठे।"

"और लड़का हो गया तो?"

इसके पहले कि प्रदीप कुछ उत्तर देता, कमरेका दरवाजा खटखटाते हुए उसके पिताने पुकारा। उर्मिला सिटपिटाकर उठी और घूँघट निकालकर एक तरफ़ खड़ी हो गई।

"दरवाजा खोल दो और तुम चली जाओ, उर्मि?"

भीतर आकर पिताजीने बड़े ध्यानसे प्रदीपको देखा। पलंगके एक किनारेपर बैठकर बड़ी गम्भीर मुद्रासे बोले।

"बीमारीमें बहूका तुम्हारे पास उठना-बैठना तो ठीक नहीं, बेटा !"

"क्यों, क्या दोष है ?"—प्रदीपने स्थिर भावसे पूछा।

"स्त्री तो, बेटा, अच्छे भले आदमीको बीमार बना देती है। तुम तो बीमार हो।"—प्रदीप हँसने लगा। पिताजी फिर बोले।

"मैं आयुर्वेदकी बात कह रहा हूँ। वे लोग सिद्ध थे, बेटा। उनकी बातमें सार है।"

"तभी तो आज भी हम 'ढोल, गंवार, शूद्र पशु नारी' कहकर अपनी समझके दिवालिएपनका नगारा पीटते हैं।"

"बहस जाने दो प्रदीप। मैं उर्मिलाके पिताको कहला भेजता हूँ इसे कुछ दिन अपने पास रख लेंगे। तुम गांव चलो। बड़े वैद्यसे तुम्हारा इलाज कराएंगे। यहाँ पराई जगह पड़ा रहना ठीक नहीं।"

"गांव चलनेको तो तैय्यार हूँ, बापू, पर उर्मिलाको मेरे साथ जाना होगा। अब उसकी जगह पिताके घर नहीं, हमारे घरमें है।"

"नहीं, नहीं। यह ठीक नहीं। तुम्हारी मां कह रहीं थीं कि सारे दिन बहू तुम्हारे कमरेमें घुसी रहती है……"

"घुसी रहती है तो क्या ? मैं कोई गैर तो नहीं।"

"तुम समझते नहीं, बेटा। मैं तुम्हारे भले की कहता हूँ। बहू जवान है, भले बुरेकी नहीं सोच सकती। मेरी बात मानो !"

"मैं एकबार कह चुका कि उर्मिलाको यहाँसे लिए बिना नहीं जाऊँगा,

फिर आप झूठी ज़िद क्यों करते हैं। आप तो जानते हैं कि आसानीसे मेरा हठ बदलता नहीं।"

"तुम्हारी मरज़ी। हमारा तो समझानेका हक़ है। और क्या कर सकते हैं।"—कहकर वे चले गए।

प्रदीप लेटा रहा। उसे क्रोध-सा आ रहा था। ये लोग स्त्री पुरुषके साथ रहनेका एक ही अर्थ लगा पाते हैं—यौनवासनाकी पूर्ति। इनकी आँखोंमें स्त्री की पुरुषके लिए, पुरुषकी स्त्रीके लिए और कोई क़ीमत ही नहीं।

साथ ही साथ प्रदीपको उर्मिलाके प्रति अपने नवीन भावकी भी चेतना हुई। परसों रात वह सब कुछ छोड़कर सुनयनाके पास जानेको कटिबद्ध था। उर्मिलाका विचार तक उसे नहीं आया। और आज…

एकके प्रति प्रेम दूसरेके प्रति अमानुषिक विश्वासघातकी प्रेरणा दे सकता है क्या?

नहीं। फिरसे सोचना होगा, फिरसे समझना होगा। प्रेम मनुष्यत्व की पराकाष्ठा है। मनुष्यत्वकी हत्या करनेसे प्रेमकी पुष्टि कभी सम्भव नहीं।



३०

चार दिन पश्चात् प्रदीप माता, पिता और उर्मिलाके साथ रोहतकसे अपने गाँव चला गया। गाँवमें लोगोंका मत था कि वह बीमार होनेके कारण नहीं, उर्मिलाके साथ रहनेके लिए ही रोहतक चला आया था। प्रदीपने उनके मतका प्रतिवाद करनेकी आवश्यकता नहीं समझी। ये लोग पत्नीमें आसक्त होना गर्हित समझते हैं। समझें। उसको मौनीजी की बात याद आई। उन्होंने कहा था—"नारी नरकका द्वार है।" उस दिन प्रदीपने उनकी बात माननेसे इन्कार किया था, मुँह भी खोला था। पर अब वह चुप किए रहा। किस-किसको समझाए? एक सम्पूर्ण संस्कृतिसे टक्कर लेनेकी बात थी। उस संस्कृतिकी जड़ें लोगोंके मस्तिष्कमें नहीं, उनके भौतिक वातावरणमें थीं। मध्ययुगकी परिस्थितियोंमें आधुनिक युगकी मनोवृत्तियाँ भला क्योंकर जन्म लेतीं।

फिर भी प्रदीपने देखा कि युद्ध की चोटसे गांवका आर्थिक और सामाजिक ढांचा रूपान्तरित होता जा रहा है। सेनामें जानेवाले ब्राह्मण, जाट, तेली, नाई, चमार, कुम्हार सभी समान वेतन पा रहे थे। समान ढंगके कपड़े पहनकर घर आते। छोटी जातोंमेंसे दो चार जमादार और लेफ्टीनेन्ट हो गए। उनकी अवहेलना करना अथवा उनको नीची निगाहसे देखना किसीके लिए सम्भव नहीं था।

गाँवका एक बनिया पटवारी रह चुका था। किसी समय वह जमना पारकी एक कालीसी फूहड़ स्त्रीको अपने साथ लाया था। कहते थे कि वह जातकी धीमर या कहारिन है। पटवारीके दो लड़के और एक लड़की हुई। नौकरीसे रिटायर होनेपर उसने गाँवमें पक्का मकान बनवाया। किन्तु जात बिरादरी वालोंने उसको हुक्का पानी पिलानेसे इन्कार कर दिया। लड़कीका विवाह नहीं हो सका। लड़के मैट्रिक पास करके घरमें बैठ गये, नौकरी नहीं मिली। न जाने किस तरह उनके दिन बीतते थे। अचानक् युद्ध आया। एक लड़केने छोटे-मोटे ठेकोंका काम किया। दूसरा सेनामें क्लर्क बन कर सीलोन जा पहुँचा। पटवारीके घरमें चांदी बरसने लगी। लड़कीकी बरात आई तो लोगोंने देखा कि उधरवाले जात पातसे सोल्हों आने मान-प्रतिष्ठावाले आदमी थे। सीलोन लौटते समय लड़का अपने साथ एक मद्रासिन बहू ले आया, जो काली तो अवश्य थी, परन्तु अंग्रेजी बोलती थी और घूँघट निकाले बिना इधर उधर जाती आती। दूसरे लड़केकी सगाइयाँ आने लगीं, तो पटवारी महाशय हुक्का गुड़गुड़ाते हुए बड़ी सुन्दर उर्दूमें दान-दहेजकी बात चलाने लगे। गाँवके बड़े-बूढ़े ऊपरकी ओर हाथ उठाकर कहते—"कैसा समय आया है!" प्रदीप मन-ही-मन हँसा करता।

एक दिन वह ऊपर धूप ताप रहा था। एक बूढ़ी जाटनी उसके पास आकर बोली—"बेटा यह तार पढ़ दो।"

प्रदीप तार खोलकर पढ़ने लगा। उसके बोलनेसे पहले हीबुढ़िया आँखोंसे आँसू बहाती हुई कहने लगी—

"मेरी माथेकी फूटी थी, बेटा, उसको फौजमें भेज दिया। घर भरा

है मेरा। मुझे कौन रुपयेकी जरूरत थी। जवान बहूको क्या जवाब दूं?"

"पर ताई तेरा बेटा ठीक होकर आ जाएगा। चिन्ताकी क्या बात है?"—प्रदीप बोला।

"आ कहाँसे जायगा, बेटा। मिस्सरके पास पढ़ानेको गई थी। तार देखते ही बोला—'क्या पढ़ूँ, जो होना था सो हो चुका।' बहूकी नई चूड़ियाँ फोड़ते हुए मेरी छाती फट गई, बेटा। मुझे सब्र नहीं आता। यह बता दो उसे हुआ क्या था? तुम्हारा नाम सुनकर आई हूँ। कहते हैं तुम्हारे बराबर हमारे गाँवमें कोई नहीं पढ़ा......।"

प्रदीपकी समझमें नहीं आ रहा था कि बुढ़िया क्या कहे जा रही है। तारमें लिखा था कि सिपाही फूलसिंहको बीमार हो जानेके कारण अस्पतालमें भर्ती कर दिया है। उसके मर जानेकी तो कोई बात उसमें नहीं थी। वह बोला—

"पर तुम्हारा बेटा तो जीता-जागता है, ताई।"

बुढ़ियाके चेहरेको देखते ही बनता था। जैसे किसीने सपना देखा हो कि रातमें चोर उसका सब घर-बार लूट ले गए और जागकर सब वैसा ही पा जाए। बुढ़ियाके मुँहसे बोल नहीं निकला। पर आंखें कह रही थीं—"ध्यानसे पढ़कर देखो। तुम ठीक कह रहे हो क्या?"

"तुम्हें किसीने बहका दिया है, ताई। फूलसिंह सोलहों आने जिन्दा है। कोई भारी बीमारी उसे नहीं है। पेचिशने ज़ोर पकड़ लिया था। आसाममें गया मालूम होता है। वहाँ तो आम तौर पर यह बीमारी हो जाती है।"

बुढ़िया मिस्सरको गाली देती और प्रदीपके लिये भगवानसे सात बेटे मांगती हुई चली गई। जाते समय नीचे प्रदीपकी माँसे कहती गई कि प्रदीपके लिये अच्छे घी की जरूरत पड़े तो औरोंसे वह चार तोले अधिक दे देगी। पीछे पूछताछ करने पर प्रदीपको पता चला कि मिस्सरजी अँग्रेजीकी प्राईमर पढ़कर तार पढ़नेका काम किया करते हैं। इस तारमें chronic dysentry उनकी समझमें नहीं आया। बस "we regret" को पढ़ते ही पूरा मतलब लगा लिया और हाथ झाड़कर भारी मुँह बना दिया। फूलसिंहके घरमें सचमुच कुहराम मच गया। चूल्हेमें आग नहीं जली। पशुओंको चारा नहीं मिला। गली-मुहल्लेके स्त्री-पुरुष इकट्ठे होकर रोए और सगे-सम्बन्धियोंके पास कोना कटी चिट्ठियाँ पहुँची।

प्रदीप अधिकतर बाहर नहीं जाता था। पांच मील पर बड़े वैद्यका दवा-खाना था। वहां दो बार जाकर उसने नब्ज दिखाई और दवा लाकर घरमें सेवन करता रहा। बराबरके घरमें उसके चचाकी पुत्रवधू बीमार थी। रात-रात भर वह रोती रहती कि वैद्यको बुलाकर मेरी नाड़ी दिखा दो। चाची पीहर गई थी। घरमें एक छोटी ननद थी और चाचाका सबसे बड़ा लड़का—बहूका जेठ। ननद-बहूमें खूब लड़ाई होती। ननदको बहूके भाई कोसनेका अधिकार था। उसका विवाह नहीं हुआ था इसलिये भाभीको उसे रांड करने का भी अवसर नहीं मिलता था। जेठ कहता था कि सब तिरिया चरित्तर है, कामसे बचनेके लिये रोगका बहाना बनाया है। एक रात भयानक चीत्कारसे चाचाका घर गूँज उठा। प्रदीपने माँसे जाकर देखनेको कहा, पर द्वार बन्द पाकर

वे लौट आईं। अगले दिन प्रातःकाल बहू उनके घर आई। प्रदीप नातेमें उसका देवर लगता था। आयुमें भी छोटा था। पर वह उससे घूंघट निकालती थी। प्रदीपने देखा कि वह सूखकर कांटा हो चली है, बात करते समय स्वर कांपता है। बोली—

"ए जी तुम अपने भाईके पास चिट्ठी लिखोगे क्या ?"

"नहीं तो। मैं तो उसका पता तक नहीं जानता।"

भाभी चुपचाप बैठी रही। घूँघटमेंसे टपाटप आँसू गिर रहे थे। प्रदीपको आशंका हुई कि कल रात कुछ दुर्घटना हुई है। बोला—

"क्यों, भाभी, तुम्हें कोई विशेष बात लिखानी है क्या ?"

भाभी चुप रही। उसके आंसू अब भी बह रहे थे।

"हाँ, बहू, बता दो क्या बात है ? कोई डर नहीं है।"—प्रदीपकी माँने कहा।

"इनसे नहीं तो मुझसे कह दो जेठानीजी।"—उर्मिला बोल पड़ी।

पर भाभी कुछ नहीं बोल पाई। चुपचाप उठकर चली गई।

अगले दिन जेठ जाकर वैद्यजीको लिवा लाए।

कई दिन पीछे प्रदीपको अपनी माँसे पता चला कि उस चीत्कार वाली रातको जेठने छोटे भाईकी बहू पर बलात्कार करनेकी चेष्टा की थी। प्रदीपका रक्त खौल उठा। पर दूसरे क्षण ही उसको याद आई कि एक सांझ उसने भी अँधेरी पौरमें भाभीकी छातियाँ मसलने और गाल चूमने की इच्छाको अपने चरित्रका समस्त जोर लगाकर दबाया था। मनुष्य दुर्बल है, वासना बलवती। मनुष्य हार जाए तो ऐसी लज्जाकी बात नहीं। पर वह हार मानवताकी हार अवश्य है।

एक दिन सांझको प्रदीप घूमकर लौट रहा था। रास्तेमें बलरामकी बैठकमें घुस गया। भीतर घुप-अँधेरा था। बलराम एक मूढ़े पर बैठा था और पास धरती पर दो-तीन ग्रामीण नवयुवक। वायु-मण्डलमें भयानक दुर्गंध भरी थी। अँधेरेमें थोड़ी देर बाद आँखें देखने लगती हैं। प्रदीपने देखा कि जमीन पर दो-तीन बोतलें रक्खी हैं और सबके हाथमें पीतलके गिलास हैं। देशी शराबका दौर चल रहा था। बलराम के बराबरमें वह दूसरे मूढ़े पर बैठ गया।

"थोड़ी पीकर देखो, प्रदीप।"—एक ग्रामीण नवयुवकने कहा।

"नहीं, भाई। मैं नहीं पीऊँगा।"

"दो घूँट। बस। तुम्हारी कसम जो किसीको कानों-कान खबर हो"—दूसरा युवक बोला।

"मैं किसीसे डरकर नहीं पी रहा सो बात नहीं है, जगराम। कल तुम सारे गाँवमें कह देना कि प्रदीपने शराब पी थी और मुझसे कोई पूछेगा तो मैं इन्कार नहीं करूँगा। पर शराब सचमुच मैं पीता नहीं।" —प्रदीप बोला।

"बलराम भैया, हमारी बात यह नहीं मानेगा। तुम पिलाओ ना।" —जगरामने बलरामसे कहा।

"भाई मैं जानता हूँ प्रदीप शराब नहीं पियेगा। मैं कहूँ और यह इन्कार कर दे, इसमें मैं अपना अपमान समझता हूँ। इसलिये कहना फिजूल है।"—बलराम बोला।

प्रदीप चुप रहा। धीरे-धीरे वे सब नशेमें झूलकर अण्टशण्ट बकने लगे। प्रदीप उठकर चला आया।

अगले दिन वह अपने गाँवके एक पुराने सहपाठीके साथ मैदानमें घूम रहा था। शराबकी बात चल निकली। साथीने बताया कि गाँवमें किसानों का शायद ही कोई नौजवान बचा हो। रातों वे लोग शराब निकालते पीते हैं। इसके सिवाय गाँवमें बहुतसे अड्डे हैं, जहाँ इधर-उधरसे नौजवान लड़कियां चोरी-चोरी आकर शराब पीतीं हैं और जवान छोकरों-को वेमोल अपनी जवानीके मजे देती हैं। साथी चाहता था कि प्रदीप भी एकाध जगह जाकर बहार लूटे। उसने लड़कियोंके नाम और घर बताने शुरू किए। प्रदीपको सपनेमें भी खयाल नहीं था कि वे लड़-कियाँ ऐसा काम कर सकती हैं। उनमें दो-चार तो वास्तवमें प्रदीपको अच्छी लगती थीं। साथी दावेके साथ कह रहा था कि जिस लड़कीको प्रदीप चाहे वह दिलवा देगा। गली-मुहल्लेकी कुछ जवान बहुओंके भी नाम उसने लिए। रशीदकी बहू भी उनमें थी। प्रदीपको बड़ा कौतूहल हो रहा था। पर साथीके निमन्त्रणको उसने शान्त, दृढ़ स्वरमें लौटा दिया। मन-ही-मन वह सोच रहा था कि अगली बार जब गाँवके दो-चार हिन्दू-संस्कृतिके ठेकेदार ब्रह्मचर्य और भारतीय नारीके आदर्शका बखान करेंगे, तो वह मुँहमें रूमाल देकर हँसी रोक सकेगा। थोथे आदर्शोंको मनुष्य पर लादनेका फल होता है चोरी और लुकछुपको बढ़ावा देना। आज यदि गाँवका वातावरण मध्ययुगीय आचार-विचारसे मुक्त होता, तो यहांके युवक-युवतियाँ स्वच्छन्द रूपमें एक दूसरेके साथ मिल बोल पाते। वासना प्रेमका आश्रय लेती। किन्तु घोर दमनके फलस्वरूप आज कुत्सित व्यभिचार ही सबके हिस्सेमें आया है। खुले तौर पर किसी लड़की अथवा बहूकी तरफ पराए पुरुषकी आँख भी उठ जानेसे यहाँ खून हो जाते हैं।

एक दिन तीसरे पहर प्रदीप घरमें बैठा था। छोटू तेली आकर बैठ गया। आयुमें वह प्रदीपके पिताके बराबर था। आँखोंसे कम दिखाई देता था। प्रदीपकी माँने पूछा—

"लड़केका ब्याह कर डालो, छोटू। तेलनसे अब काम नहीं होता।"

"हाँ, ब्याह तो करना ही है। सोचता हूँ कोई मकानकी तजबीज हो जाए तो अच्छा रहे।"

"मकान तो तुम्हारे पास है ना, चाचा।"

"कहां भाई। वह तो तुम्हारी दयासे सिर पर छाया मिली हुई है।"

"वह मकान हमारा है?"—प्रदीपने पूछा।

प्रदीपकी माँने बताया कि छोटूका अपना मकान था, वही गुरदयाल की दूकानके सामनेवाला। छः साल पहले प्रदीपके बाबाने वह खाली करवा लिया और छोटूके रहनेके लिए अपना दूसरा मकान दे दिया। सन् तीस में छोटूने पाँच सौ रुपए प्रदीपके बाबासे उधार लेकर सरसों खरीदी थी। संसारके बाजारोंमें मन्दी आई और सरसोंमें भारी घाटा रह गया। छोटू ऋणमें दब गया। एक दिन प्रदीपके चाचा उसे लेकर तह-सीलमें गए और मकान अपने नाम लिखवा आए। प्रदीपके बाबाने छोटूको समझाया कि वह उसका चौथा बेटा है, मकान इसीलिए अपने नाम करवाया है कि दूसरे ऋणदाताओंका दाँत उस पर नहीं चल पाए। मकानमें वह रहे जाए, उनको क्या करना है। किन्तु एक साल पीछे बाबा अपनी बात भूल गए। छोटूसे कहने लगे कि परिवार बढ़ गया है, जगह चाहिए, उसे मकान खाली करना ही होगा। उस दिनसे छोटूका

अपना मकान नहीं रहा और जिस मकानमें अब वह रहता है, वह, संपति बांटने पर, प्रदीपके हिस्से आया है। साथ ही पुराना मकान भी।

प्रदीप अगले दिन छोटूको लेकर तहसीलमें गया और छोटूका पुराना मकान उसके नाम लिखवा दिया। किसीसे उसने पूछा नहीं, सलाह नहीं ली किसीकी।

प्रदीपका जी गाँवसे ऊब उठा। इधर-उधर जाता—वही पुरानी बातें। युद्धमें हिटलर जीतेगा। भारतीय संस्कृति ही असली संस्कृति है, शेष सब भुलावा है, दो दिनकी उछल-कूद। उसने लोगोंसे वाद-विवाद करना बन्द कर दिया। इनसे क्या कहे। युग बदलेगा, ये भी बदल जाएँगे। पर एकदिन उसको अपरिसीम आश्चर्य हुआ। गाँवके एक ग्रेजुएट, जो प्रान्तीय सरकारके कृषि-विभागमें अच्छी पदवी पर थे, बलराम की बैठकमें कुछ लोगोंको लैक्चर दे रहे थे। उनको विश्वास था कि जर्मनीने विज्ञानमें इतनी उन्नति केवल हमारे वेदोंको पढ़कर की है। वेदोंमें सब कुछ समझा कर लिखा है—वायुयान और एटम बम। समझनेवाला चाहिए। हमारे बड़े-बड़े विज्ञानवेत्ता महाभारतमें मारे गए, विद्याएँ लोप हो गईं। अब जर्मनीने आर्यधर्मका उद्धार करनेका बीड़ा उठाया है। नास्तिक रूसका विनाश अवश्यम्भावी है।

प्रदीपसे नहीं रहा गया। पूछ बैठा—"पर साहब स्टालिनग्राडमें जर्मनी पर जो मार पड़ी है, उसे देखते हुए तो कुछ और ही दीख पड़ता है।"

"अरे साहब जाने दीजिए। अंग्रेजोंके अखबार कभी झूठ बोलनेमें चुकते हैं। हिटलर पीछे नहीं हट सकता। कहीं पीछे हटा है तो उसकी चाल है। उलट कर मारेगा।"

प्रदीप उत्तर नहीं दे सका। इतने भारी विश्वासको हिला देनेकी क्षमता उसे अपने भीतर नहीं मिली।

दो दिन बाद उसने लोगोंके मुँहसे सुना कि प्रदीप विवादमें हार गया। मन-ही-मन वह चाहने लगा कि वे आर्यधर्मके ठेकेदार फिर मिलें तो उनका वह मजाक उड़ाए कि किसी दिन मुँह खोलनेका साहस वह नहीं कर पाएँ। पर ऐसा अवसर आया नहीं।

घरमें ज़हर खानेको पैसा नहीं था। पिताजी कलकत्तेसे खाली हाथ आए थे। रोहतकमें प्रदीपने जीजीसे उधार लेकर काम चलाया था। यहां जब कोई रास्ता नहीं सूझा तो उसको उर्मिलाकी छोटी-सी जमा पूँजी मांगनी पड़ी। लाजके मारे वह धरतीमें धँस गया। पर करता क्या। उसे आशा थी कि थोड़े दिनमें उसका स्वास्थ्य सुधरते-सुधरते ठीक हो जाएगा। तबियत उसकी ठीक होती जा रही थी।

पर उसके पिताजी हाथ धोकर पीछे पड़ गए। जहां वे देखते कि उर्मिला प्रदीपके साथ बैठी है, उनके कान खड़े हो जाते और प्रदीपके अनेकबार मना करने पर भी वे दो सुनाए बिना नहीं रहते। पहले-पहल तो बहूको उन्होंने कुछ नहीं कहा। पर पीछे चलकर उर्मिलाकी भी शामत आने लगी। वह चुपचाप रो लेती। प्रदीपके भीतर सब कुछ जल कर राख हो जाता। एक दिन उसने अपने पिताजीको मांसे कहते सुना—

"इसको क्या बीमारी है! यह तो बहूके लिए यहां पड़ा है। हमारे घरका नाश करके छोड़ेगी यह..."

और अगले दिन प्रदीप अपना बिस्तर बांध, किताबें समेट, उर्मिलाके आंसू पोंछ कर दिल्ली चला गया।

३१

दिसम्बरका दूसरा सप्ताह बीत रहा था, जब प्रदीप दिल्ली आया। प्रायः चार मास वह बाहर रहा था। उसने अपनी स्कूलकी पुरानी कोठरी साफ करके पढ़नेके लिये आसन लगाया। कालिज जानेकी आवश्यकता नहीं समझी। केवल इधर उधरसे वह कामकी पुस्तकें उठा लाया। रातको एक-डेढ़ घण्टे प्रमिला और वनमालाको पढ़ाने जाता था। शेष समय सब उसका अपना था। सुनयनासे मिलने वह नहीं गया, न ही उसने प्रदीपको बुलाया। कुछ कामसे प्रदीप कालेज़ जाता तो कभी-कभी वह गर्ल्ज रूमके सामने खड़ी या इधर-उधर आती-जाती दीख जाती। प्रदीप आँखें नीची करके निकल जाता। एक दिन भी सुनयनाने उसे नहीं रोका।

प्रातःकाल ही प्रदीप खाना-खाकर अपनी कोठरी में घुस जाता और भीतरसे द्वार बन्द करके बिस्तर पर पड़ा पढ़ता रहता। थक जाता तो सो लेता। बाहर क्लास लगती रहती, किन्तु उस शोर-शराबेकी उसने ऐसी आदत बना ली कि उसके काममें तनिक भी बाधा नहीं आती थी। सन्ध्या समय क्लास समाप्त होती तो वह निकल कर खाता-पीता और

पढ़ने चला जाता। इस प्रकार उसने प्रायः एक मास बिता दिया। उसका स्वास्थ्य धीरे-धीरे फिर गिरने लगा था। पर उसने विशेष ध्यान नहीं दिया।

इसी बीच प्रदीपको उर्मिलाकी चार-पाँच चिट्ठियाँ मिली। वह अपनी टूटी-फूटी भाषामें अस्त-व्यस्त ढङ्गसे प्यारकी बातें लिखती रहती थी। प्रदीपको हँसी आ जाती। पर वह उत्तरमें अपनी विरह-वेदना लिख भेजता। प्रदीपके मनमें उर्मिलाको साथ लेकर घर बसानेकी तीव्र इच्छा उठती जा रही थी। वह अपनी छोटी-सी गृहस्थीके सपने देखा करता। किन्तु न जाने क्यों उसको उर्मिलाकी मुखाकृति याद नहीं आ पाती थी? प्रदीपके मानस पर उर्मिलाके मुखका धुँधला-सा चित्र भी नहीं उठ पाया। वह चेष्टा करता, किन्तु उसकी स्मृतिमें एक सुडौल, मांसल, सोनेके रंगकी नग्न देह भर आकर रह जाती। उस देहके लिये प्रदीपकी भूखकी सीमा नहीं थी। सोचा करता कि अगली बार गाँव जाएगा तो एक पल भी उर्मिलाको अपने बाहूपाशसे नहीं निकलने देगा।

× × × ×

एक दिन वह यूनिवर्सिटीके पुस्तकालयमें अपने कामकी कुछ पुस्तकें देख रहा था। वासुदेव उस ओरसे आ निकला। प्रदीपको देखते ही बोला—

"वाह भाई, तुम कब आए?"

"यही हो गया होगा एक महीना।"

"हमें खबर तक नहीं दी। घर तो आते।"

प्रदीपने उत्तर नहीं दिया। अपलक आँखोंसे वासुदेवकी ओर देखने लगा। बढ़िया काली सर्जकी अचकन, चूड़ीदार पाजामा, चमचमाते बूट—अच्छा जँच रहा था। वह फिर बोला—"मुझे तुमसे एक काम है, प्रदीप।"

"क्या?"—उदासीन-सा प्रदीप पूछ बैठा।

"यहां नहीं। बाहर चलो।"

"मैं दो-चार पुस्तकें निकाल लेता हूँ।"

"जरूर। लेकिन मैं लानमें तुम्हारा इन्तजार करूँगा।"

"अभी आता हूँ। तुम चलो।"

प्रदीप फिर किताबें देखने लगा। घूमते-घूमते वह प्राचीन भारतीय इतिहासके विभागमें पहुँचा तो देखा कि ज्योत्स्ना गांगुली खड़ी किताबें देख रही है। प्रदीपको देखते ही बोली—"हल्लो।"

"आपनी भालो आछेन। कि खोबोर?"—प्रदीप बोला। पिछले दिनों बंगलाकी एक प्राइमर पढ़कर प्रदीप दो-चार वाक्य सीख गया था। पर उधरसे ज्योत्स्ना जो बंगलामें बोली तो वह कुछ भी नहीं समझ पाया। उसका मुँह ताकता रह गया। ज्योत्स्ना समझ गई हंसकर बोली—

"बोलते क्यों नहीं? बंगला बोलिये ना। आप अच्छा बोलते हैं।"

"पर भाई, बंगला तो भाषा नहीं, संगीत है। संगीत तो मूड आने पर ही मुखरित होता है, सब समय नहीं।"

"बंगालमें आप जायेंगे तो आपका मत बदल जाएगा। अच्छा, आपने कभी बंगालियों को लड़ते देखा है?"

"नहीं, कभी नहीं।"

"तभी तो।"

"अच्छा, मिस गांगुली आप मुझे बंगला सिखा दें, तो बड़ी कृपा हो।"

"मुझे तो ऐसी फुर्सत नहीं है।"

प्रदीपको ऐसा उत्तर पानेकी आशा नहीं थी। फिर जिस शीतल भावसे ज्योत्स्नाने इन्कार किया, उससे प्रदीप एकबारगी कुंठित हो गया। उधर ध्यान दिये बिना ज्योत्स्ना किताबें देखने लगी। प्रदीप एक-दो पुस्तक जल्दी-जल्दी निकालकर वहांसे भाग निकला।

बाहर लानमें पड़ा वासुदेव धूपका आनन्द ले रहा था। तीखी ठण्डी हवामें धूप बहुत मीठी लग रही थी। प्रदीप पासमें जा बैठा और वासुदेव से बोला—

"हाँ भाई, बोलो क्या पूछना चाहते थे?"

"तुम प्रमिलाको पढ़ाने जाते हो ना?"

"हाँ, जाता हूँ। क्यों?"

"कैसी है लड़की?"

"लड़कियों जैसी लड़की है। सुन्दर, मनोहर, बेदर्द।"—प्रदीपके मनमें ज्योत्स्नाका व्यवहार खटक रहा था।

"मज़ाक मत करो यार। सच, कैसी शकल-सूरत है?"

"मुझे कभी ध्यानसे देखनेका मौक़ा नहीं मिला। देखकर आऊँगा। कल पूछ लेना। हैं?"

"फोटो देखा था। चेहरेका कट तो काफी जोरदार है। रंग भी अच्छा होगा।"

"उस दिन सिनेमामें आई थी ना। तुम्हें याद नहीं।"

"वहाँ घर भरकी लड़कियां और बहुएँ थी। प्रमिला कौन है यह कैसे पहचानता। फिर पुरानी बात हो गई।"

"उन सब औरतोंमें कोई काली दीख पड़ी तुमको?"

"नहीं तो। सबके रंगमें सोना घुला था।"

"तो बस। मुझसे क्या पूछते हो? आँख-नाक ठीक हैं। रंग मन चाहा। इतना मैं कहे देता हूं कि उसके बालोंसे बढ़कर मुलायम और बारीक रेशम मिलनी दूभर है। और कुछ पूछना है?"

"टैम्पैरामेंट कैसा है?"

"अब यह सब उसके घरवाले बताएँगे।"

"फिर भी?"

"आखिर बात क्या है? क्यों तुम्हें यह सब जाननेकी फिक्र पड़ी है? मुहब्बत करना चाहते हो क्या? मुहब्बत क्या यार ऐसे हुआ करती है।"

"नहीं, प्रदीप। पिताजीके पास प्रमिलाके विवाहका आफर आया है।"

"किसके लिए?"

"मेरे लिये।"

प्रदीपका दिल बैठ गया। प्रमिला-वासुदेवका विवाह होगा! क्यों नहीं? सुन्दर-सुन्दर फूल मिट्टीकी मूरत पर चढ़ाए जाते हैं। वह भगवान, यह धनवान। समस्त विश्वका वैभव इनके उपभोगके लिये बना है। प्रदीप उठकर चल पड़ा। वासुदेव चिल्लाया—

"अरे लो। चल पड़े। सुनो तो।"

"मुझे भला क्या कहना-सुनना है, वासुदेव। तुम्हारी बात, तुम समझो संभालो।"

वासुदेव उठकर खड़ा हो गया और प्रदीपके कन्धे पर हाथ रखकर मुस्कराता हुआ बोला—"नाराज रहते हो हमसे?"

"नहीं, मैं क्यों नाराज होने लगा।"

"तो फिर भाई, दो बातें बता दो ना।"

"वासुदेव मेरी तबियत खराब है। मैं जाना चाहता हूँ।"

प्रदीप कन्धा छुड़ा कर चल दिया।

इस घटनाके पश्चात् प्रदीपका मन अपनी कोठरी और पुस्तकोंमें नहीं टिक पाया। एक उचाटीसी उठ कर उसके मनकी समस्त शान्तिको निगल गई। वासुदेवका स्मरण होते ही उसकी छाती विद्वेषसे जल उठती थी। वासुदेव कुछ भी नहीं, कोई गुण, कोई क्षमता नहीं रखता। फिर भी सुन्दर, शिक्षित, कुलीन नवयौवनाओंसे वह प्रणयका खेल खेल सकता है, विवाह कर सकता है! और प्रदीपको, प्रगाढ़तम प्रेम हियेमें संजो कर भी दो शब्द कहने-सुननेका अवसर नहीं, अनुरोध नहीं। भला क्यों? सच क्यों? क्या केवल इसीलिए कि वासुदेव धनाढ्य पिताका पुत्र है और प्रदीप एकबारगी दरिद्र, अकिंचन, एक प्रकारसे अनाथ? और तो कोई कारण समझमें नहीं आता।

सुनयनाको भुला देने अथवा भूल जानेका विचार मात्र उस पर चोट करता है। उसके अन्तरमें इतने गहरे रंगोंसे आंकी गई, ऐसी सौम्य, मनोहर मूर्ति क्योंकर धुलपुंछ कर साफ हो सकती है। हाँ, उसे खुरचा जा सकता है। किन्तु खुरचनेकी क्रियामें हृदय पर क्या बीतेगी?

हृदयके वे घाव फिर किसी दिन नहीं भर सकेंगे। घावोंके विषयमें कविताका आनन्द लेना एक बात है; उनकी टीसको सतत झेलना दूसरी बात। घाव, घाव हैं।

अब प्रदीप अपनी कोठरीमें बन्द रहकर नहीं पढ़ सकता था। उसका जी चाहता था कि सामनेकी कोई सड़क पकड़ कर वह चल पड़े और चलता चला जाए, चलता चला जाए······

फरवरीका महीना था। खाना खाकर प्रदीप एक किताब लिए घरसे निकल पड़ा। दरियागंज पार कर लेने पर दिल्ली गेटके पास उसे चेत हुआ कि वह बिना सोचे ही कोटलेकी ओर जा रहा है। वहाँके उजड़े वातावरणमें उसकी विडम्बना और भी बढ़ जाएगी। ऐतिहासिक खण्डहरोंको देखते ही उसका मन हताश हो जाता था। उसका मन कहने लगता था—"यह सारी उछल-कूद, सरगर्मी बेमतलब है। इमारत नहीं ठहरती—चाहे पत्थरकी इमारत हो, चाहे प्रणय, ख्याति अथवा वैभव की। केवल ध्वंसावशेष बच पाते हैं।"

प्रदीप मुड़ पड़ा। आज वह एकान्तमें जाकर अपने मानस पर फूले छालोंको फोड़ने नहीं बैठेगा। आज वह धन जनसे भरपूर इस विशाल नगरीकी सड़कोंपर घूमेगा, गली कूचोंमें टहलेगा। आखिर ये असंख्य नरनारी भी तो जीते हैं। हँसकर, रोकर, जिस तरह भी हो जीते तो हैं। अपने आपसे उलझे रहनेका मतलब है संसारकी ओरसे आँखें मूँद लेना। ऐसा व्यक्ति संसारमें ठोकरें खाए तो कोई आश्चर्य नहीं। मनकी सारी वेदना यदि ठोकरें खानेके कारण है तो वेदना का किनारा मिल गया। इसके विपरीत वेदना यदि कोई मौलिक

और चिरस्थायी तत्व है तो उसका साक्षात्कार करनेके लिए और हृदय-मंथन सहन करना पड़ेगा।

प्रदीप सड़कके बांई ओर चल रहा था। एक संकरा रास्ता छोड़कर एक फुट-पाथ बना था और फिर दाईं ओर खूब चौड़ी सड़क। बीचवाले फुट-पाथपर मोची, छोटे-मोटे खोंचेवाले और भिखारी अपनी सत्तासे आने-जानेवालोंको प्रभावित करनेका जी तोड़ प्रयत्न कर रहे थे। मोची चलनेवालेके जूतोंको एक आंखमें भांपकर उन्हें एकदम नया बना देनेका वायदा करते थे। खोंचेवाले किसीके सुनने न सुननेकी परवाह किए बिना अपने-अपने सरो-सामानका बखान विविध स्वरोंमें आपके कानमें पहुँचाते थे। भिखमंगे अपने गले अंग दिखाकर, अपने आपको अन्धा अपाहिज बताकर, भगवान अथवा अल्लाहके नामपर, दाताओंके धन-जनकी मंगलकामनामें दृढ विश्वास दिखाकर, गिड़गिड़ाते, रोते बिलखते, जानेवालोंका रास्ता रोके लेते थे, पीछे पड़ जाते थे। इन सबके भीतर प्रदीपको एक मौलिक एकताका आभास मिला। सबमें जीनेकी प्रबल आकांक्षा थी। और जीनेके साधन पैसे जुटानेकी अटूट, अविचल साधना भी। मनसे संशयको भगा, समाजव्यापी मूल्योंको सम्पूर्णतया स्वीकृतकर, वे अपने-अपने काममें लीन थे।

बाईं ओर संकरे रास्तेके पार छोटी-छोटी दुकानोंकी लाइन थी—पान-बीड़ी, रेवड़ी गजक, धनिया, मिरच, आटा, दाल सभी मिलते थे। एक दो फोटोग्राफर, नाई, लाण्डरी और दान्तवाले डाक्टर भी बीच-बीचमें प्रतिष्ठित थे। दुकानोंके भीतर बाहर, संकरे रास्तेपर कूड़ा कचरा और गन्दगी फैली थी, मक्खियां भिन-

भिना रहीं थीं, अनेक वस्तुओंके गन्धका जो समन्वय हुआ था, उसकी समष्टिमें नासिकाके लिए व्यष्टिकी व्याख्या करना अत्यन्त दुष्कर था। दुकानवाले अधिकतर मैले-कुचैले वस्त्र पहने, मैली कुचैली गद्दियोंपर बैठे तोल-ताल और हिसाब-किताबमें व्यस्त थे। खोंचेवालों की नाईं वे आवाजें नहीं लगाते थे, न ही मोची और भिखमंगोंकी भांति किसीके पीछे पड़ते थे। बहुत हुआ तो किसीको अत्यन्त विनम्र, मीठे स्वरमें पुकार उठते थे,—"क्या साहब, ज़रा देखिए हमारे यहाँ भी।" फ़ुटपाथ पर बठकर व्यवसाय करनेवालोंके प्रति उनकी राय अच्छी नहीं थी, उनको वे छोटी श्रेणीके लोग समझते थे। बहुत सोचकर भी प्रदीप नहीं समझ पाया कि इन दोनों श्रेणियोंमें क्या मौलिक तारतम्य हो सकता है।

चलते-चलते प्रदीपने देखा कि संकरे रास्तेपर अचानक तांगों और छकड़ोंका गढमढ होकर यातायात एकबारगी बन्द हो गया। तांगेवाले छकड़ेवालोंको नाना प्रकारकी गालियाँ सुनाकर दोषका एक-तरफा फैसला देने लगे। तमाशा यह कि कोई भी रास्ता खोलनेका प्रयत्न नहीं कर रहा था। सब अपने बराबर और आगे पीछेवालोंसे बहस करनेमें लीन थे।

"अजीब बुद्धू हैं ये लोग भी। चौड़ी सड़क छोड़, संकरे रास्तेमें भीड़ जमा कर, मुफ्तमें हंगामा मचा रहे हैं।"—प्रदीप परिचयका ध्यान किए बिना ही अपने बराबरमें खड़े एक वयप्राप्त मुसलमान सज्जनसे कहने लगा।

"चौड़ी सड़कपर तो, नन्हे, केवल मोटर गाड़ियां चलनेकी इजाजत है। पर ये लोग भी बेवकूफ हैं। कुछ करनेकी बजाय हंगामा करते हैं।"—वृद्धने मुस्कराकर उत्तर दिया।

प्रदीपकी आँखें घूमी। तारकोलकी सुन्दर, साफ, चौड़ी सड़क पर वास्तवमें तांगे अथवा छकड़े नहीं चल रहे थे। वह स्वयं पैदल चलनेवालोंमें से था। तांगेमें बैठनेवाले उसको नीची निगाहसे देखते हैं, यह सदा वह समझा करता। आज अचानक उसको ज्ञान हुआ कि इन तांगोंमें सवारी करनेवालोंको भी नीची निगाहसे देखनेवाले मौजूद हैं। उन्होंने तो इनका खुली सड़कपर चलना तक बन्द कर दिया है। ठीक भी है। बीसवीं सदीमें काठ और घोड़ेके क्या मायने। भाप, तेल, बिजली, रेडियो वेव्ज, जेट प्राप्लशन का युग है। तांगों और छकड़ोंका समाज पिछड़ा हुआ समाज है। सड़कों पर बैठनेवाले मोची खोंचेवाले, भिखमंगे, गन्दे दूकानदार, हमारी सभ्यताके प्रतीक हैं!

एडवर्ड पार्क तक पहुँचते पहुँचते प्रदीप क्लान्त हो गया। फैसला किया आगे नहीं जाएगा। पार्कमें बैठकर समय बिता देना अच्छा है। क्या होगा गली-गलीकी धूल फांककर। शहर तो सारा उसका देखा हुआ है। नहीं होगा तो आंखें मूंदकर मानस पटपर सारे शहरको उतार लेगा।

शहर क्या, बाजारोंका जमघट है। लोहा, लकड़ी, बर्तन, मिर्च-मसाला, कपड़ा, कांच, सोना चान्दी—यही सब चीजोंका क्रय-विक्रय करनेके लिये छोटी बड़ी दूकानें हैं, आफिस एसोसिएशन हैं, सेठ-साहूकार, दलाल, पल्लेदार, मुनीम-गुमाश्ते हैं। बड़े-छोटे बैंक, डाकखाना,

तार-घर—सबमें हजारों-लाखों मनुष्य इसीलिए काम करते हैं कि कोई साहूकार सस्ती दरमें वस्तुएँ खरीदकर महँगी-से-महँगी दरमें बेच सके। इनके झगड़ोंको निपटानेके लिए कचहरियाँ, जज, वकील, बैरिस्टर, एडवोकेट, सालीसीटर, मुंशीजी मौजूद हैं। इनकी सम्पत्ति, मान-मर्यादा, सत्ता, वैभवकी रक्षा करनेके लिए पुलिस, फौज, राज-पाटके महल खड़े हैं। इन्हींके आश्रयमें, इन्हींके लिए, ये अनेक डाक्टर-वैद्य, अध्यापक-प्रोफेसर, कलाकार-विद्वान् अपना-अपना जीवन चलाते हैं। वस्तुओंका क्रय-विक्रय करनेवाले ही सब कुछ हैं। यदि ये आज दिल्ली छोड़कर चले जाएँ, तो इस विशाल नगरीमें दिन-भर कव्वे बोलें और रात-भर उल्लू एवं सियार।

और वस्तु-समुदायका उत्पादन करनेवाले? देहली क्लाथ मिल और बिड़ला मिलकी कुली लाइनोंमें उनसे साक्षात्कार होगा। गन्दे, अर्द्धनग्न, भुखमरे, अशिक्षित, कुसंस्काराविष्ट, नरपशुओंसे भरी हैं वे कालकोठरियाँ और टीनके शेड। ये लोग चार पैसेका आटा, दो पैसेकी दाल, एक पैसेका नमक, अधेलेका तेल और दमड़ीकी लकड़ी खरीदते हैं। इनको इतना ज्ञान ही नहीं कि संसारमें और भी सुन्दर, स्वादु, मूल्यवान वस्तुएँ हैं, और भी प्रचुर मात्रामें। ये लोग पानीके नलों और पाखानों पर लाइन लगाकर खड़े होते हैं, लड़ाई-दंगा करते हैं। होश सम्भालते ही इनके लड़के-लड़की मिलकी प्रातःकालीन सीटीके साथ जाग पड़ते हैं सर्दी-गर्मी, पतझड़, मधुमास आते हैं, चले जाते हैं। इनको कारखानों के रुँधे हुए वातावरण और मशीनोंकी घरघराहटके परे कुछ वास्ता नहीं। कारखानेके बाहर निकलकर ये लोग खाते और सो जाते हैं। स्त्री-पुरुष

बराबर-बराबर सोए हों, तो बिना किसी प्रणयलीलाके, बिना अभिसारके दो शरीर एक-दूसरेसे लिपटकर प्रकृतिका प्रयोजन पूर्ण कर देते हैं। इनके बूढ़े और बच्चे भी निराले हैं। बूढ़े ज्ञान नहीं झाड़ते, उपदेश नहीं देते, भगवानके भक्त बनकर पाखण्ड नहीं करते। दिन-भर बैठे हुक्का गुड़गुड़ाते हैं, गाली-गलौज करते हैं, और खाँस-खाँसकर आसपास में कफ और थूकके ढेर लगा देते हैं। बच्चे या तो अफीमके घोर नशे में पड़े सोते हैं अथवा घरके भीतर या गलीमें धरती पर पड़े बिलखते, घिघियाते रहते हैं।

ऐसे हैं ये वस्तु-उत्पादनका समस्त दायित्व अपने सिर लेनेवाले मजदूर। एक रुपएकी चीज बनाते हैं, मजदूरी मिलती है चार आना और उसी चीजको जब बाजारमें खरीदने पहुँचते हैं, तो दाम लगता है सवा रुपया। बीचका एक रुपया तो नई दिल्लीके राजभवन, विशाल कोठियाँ और अनेकों छोटे-मोटे व्यापारियों, दलालोंकी दूकान और परिवारकी नींव बनानेके लिए चाहिए।

एक बड़े नगरको समझनेके लिए पूँजीवादका मूल-मन्त्र समझ लेना अतीव आवश्यक है वह मूल-मन्त्र है—लाभ-शुभ। किस प्रकार क्रय-विक्रय किया जाए कि लाभ हो। और लाभ बनानेकी विद्यामें जो जितना प्रवीण है, उतना ही ऊंचा उसका स्थान, उतनी एकछत्र उसकी सत्ता। समाजमें सब कुछ बिकता है, पैसे चाहिएँ। खाना, पहनना, घर, शिक्षा, स्वास्थ्य, मनोरञ्जन—ये सब भूल जाइए। यहाँ धर्म, ईमान, इज्जत-आबरू बिकते हैं। स्त्री, पुरुष, बच्चे, जवान, बूढ़े, पण्डित, पादरी, विद्वान्, कलाविज्ञ, विज्ञानवेत्ता ; राजनीतिक, सामाजिक,

सांस्कृतिक नेता—सब बोलीपर चढ़े हैं, कोई पचीस पैसेका, तो कोई पचीस लाख रुपएका। रुपया चाहिए और बोली लगानेकी छाती चाहिए, बैठे-बैठे सब कुछ पैरोंपर आ गिरेगा। और.........

प्रदीप तिलमिलाकर उठ बैठा। उसका रोआँ-रोआँ काँप रहा था। अन्धेरेकी अभ्यस्त आँखोंपर अत्यन्त तीव्र प्रकाश पड़नेसे जो व्याकुलता होती है, वैसी ही उसके मानसमें भर चली—मानो एक अत्यन्त उत्तुंग गिरि शिखरके कंगूरेपर वह खड़ा हो और सामने फैला हो एक विराट अथाह गह्वर—जिसमें पड़कर उसकी हड्डियाँ तक लुप्त हो जाएँगी। पीछे लौटना कठिन था, भयंकर ज्वालामुखीकी नाईं फट पड़ा उसका अन्तर। फिर भी अपने मोहकी नगरीको बचा लेनेकी लालसा चीत्कार कर रही थी—नहीं......नहीं......

उस सपनेकी नगरीमें मानव, मानव था, न कारखानेदार, न दूकान-दार, न मजदूर। और उस मानवकी समस्त साधना, समग्र प्रयत्न सत्यं शिवं सुन्दरं को आराध्य और प्राप्य मानकर थे। पर यह क्रय-विक्रय करनेवाला मानव......यह नगदनारायणका भक्त......यह कौन है? यह धोखा है अथवा वह स्वप्नका मानव?

प्रणय भी मिथ्या है......मिथ्या नहीं......निरा बचपन है। स्त्री के लिए लालायित पुरुष, केवल पुरुष है, मानव नहीं। प्रणय पुरुषार्थ नहीं, पलायन है। वस्तु सत्य नहीं, भावना भी सत्य नहीं—सत्य है तो उनका क्रय-विक्रय—जिसमें स्वयं लाभ-शुभ भगवान विराजमान हैं। सिनेमामें अभिनय होता है प्रणयका—अभिनेता-अभिनेत्रियाँ राजप्रासादों में रहती हैं, घुड़दौड़में दाँव लगाती है, लीमूज़ीनमें बैठकर घूमती हैं और

मंसूरी, नैनीतालमें फ्लैशकी बाजी हारकर लाखोंके चैकपर सिगरेट सुलगा डालती हैं। यह है असली सौदा। रोना, कलपना, आहें भरना, आँसू बहाना, तारे गिनना, जूते खाई शक्ल बनाए फिरना—यह सब बेवकूफी है, गँवारपन, गुनाह है—अपने प्रति, समाजके प्रति, संस्कृति-सभ्यता के प्रति और भगवान्‌के प्रति।

दही, मावे और मलाईके चक्करमें हैरान होना और दूधके भण्डारपर पीठ फेर लेना—कोई क्या कहे?

तुम क्रय-विक्रयकी विद्या सीखो, प्रदीप! तुम्हारे पाप नष्ट हो जाएँगे, संकट कट जाएँगे, दारिद्र्य दूर हो जाएगा। क्रय-विक्रयका मन्त्र सिद्ध हो जानेपर सुनयना तो क्या, उससे कहीं श्रेष्ठतर, अलबेली, अनूठी, रंगीन जवानियाँ, प्रफुल्ल प्रशस्त व्यक्तित्व, तेरे क़दमोंको चूमेंगे। सच। सुनयनाके पिता-पितामहको यह विद्या आती थी। सुनयनाके लिए प्रणय की कमी नहीं। उर्मिलाके पूर्वज इस विद्यासे अनभिज्ञ थे—वह बेचारी तेरी मोहताज है, तुझसे प्रणयकी भिक्षा माँगती है। और क्या······

प्रदीप उठकर चल दिया। साँझ हो रही थी। स्कूल बन्द होता होगा। कोठरीमें जाकर सोएगा। उसका अंग-अंग थकान अनुभव कर रहा था।



"कहा तो, कुछ भी नहीं।"

"मैं नहीं मान सकती। आपका शायद जी नहीं लगता।"

"जी नहीं लगना तो नई बात नहीं, भाई! वह तो पुरानी आदत है।"

"पहले तो आप ऐसे नहीं थे।"

"कैसा था पहले मैं?"

"पहले तो कुछ और ही बात थी।"

"हो सकता है कि इतने दिन मैं अपने आपको छुपा रहा था।"
—अलस-सी मुस्कराहट चेहरेपर फैलाकर प्रदीप बोला।

प्रमिला चुप हो गई।

× × × ×

होलीके दिन बनमालाको पढ़ाकर प्रायः नौ बजे रातको जब वह गलीमें निकला तो चाँदनी छिटक रही थी। चारों तरफ हुल्लड़ मचा हुआ था। स्कूलमें जानेको उसका जी नहीं चाहा। सीधा लाल किलेके मैदानमें जा बैठा। वहाँ अपार शान्तिका राज्य था। रजत ज्योत्स्नामें सद्यस्नात लाल किलेकी दीवारें हलके गुलाबी रंगमें झिलमिला रहीं थीं। प्रदीपकी ऐतिहासिक स्मृतियाँ फिर उमड़ने लगी। जहाँ वह बैठा था वहाँ किसी समय मुगल साम्राज्यके अमीर उमराओंकी आलीशान हवेलियाँ थीं और उनके भीतर सजे हुए शयनागारोंमें रात भर······

नहीं···नहीं···। प्रदीप उठकर भाग निकला।

फिर भी उसका जी चाहता था कि ऐसी चाँदनीमें वह दूर तक चले। एकाकी। दूर तक, जहां बस्तीका चिह्न न हो। आदमी नहीं दीख

पड़े। सहसा उसे स्टेशनसे अपने गाँव तक जानेवाली सात आठ मील लम्बी सड़कका ध्यान आया। वह ठीक रहेगी। साढ़े दस बजे भटिण्डा एक्सप्रेस जाती है। एक बजे वह उतर पड़ेगा और खूब जी भरकर चाँदनीमें चलेगा।

रातके साढ़े तीन बजे थे, जब उसने गांवमें अपने घरका द्वार खटखटाया। मां उसको देखकर आँखें मलने लगी।

"मैं हूँ मां। प्रदीप। सांझकी गाड़ी निकल गई। आना जरूरी था। रातकी गाड़ीसे चला आया।"

"तुझे क्या सूझी, प्रदीप। इतनी रात गए, अकेला। चोर चकार, जी जीन्तर हजार आफत होती है, बेटा। आज तो भगवानने खैर रक्खी, किन्तु फिर ऐसी भूल कभी मत करना।"

प्रदीप हंस कर भीतरके कमरेमें चला गया, जहाँ उर्मिला सो रही थी। पिताजी इस बीच कलकत्ते जा चुके थे। वरना अवश्य उसका रास्ता रोकते।

उर्मिला सोई पड़ी थी। प्रदीप चुपचाप उसके बराबरमें लेट गया। फिर गुदगुदाकर उसे जगा दिया। आँखे मलते हुए वह बोली—"कैसा सपना था!"

"क्या सपना देख रही थी, उर्मि?"

"हाँ!"

"सुनूँ तो क्या-क्या देखा?"

"तुम्हारी दूसरी शादी हो गई!"

"क्या बक रही हो। पानीसे मुँह धोकर आओ!"

"वक्त नहीं रही। सच, यही तो सपना देखा है। तुम्हारी दूसरी शादी हुई, एक बहुत अमीर बापकी बेटीसे। सोनेसे बापने उसका शरीर पीला कर दिया।"

"शकल सूरत कैसी थी उसकी ?"

"एकदम काली। तवेसी काली। नकटा नाक, दाँत बाहर निकले हुए।"

"हूँ। और तुम ?"

"मैं। मैं तुम्हारे ब्याह करते ही चली गई, अपने पिताके घर। वहीं मणिका जन्म हुआ। और फिर······जाने दो, क्या करोगे सुनकर।"—प्रदीपकी ओर आँखें घुमाकर वह बोली।

"नहीं, नहीं, सब सुनाओ ?"

"और नहीं सुनाउँ तो ?"

"मैं सचमुच दूसरी शादी कर लूंगा।"

"तो जाओ ना। सुनाते किसे हो ?"—और उर्मिला पीठ फेरकर लेट गई।

"शरीर कहीं की। मैं दूसरी शादी करने निकला और पाला पड़ा काली, कलूटी, नकटी, बाहर निकले दाँतोंवालीसे। धत्। क्या बात बनाई है।"

"बात बनाई हैं! क्यों बनाने लगी मैं बात ? जैसा सपना देखा सच-सच सुना रही हूं।"—उर्मिला करवट बदलकर बोली।

"अच्छा आगे सुनाओ।"

"अपने पिताके घर रहकर मैं पढ़ने लगी और एम. ए. पास किया। फिर हो गई दिल्लीके कालिजमें प्रोफेसर। मणिकी उमर उस समय होगी........कोई सात साल।"

"बड़ी जल्दी पढ़ी तुम। यहां तो सोलह वर्ष हो गए, अभी भी एम० ए० की डिग्री मिलनी बाकी है।"

"चार-चार मास्टर पढ़ाते थे मुझे।"

"ओ। अच्छा, फिर?"

"एक दिन दिल्लीके एक बागमें मणिको लेकर टहल रही थी कि तुम से भेंट हो गई......"

"मोटरमें जा रहा हूँगा मैं?"

"हवाई जहाजमें! साहबके सिर पर टोपी नहीं थी और पैरोंके जूते नदारद।"

"टोपी तो खैर मैं पहनता नहीं। पर जूते नहीं होना नहीं मान सकता। क्या उस समय बाटाकी दुकानें उठ गई थीं?"

"किसकी दुकानें?"

"अच्छा, छोड़ो। हाँ तो फिर?"

"तुमको देखकर, सच, मेरी आँखोंमें आंसू आ गए। अपनी मोटर में बैठाकर अपने बासे पर ले गई। नहाने धोनेके बाद तुमको नए कपड़े दिए......

"साड़ी और ब्लाउज।"

"नहीं, धोती-कुरता।"

"पर धोती-कुरता आए कहाँसे, महारानीजी ? क्या तुमने भी नई शादी कर डाली थी ? अपनी बात छुपा गई ना ?"

"सबको अपने-सा समझते हो। मैं क्यों नई शादी करने लगी ?"

"तो ये धोती-कुरता कहाँसे निकल आए ? क्या……"

"फालतू बातोंसे क्या मतलब। सपनेमें सब असली दुनियाकी तरह तो होता नहीं। सपना सपना है।"

"अच्छा। आगे सुनाओ।"

"तुमको खिला-पिलाकर……"

"तो मैं भूखा भी मर रहा था…खैर…हां, फिर।"

"तुम्हारे घर ले गई। वहाँ देखा तुम्हारी नई घरवालीको। जैसी काली सूरत वैसे ही काले कपड़े…"

"नाक भी बह रही होगी ?"

"घर छोटे-छोटे बच्चोंसे भरा था। गिननेमें नहीं आते थे…."

"कितने कमरे भरे थे ? मैं अभी हिसाब लगाकर बता दूँगा।"

"कमरे ! एक छोटी-सी कोठरी तो सारी ही थी।"

"ओ ! फिर ?"

"बस, इसी समय तुमने जगा दिया।"

"अच्छा, तुम अभी सो जाओ और बाकीका सपना देख डालो। कल सुबह सुन लूँगा।"—कहकर प्रदीपने पीठ मोड़ी और सोनेका उपक्रम करने लगा।

प्रदीपको एक बहुत पुरानी बात याद आई।

उस समय वह नवीं क्लासमें पढ़ा करता। संस्कृतका व्याकरण कमजोर होनेसे स्कूलमें पण्डितजी रोज मारने दौड़ते थे। उसने नियम बनाया था कि प्रातःकाल उठकर प्रति दिन कम्पनी बागमें जाएगा और व्याकरण रटेगा।

एक दिन वह बेञ्चपर बैठा "लता...लते...लताः" फुसफुसा रहा था कि एक आबनूसी सूरतके सज्जन बराबरमें आ जमे। बड़ी बेतकल्लुफी से उन्होंने प्रदीपकी जात-पात, घर-गाँव, उमर, काम, सब पूछा और फिर डायरी निकालकर उसके जीजाजीका ठिकाना नोट कर लिया। अगले दिन संध्या समय स्कूलसे लौटकर जीजाजी सुनाने लगे कि कोई हज़रत अपनी लड़कीकी सगाई लेकर आए थे। वे कह रहे थे कि सोने से लड़कीको पीली बना देंगे। इसके सिवाय प्रदीपको तुरन्त ही छोटे जजकी कचहरीमें मुंशीकी जगह दिलवानेका वायदा कर रहे थे। तीस रुपए महीना तलब और ऊपरसे......।

उर्मिलाके सपनेमें झूठ कुछ भी नहीं। उस निमन्त्रणको स्वीकार करते ही सब कुछ सत्य हो जाता। डरसे प्रदीप सिहर उठा। जैसे डूबते-डूबते बचा हो। उठकर बैठ गया।

उर्मिला बेखबर सो रही थी। चुपचाप उठकर प्रदीपने कपड़े पहने और बाहर निकल पड़ा। माँ खाटपर बैठी भजन गुनगुना रही थी। सवेरा होनेमें एक घण्टेकी देर होगी। प्रदीपको देखकर बोली—

"कहाँ जा रहे हो, बेटा! अभी तो बहुत तड़का है।"

"नींद नहीं आई, माँ! घूमकर आता हूँ।"

"साँझको कुछ खाया नहीं होगा। खाली पेट नींद कैसे आती।"

कितनी सीधी बात थी। कार्य-कारणका कैसा सरल हिसाब-किताब।

बसन्तकी प्रातःकाल थी। मैदानमें अभी भी हल्की चाँदनी छिटक रही थी। शीतल, मन्द वायुका स्पर्श मलयानिलकी याद दिलाने लगा। किन्तु प्रदीपके मनमें उचाटी लगी थी। उर्मिलाने सपनेमें उसके भविष्य का जो बीभत्स चित्र खींचा था, वह आँखोंमें गड़ने लगा। क्या असम्भव है कि भाग्यने उर्मिलाका आश्रय लेकर भविष्यवाणी की हो? प्रदीप अपने भविष्यपर विचार करने लगा।

एम० ए० पास कर लेनेपर उसको कहीं क्लर्क बनना होगा। टोपी और जूतेके लिए कदाचित् ही पैसे बच पाएँ। रहनेको तो कोठरी मिलेगी ही। साबुन नहीं मिलनेके कारण उर्मिला काली पड़ जाएगी। आए साल बच्चे होनेके कारण, भर पेट खाना नहीं मिलनेके कारण, उसके दाँत निकल आएँ तो कोई आश्चर्य नहीं। इसके सिवाय······

भयके मारे प्रदीपको पसीना छूटने लगा। किन्तु भविष्यके इस काले चित्रने उसकी आँखोंसे टलना नहीं चाहा। वह हल्की चाँदनी, वह मलयानिल, वह दूर-दूर तक फैला मैदान, क्षितिजके कोनेसे उठनेवाली ऊषाकी शरमीली लालिमा—कुछ भी उसके अन्तरमें आशा नहीं उभार सकी।

किसान स्त्री-पुरुष खेतोंपर जा रहे थे। प्रदीपने सोचा, ये सुखी हैं। न महत्त्वाकांक्षा, न भयका भूत।

किन्तु ये तो पशु हैं। मिट्टीकी मूरतें। इनको संसारमें व्याप्त वेदनासे क्या वास्ता। इन्हें क्या मालूम कि इस समय एक महायुद्ध की आगमें सारा यूरोप और एशिया झुलसा जा रहा है। इनको क्या

मालूम कि सामाजिक और राजनैतिक बवण्डर उठकर पलक झपकते इनकी दुनियाँको मसल डालेंगे। इनको……

"डरकर भागो मत, प्रदीप!"—उसके अन्तरके एक कोनेसे आवाज़ आई—"भयका भूत तुम्हारा पीछा करेगा। पीठ मत दिखाओ। सीना तानो। चुनौती स्वीकार करो। ललकारकर कहो कि तुम लड़ोगे। लड़े बिना किसीको कुछ मिलता नहीं……"

"किन्तु किससे लड़ूँ?"—प्रदीपके भीतरसे कोई और बोला—"कोई तो सामने नहीं। मुफ्तमें खून उबालना बेईमानी है। मैं कर ही क्या सकता हूँ? अच्छी नौकरी नहीं मिली, तो किससे लड़ूँगा? बच्चोंने घर भर दिया, तो किससे लड़ूँगा?……"

"लड़ाईका एक साधन है।"—वह पहली आवाज़ आगे बढ़ी—"क्रय-विक्रयका मन्त्र। खगोल, भूगोल, भूगर्भ-शास्त्र, प्राणी-विज्ञान, समाज-शास्त्र, नीति-शास्त्र—सब धोखा है, मृग-मरीचिका, एक भारी मिथ्या, मूढ़ अज्ञान। सब भुला देना।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धि व्यतितरिष्यसि।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥

पटको यह पुस्तकोंका भार। क्यों गधेकी नाईं बोझ ढोते हो?

'एक ही साधे सब सधे, सब साधे सब जाँय।'

क्रय-विक्रयका मन्त्र—लाभ-शुभकी टेर।"

जोहड़ीके किनारे गाँवके सेठसे भेंट हो गई। रुग्ण होनेके कारण कलकत्तेसे लौटकर वे गाँवमें विश्राम कर रहे थे। रोज तारसे खबर पाते थे कि पाट और बोरेका, इण्डियन आयरन और मार्टिन-बर्नका क्या

भाव रहा और तार द्वारा अपने कलकत्तेके आफिसको क्रय-विक्रयका मार्ग सुझाते थे। उनकी कार नित्यप्रति शहर जाकर उनके लिए फल और दवा तथा, ज़रूरत होनेपर, डाक्टर ले आती थी। उनकी बैठकमें लोगोंकी पंचायत जुड़ी रहती।

प्रदीपको सचमुच इनके प्रति श्रद्धा हो चली। इतने दिन तक वह इनको महा मूर्ख मानता आया था। आज सोचा कि वह भूल कर रहा था। इनको गुरु बनाना होगा। इनसे मन्त्र लेना होगा।

बड़े विनम्र भावसे हाथ जोड़कर वह बोला—

"राम राम, चाचाजी!"

"राम राम, भाई! कहो अच्छे हो?"

"हाँ, आपकी दया है।"

"क्या करते हो आजकल?"

"अभी एम० ए० का इम्तिहान दूँगा।"

सेठजीके मुँहपर व्यंगमय मुस्कान फैल गई। बोले कुछ नहीं।

"आपका जी कैसा है, चाचाजी?"—प्रदीपने पूछा।

"क्या बताऊँ, तबियत सँभल नहीं पा रही है। इधर कलकत्तेमें कारबार चौपट हुआ जा रहा है। ऐसा बाजार चले। मैं वहाँ होता, तो दस-बीस लाख खींच लेता। पर किस्मतके बिना क्या होता है, भाई!"—सुस्त पड़कर सेठजी कह गए।

लौटते समय रास्तेमें सेठजी बिना जिज्ञासा किए ही अपने ज्ञान और अनुभवका भेद प्रदीपपर खोलने लगे। सारांश यही था कि क्रय-विक्रय

के रणांगणमें जब उन्होंने मैदान मारा, तो अपनी बुद्धि और जागरूकता के कारण, और मैदान हारा, तो बदकिस्मतीके कारण।

"तो यह बात है, भाई! लक्ष्मीके आगे सब सिर झुकाते हैं। तुम एम० ए० हो जाओ चाहे लन्दन पास, हमारी बराबरी नहीं कर सकते।"—सेठजीने फैसला दे डाला।

"आप भूल करते हैं, चाचाजी! हमारी आपकी भला क्या बराबरी। सरस्वतीका वाहन होता है हंस। और लक्ष्मी तो........"

"हाँ, बोलो। लक्ष्मीका वाहन क्या होता है?"

"उल्लू।"—प्रदीपने झोंकमें कह डाला।

"ठीक तो है। हंस तो सीधा-सादा प्राणी होता है, कोई भी उसपर चढ़ बैठे। किन्तु उल्लू-जैसे बदमाश, बेईमान जानवर पर सवारी करनेके लिए छातीमें बाल चाहिए। बहुत ठीक। कहाँ लिखा है यह? तुम्हारी किताबोंमें?"

प्रदीप बौखला गया। उसका निशाना चूका ही नहीं, तीर उल्टा आकर उसको बेंध गया। सेठजीपर उसकी श्रद्धा फिर उमड़ आई।

"आप बुरा तो नहीं मान गए, चाचाजी! बहसमें मैं बहुत बार बदतमीजी कर बैठता हूँ।"—प्रदीप बोला।

"नहीं, भाई! बिल्कुल भी नहीं। बदतमीजी कहाँ। तुमने तो बड़े पतेकी बात कही है। अच्छा, मेरा रास्ता इधर है। ठहरोगे ना तुम? गद्दीपर आना। रोज हिन्दुस्तान टैम आता है।"—कहकर वे चले गए।

प्रदीपको गाँवमें घुसते ही किसान औरतोंने घेर लिया। इसके पहले कि वह स्थितिको समझ पाता, लकड़ी और कोड़े पड़ने लगे। एक बूढ़ी आकर उसे नहीं छुड़ाती, तो शायद उसकी हड्डियाँ बिखर जातीं। बुढियाने उसे समझाया कि उस दिन फाग थी। उसे घरसे नहीं निकलना चाहिए था। गाँवमें लोग रंग डालकर ही बस नहीं करते।

३३

तेईस मार्चसे प्रदीपकी परीक्षाएं थीं। उसके बाद······

रह-रहकर वह यही सोचा करता। क्या करेगा? कई बार उसको एक पुरानी बात याद आती। दसवीं पास करनेपर पिताने आग्रह किया था कि वह कलकत्ते जाकर बोरेके बाजारमें दलाली करे। उस दिन प्रदीपको भयानक खीज उठी थी। उसको विश्वविद्यालयमें उच्च स्थान पानेके कारण छात्रवृत्ति मिलनेवाली थी। घरवालोंसे वह खरच नहीं मांगेगा, उलटा कुछ-न-कुछ देगा। उसका अपना खरच न-कुछ सा था उन दिनों। आजसे भी कम।

पर आज? आज उसको किनारा नहीं सूझ पाता था। एम० ए० की परीक्षा एक पार्वतीय शिखरकी नाईं थी। उसपर आँख जमाकर वह बढ़ता गया। किन्तु आज ऊपर पहुँचकर उस पार देखते ही उसका दिल बैठा जा रहा था। उस पार गाढ, नीरव तिमिरका साम्राज्य था और

आँख फाड़-फाड़कर देखनेपर भी वह कुछ नहीं देख पा रहा था। बहुत सोचनेपर भी उसको दीख पड़ते थे हिन्दुस्तान टाइम्सके विज्ञापन जिनमें नित्यप्रति नौकरियोंके पते निकलते थे और जिनके पीछे पड़कर कोई भी अपना भाग्य आजमा सकता था। किन्तु उनको पढ़ते-पढ़ते एक दिन भी उसको विश्वास नहीं हो सका कि सारी डिग्रियां लेकर भी वह किसी नौकरीके लिए आवेदन पत्र लिख सकेगा। टाइपिस्ट, स्टैनोग्राफर, सेल्समैन और कला-कौशल जाननेवालों की मांग निकलती थी। मामूली क्लर्कों के लिए भी अनुभव होना चाहिए। और वह ठहरा एकबारगी अनाड़ी, एक प्रकारसे भोंदू। उसे आफिसके भीतर भी कौन घुसने देगा?

परीक्षा निकट आती थी और प्रदीपके मानसपर वेदना की घटा गहन होती जाती थी। धीरे-धीरे मनमें एक पश्चाताप भरने लगा। क्यों नहीं उसने अपने पिताकी बात मानी। कलकत्तेमें मायाकी नदियां बहती हैं। उसमें गोता लगाकर अब तक वह भी पारसका हो गया होता। कौनसी अकलकी बात थी उस काममें। कोई खरीदता, कोई बेचता, वह घूम फिरकर दोनोंको मिला देता। दस-बीस, पचास-सौ रोज सीधे हो जाते। कभी-कभी पचीस गांठका दांव लड़ाकर कुछ खोई कमाई कर लेता। किस्मत जाग सकती थी। पर अब तो उसे किस्मत बेच देनी होगी।

अचानक आशाकी किरण फूट निकली। डूबतेको सहारा मिला। एक दिन केन्द्रीय सरकारके होम डिपार्टमेन्टसे उसको एक पत्र मिला कि सौ रुपये महीनेपर प्रथम श्रेणी के क्लर्ककी जगह उसको तुरन्त मिल

सकती है। दो साल पहले वह एक सरकारी परीक्षामें बैठा था। पुरानी बात, वह भूल चुका था। किन्तु सहसा उसका भविष्य चमक उठा। एक बार तो जी चाहा कि परीक्षा आदिका टण्टा छोड़कर सीधा नौकरी पर चला जाय। इधर-उधर पूछताछ की तो पता चला कि वह चाहे तो सरकार एक-दो महीनेकी अवधि दे सकती है। पत्र लिखा, उत्तर मिला कि परीक्षा समाप्त होनेपर अवश्य बुला लिया जाएगा। प्रदीप एक प्रकारसे निश्चिन्त हो गया।

पर मनमें जिज्ञासा सी, कौतुहलसा बना रहने लगा। सरकारी दफ्तरमें क्या करना होता हैं, यह वह नहीं जानता था। कुछ मित्र बी० ए० पास करके नौकर हो गए थे। उनसे मिलकर डरते-डरते उसने पूछ-ताछ की। पर उसकी समझमें खाक भी नहीं आया। उनकी भाषा ही विचित्र थी।

उस दिन सांझके झुटपुटेमें काफीखानेसे निकलकर उद्देश्यहीन भावसे वह नई दिल्लीके फुटपाथ नाप रहा था। मनको शान्ति नहीं थी। न कुछ करनेको जी चाहता था, न खाली बैठनेको।

सहसा एक टमटम आकर उसके ठीक बगलमें रुक गई। वह बढ़ जाता किन्तु भीतरसे एक परिचित स्वर सुनकर रुक गया। कोई नारी-कण्ठ कूक उठा था—"कोचवान रोको।"

प्रदीपने मुड़कर देखा। सुनयना बैठी थी। अकेली। आँखें चार होते ही वह मुस्करा दी। फिर वे पतले और अधिकतर मौन रहनेवाले अधर खुले—"कहाँ जा रहे हैं? आइए पहुँचा दूँ।"

"कहीं विशेष नहीं जाना । यूँ ही टहल रहा था।"—प्रदीप बोला। उसका मन अस्वस्थ होता जा रहा था।

"आइए। मुझे भी थोड़ा घूमना है। फिर कुछ शॉपिंग करनी है। आप साथ रहेंगे तो अच्छा होगा।"—टमटमका दरवाजा खोलते हुए सुनयनाने कहा।

"किन्तु तुम अकेली हो, सुनयना।"

"तो क्या हुआ?"

प्रदीपकी समझमें नहीं आया कि क्या कहे। पर उसके भीतर कुछ कह रहा था कि अकेले सुनयनाके साथ गाड़ीमें बैठना ठीक नहीं होगा।

"एक महीनेसे कुछ दिन ऊपर हुए हैं, आप मुझसे मिले थे। उस दिन तक तो आपमें यह झप नहीं थी। इस बीचमें एकदम बदल गए आप?"—सुनयना कह गई। प्रदीप कुछ नहीं बोल पाया।

"सोचती हूं कि सम्भवतः कुछ दिन पश्चात् आप देखकर भी नहीं पहचानेंगे। अच्छा। नमस्कार। गाड़ी बढ़ाओ, कोचवान।"—वह सीधी होकर बैठ गई और मुँह फेर लिया। गाड़ी चल पड़ी।

प्रदीप खड़ा रह गया। मनके भीतर एक धुआँ सा भर चला। यह सब क्या हुआ? क्यों उसने अनजानमें सुनयनाका अपमान कर डाला?

एक घण्टे बाद वह सुनयनाके घरमें बैठा था। वह अभी लौटी नहीं थी। प्रदीप नीचेके कमरेमें बैठकर धुआं उड़ाने लगा। न जाने कितनी

देर हुई होगी, नौकरने आकर कहा कि बीबीजी ऊपरके कमरेमें बुला रही हैं। प्रदीप चुपचाप उठकर सीढ़ियाँ चढ़ गया।

कमरेमें सन्नाटा छाया था। कपड़े बदलकर सुनयना अपने पलंगपर दीवारसे उटंगकर बैठी थी।

प्रदीपके बैठते ही वह स्वरको भरसक नरम बनाकर बोली—

"आज तो बहुत दिनमें आए आप !"

"हाँ। तुम्हारे पास आकर कोई करे भी क्या ?"—प्रदीप भरसक कठोर बनकर बोला।

"कोई कौन ? आप तो 'कोई' नहीं हैं। आप तो आप हैं।"

"मैं, मैं ही सही। बताओ तो तुम्हारे पास आकर क्या लेता ?"

"दिलको टटोलिए। उत्तर मिल जाएगा।"

"किन्तु एक तरफा उत्तरके क्या मायने होते हैं, सुनयना ?"

"आप सोचते हैं, क्या इसीलिए, उत्तर एकतरफा है ?"

"तो क्या......?"—उठकर खड़ा हो गया प्रदीप। किन्तु इसके पूर्व कि वह कोई हरकत करता सुनयना हँसकर बोली—

"बैठ जाइए। यह सिनेमाका स्टेज नहीं। भले आदमियोंका घर है !"

प्रदीप झेंप गया। एकक्षण सन्नाटा छा गया।

"आज पूछती हूँ। बताइए, आप मुझसे प्यार करते हैं ?"—गम्भीर भावसे सुनयनाने पूछा।

"हां, करता हूँ !"—प्रदीपने उत्तर दिया।

"भला क्यों ?"

"भावनामें 'क्यों' नहीं होता, सुनी।"

"होता है। आप उसे पा नहीं सके, सो अलग बात है।"

"तुम पा सकी हो?"

"हाँ।"

सहसा प्रदीपकी हिम्मत नहीं हुई कि आगे कुछ पूछ ले। सुनयना स्वयं ही कहने लगी—

"वास्तवमें प्यार हमारे समाजमें प्रचलित अनेक ढकोसलोंमेंसे एक है। फिर भी समस्त ढकोसलोंके आरपार देख सकनेवाले इसके शिकार हो जाते हैं। इससे बढ़कर भयानक मनकी कमजोरी और नहीं होती, प्रदीपजी।"

"यह तुम क्या कह रही हो, सुनी।"

"ठीक ही कह रही हूँ। वासनापर लीपापोती करके आप उसको साधना नहीं बना सकते।"

"फिर भी.........।"

"फिर भी क्या? भावनाको नंगी करके देखिए, 'फिर भी' रहता है कि नहीं। रूढिके मार्गपर भावनाको बढ़ाकर आप सोचते हैं कि आप कोई नवीन अनुभव कर रहे हैं। किन्तु यह तो युग-युगसे चला आया पागलपन है।"

"पागलपन?"

"हाँ, पागलपन। अन्तर इतना है कि प्रत्येक युगमें कवियों और कथाकारोंने अण्डबण्ड इसकी महिमा गा कर लोगोंकी आँखोंमें धूल

झोंकी है। खैर उन लोगोंका तो यह पेशा रहा है, इसमें उनकी रोटी है। आश्चर्य तो यह है कि आप जैसे बुद्धिशाली झांसेमें आ जाते हैं।"

"झांसेमें इतनी प्रबल प्रेरणा नहीं हो सकती।"

"क्यों नहीं हो सकती? मृत्त पतिकी चिता पर जल मरनेवाली स्त्रियोंकी प्रेरणा क्या कम प्रबल थी? पंचम जातियोंको कीट-पतंग समझनेवाले कुलीन ब्राह्मणोंकी प्रेरणा क्या कम प्रबल है? जिस व्यवहारको हम कुछ दिन उचित और स्वाभाविक मानकर चलें उसीमें प्रेरणा भर जाती है। यह स्त्री-पुरुषका पारस्परिक प्यार भी तो इसी प्रकारकी एक परम्परा है। परम्परासे बाहर निकल कर सोचिए।"

"स्त्री-पुरुषके बीच जो स्वाभाविक आकर्षण है उसको तुमने बड़ी आसानीसे भुला डाला, सुनयना।"

"वह आकर्षण तो प्रकृतिके सृष्टि कर्मको चलानेके लिए रसभरा आदेश मात्र है। वह नौकरी निभानेको आप प्यार मानते हैं—यह तो बड़ी दयनीय बात है।"

कह कर सुनयना अलस भावसे मुसकराने लगी। प्रदीप भौंएं चढ़ा कर गम्भीर भावसे बोला—

"तुम समझ नहीं रही हो, सुनयना। प्यार केवल वासना नहीं है। वासना तो, वास्तवमें, वहाँ है ही नहीं। वह तो शुद्ध, परिमल, सूक्ष्म…"

"भावना है। यही तो। पर वैसी भावना पुरुष-पुरुष अथवा स्त्री-स्त्रीके बीच क्यों नहीं उपजती और उपजती है तो क्यों गर्हित मानी जाती है? बताइए तो।"

"किन्तु वह एक विशेष प्रकारकी भावना है जो केवल स्त्री और पुरुषके बीच ही जन्म लेती और पनपती है।"

"वह विशेषत्व ही तो मैं जानना चाहती हूँ। वह यौन-वासना नहीं तो क्या है? सूक्ष्म हो, शास्त्र विहित, समाज-सम्मत, लैला मजनूंकी परम्परामें, चाहे केवल आधारस्वरूप ही हो—वासना तो वासना है। उसको आप और कुछ कैसे बना डालेंगे?"

"फिर भी········"

"देखिए दर्शनके विद्यार्थी होकर आप न्यायका मूलसूत्र भुलाए डालते हैं। 'फिर भी' तो एकबारगी निरर्थक है। 'फिर भी' के क्या मायने?"—कुछ असहिष्णुसे स्वरमें सुनयनाने कहा।

"मेरा मतलब है कि प्यारके फलस्वरूप सहवासमें जो आनन्द, सहयोग, सहकर्म और सहचर्यामें जो तीव्रता आ जाती है, वह और किसी प्रकार भी सम्भव नहीं।"

"यह तो आपने प्रश्न ही बदल डाला। सवाल था प्यारके मूलस्त्रोत का, फलोपलब्धिका नहीं। खैर।"—एक सांस लेकर सुनयना कहने लगी—"मुझे ऐसा लगता है कि जीवनमें अभी तक आपको कोई अंतरंग मित्र नहीं मिला।"

"हाँ, वह तो नहीं मिला। मिलता भी कैसे···"

"वह बात जाने दीजिए। मैं कहना चाहती थी कि वैसा मित्र मिला होता—पुरुष मित्र—तो आपको सहवासके आनन्द और साहचर्यकी तीव्रताका अनुभव बिना प्यार किए ही हो जाता।"

प्रदीप कुछ नहीं बोला। अपलक नयनोंसे, फिर भी निरर्थक दृष्टिसे सुनयनाको देखता बैठा रहा। सुनयना उसकी ओर न, देख एक शून्य भावसे ऊपरकी ओर देख रही थी।

मौनका पार न पाते देखकर प्रदीप उठा। किन्तु पाँव उठानेके पहले ही सुनयना बोल उठी—

"आपने अभी कहा था कि आप मुझसे प्यार करते हैं। क्या मैं पूछ सकती हूँ कि एकान्तमें आप मेरे विषयमें क्या सोचा करते हैं?"

"यही कि……यही कि……तुम कितनी अच्छी हो, कितनी…… तुम्हारे साथ बात करनेमें कितना आनन्द मिलता है। और……और क्या? बस। यही तो।"

"आप झूठ बोलते हैं!"—अत्यन्त कोमल, फिर भी तीखे स्वरमें सुनयना बोली।

"मैं झूठ क्यों बोलने लगा?"

"क्योंकि प्यारका एकमात्र फल है व्यक्तिको कायर और झेंपू बना देना, अन्यथा आप……ठहरिए। बैठ जाइए। मैं बताऊँगी, आप क्या सोचते हैं।"

प्रदीप बैठ गया। उसके मुखपर आशंकाकी छाया उभर आई। न-जाने यह अजीब लड़की क्या कहेगी। सुनयनाके होंठ फड़क रहे थे, आँखोंमें निर्मम चमक थी। वह बोली—

"आप सोचते कुछ भी नहीं। आपके मस्तिष्कमें मुझे लेकर मूर्तिमय कल्पनाओंका ज्वार आया करता है। उस दिवास्वप्नमें आपके अधर मेरे अधर चूमते हैं, मेरे कपोल सहलाते हैं। आपके नयन मेरे नयनोंमें

डूब जाते हैं। आपकी साँस मेरी साँसोंमें घुल-मिल जाती है। आपका वक्षस्थल मेरे पीन, दृढ़, गुदगुदे स्तनोंपर मूर्च्छित हो जाता है। आपका एक हाथ मेरे कोमल, चिकने केशभारपर, मेरे क्षीण कटिप्रदेशपर, मांसल नितम्बोंपर, फड़कती जाँघोंपर, विवश, विह्वल-सा दौड़ता है और दूसरा मेरी ग्रीवामें शिथिल भावसे लिपट जाता है। और······और आगे जाने दीजिए। क्या करेंगे, सुनकर। लाजसे आपका सिर झुक जाएगा।"

एक ढीठ भावसे हँस उठी सुनयना और फिर जैसे प्रसंगको एकबारगी समाप्त करनेके आशयसे वह आगे सरककर पलंगसे नीचे उतर पड़ी। प्रदीप सन्नाटेमें आया-सा बैठा रहा।

सुनयना अपने शृङ्गार-टेबुलके सामने बैठकर अपने अस्त-व्यस्त केशोंमें अलस भावसे कंघी करने लगी। कमरेमें एक भयावह सूनापन भर उठा।

सहसा प्रदीप उठा और सुनयनाके सामने टेबुलके एक कोनेपर आधा बैठकर उसे निहारने लगा। सुनयनाने न उसकी ओर देखा, न कुछ बोली। यन्त्रवत् बैठी मूढ़ भावसे बालोंमें कंघी फेरती रही। कुछ संयत-सा होकर, टुक आगेकी ओर झुक, धीमी आवाजमें प्रदीप कहने लगा—

"अच्छा, सुनी! माना कि मैं तुम्हारी यौवनसे छलछलाती देहका कल्पनामें उपभोग करता हूँ; किन्तु उसमें दोष क्या है?"

"दोषकी बात तो मैंने नहीं कही। मैं तो केवल प्यारकी परिभाषा कर रही थी। परिभाषामें मूल्य नहीं आँका जाता।"—बिना सिर उठाए ही सुनयनाने उत्तर दिया।

"परिभाषा तो बुरी नहीं......।"

"बुरी है। इसका अर्थ है मुफ्तमें जी जलाना। छायाके पीछे दौड़ना। सर्वथा मूर्ख बनना।"

"और किया ही क्या जा सकता है?"—प्रदीपकी आवाजमें बेबसी भरी थी।

"सब-कुछ किया जा सकता है। केवल साहस चाहिए और चाहिए कल्पनाकी अपेक्षा सत्य वस्तुका लोभ।"

"और यदि मैं कह दूँ कि वह लोभ मुझे भी है?"

"तो आपका रास्ता कौन रोक सकता है?"—आँखें ऊपर उठाकर सुनयनाने पूछा।

उसकी मुख-भंगिमामें भय, लाज, संकोच-जैसा कुछ नहीं था। थी तो एक सरल जिज्ञासा मात्र। प्रदीप लड़खड़ा गया। यह आवाहन सर्वथा अप्रत्याशित था। सुनयनाने कंघा मेजपर रख दिया और प्रदीपके घुटनेपर एक हाथ रखकर कहने लगी—

"कलसे मैं आपके प्यारका प्रत्युत्तर दूँगी। मैं भी आपसे प्यार करती हूँ।"

"सच?"—प्रदीपको रोमांच होने लगा।

"हाँ, सच। झूठ बोलनेकी मुझे आदत नहीं। नई दिल्लीके किसी अच्छेसे होटलमें कमरा ठीक कर लीजिए। खर्चकी आपको परवाह नहीं। वहीं, मैं और आप मुहब्बतका जशन मनाया करेंगे—रोज...... सन्ध्या समय। क्यों? स्वीकार है आपको......

सुनयनाकी बात पूरी होनेसे पहिले ही प्रदीप तमक कर खड़ा हो गया। सुनयना बोली—

"तो मेरा प्रस्ताव आपको जँचा नहीं। आपके नैतिक मनोभावको ठेस लगी। आप समझते रहे हैं कि नैतिक मनोभावको आपने कुचल कर मिटा डाला है। पर वह तो आपके मानसमें सिर छुपाए बैठा है······

"इसमें नैतिक मनोभावका प्रश्न ही नहीं उठता, सुनी! अन्ततः उचित-अनुचित भी तो होता है। मैं······

"उचित-अनुचित तो सबका मेल नहीं खाता, प्रदीप बाबू! जबकि दिल मिल जाता है। आखिर हर्ज क्या है?"

"यह कैसे ठीक हो सकता है?"

"पर आप जिसे ठीक समझते हैं, उसे मैं ठीक नहीं मानती। आप मुझे धर्मपत्नी बनाना चाहते हैं। यही तो? आपके दारिद्रय, गन्दगी और कुसंस्कार मैं भी सिरपर ओढ़ लूँ, आपके घरके बर्तन माँजू, कपड़े धोऊँ, यही तो आप चाहते हैं। वह इसलिए कि आप मुझे प्यार करते हैं। किन्तु सौदा करनेसे पहले मैं भी तो अपनी सुविधा-असुविधाका विचार कर देखूं। सोचती हूँ कि इस सौदेमें मैं सोलहों आने ठगी जाऊँगी।"

प्रदीप कुछ नहीं बोल सका। सुनयना एक क्षण रुककर फिर कहने लगी—

"आप मुझे प्यार करते हैं, मुझे गर्व होता है, आनन्द मिलता है। किन्तु आप यह आशा क्यों करते हैं कि सारा रास्ता मैं ही तय करूँ?

आप भी तो आगे आइये। आपका प्यार क्या आपको प्रेरणा नहीं देता ?"

उत्तरकी अपेक्षासे वह प्रदीपका मुँह ताकने लगी। प्रदीप जड़वत् खड़ा रहा। वह फिर बोली—

"आपका साहस साथ नहीं देता। कोई आश्चर्य नहीं। पर हठ छोड़ दीजिए, लौट जाइए। आप प्यारकी डींग हाँकते हैं, प्यार निभाना नहीं जानते।"

सुनयना उठकर कमरेके बाहर चली गई।

दो क्षण बाद प्रदीप भी भीगी बिल्लीकी तरह मकानसे निकलकर बढ़ चला।

३४

विद्यार्थी जीवनकी अन्तिम परीक्षाका अन्तिम परचा देकर प्रदीप जब यूनिवर्सिटी हालसे बाहर निकला तो उसका संसार बदल चुका था।

एक दिन एक विद्यार्थीको परीक्षा-पत्रके विषयमें चिन्तित देखकर उसने कहा था—"अरे, इन सब थोथी परीक्षाओंका क्या महत्त्व है, जबकि जीवनकी परीक्षा अभी सामने पड़ी है।"

पहाड़ीपर चढ़ते-चढ़ते वह यही सोचने लगा। जीवनकी परीक्षा ! कैसी परीक्षा है वह ?

विद्यार्थी-जीवनकी परीक्षाएँ वह समझता था। उसमें क्या प्रश्न पूछे जाते हैं और क्या उत्तर देने होते हैं, इसका उसे अच्छा अनुभव था। किन्तु यह जीवनकी परीक्षा! इसके क्या उत्तर हो सकते हैं? प्रश्नोंसे ही परिचय नहीं।

पीछेसे गाड़ीका भोंपू बोला और वह एक ओरको हटकर खड़ा हो गया। सुन्दर शेवरोले कार थी, चमचमाते गहरे नीले रंगकी। पास आनेपर उसने देखा कि पिछली सीटपर मिस खन्ना और मिस उत्तमसिंह बैठी हैं। यह दूसरी लड़की उसके कालेजकी न होकर भी उसकी सहपाठिनी थी। अपने कालेजकी मिस गांगुलीकी भाँति इसके रूप-यौवनकी ख्याति भी उसने कैफेके समाजमें सुनी थी। एक-दो बार यूनिवर्सिटीकी सम्मिलित क्लासोंमें प्रदीपने उसे देखा भी था। आज उन दोनोंकी दृष्टि प्रदीप पर जमी थी। कार धीरे-धीरे चल रही थी, चढ़ाईके कारण अथवा आरोहियोंका आदेश पाकर। मिस खन्नाकी आँखोंमें परिचय था, मिस उत्तमसिंहकी आँखोंमें कुछ विस्मय-सा। प्रदीप उस विस्मयका अर्थ लगाने लगा। शायद पहिले-पहल उसने मिस खन्नाके बतानेपर विख्यात विद्यार्थी प्रदीपको देखा था। अनेकों बातें सुन चुकी थी वह। प्रदीप क्लासमें नहीं आता। प्रोफेसरोंको मूर्ख समझता है। पढ़कर कभी नोट नहीं लेता। अनेक विषयोंमें प्रवीण है, इत्यादि-इत्यादि। सहसा उसको विश्वास नहीं हो पाया कि यह सांवला, सूखा, बेढंगा, अस्त-व्यस्त, असमयमें बूढ़ा नवयुवक प्रदीप हो सकता है। इत्यादि, इत्यादि।

कार आगे निकल गई। पीछे लगे शीशेमेंसे मिस उत्तमसिंहका मुख झलक रहा था और अपलक नयन प्रदीप पर जमे थे। प्रदीपके मन

को धक्का लगा। फिर कभी वह मिस उत्तमसिंहको नहीं देख सकेगा। विद्यार्थी जीवनमें तो अमीर-गरीब, सुन्दर-असुन्दर, सबको मिलनेका अवसर मिलता है। किन्तु बाहरकी दुनियामें शायद मिस उत्तम सिंह उसको पहचाननेसे भी इन्कार कर देंगी।

भयानक सूनापन-सा मन पर छा रहा था। उसकी परिचित दुनिया छूट चुकी थी, अनचाहे, बरबस—और जिस दुनियाके कूल पर वह सहसा आ खड़ा हुआ था, उससे वह सर्वथा अनभिज्ञ था। भय, हिचक, असमंजस तो होती ही। कुछ भी निश्चित नहीं था, न पथ, न पथिककी सामर्थ्य।

पुराने संसारमें उसके अनेक परिचित थे। सुक्रात, अफलात, अरस्तू, एपीक्यूरस, प्लाटीनस, ल्यूक्रेशियस, डेकार्टे, लाइब्नीज, स्पीनोजा बर्कले, ह्यूम, कान्ट, हेगेल, फिक्टे, शैलिंग, शापेनहार, नीटशे, बर्गसन, विलियम जेम्स, मार्क्स और लेनिन। व्यास, जैमिनि, याज्ञवल्क्य, पातञ्जलि, वसुबन्धु, नागार्जुन, चार्वाक, कुमारिल, शंकर, रामानुज, और श्री अरविन्द। होमर, दान्ते, शेक्सपीयर बायरन, कीट्स्, शैले, गायटे, पुशकिन, टैनीसन, ईलियट। वाल्मीकि, कालीदास, भवभूति, भर्तृहरि, सूर, तुलसी, मीरा, पन्त, बच्चन, और महादेवी। सर्वान्टीज, वाल्टर स्काट, ड्यूमा, ह्यूगो, फ्रांस, टालस्टाय, गोर्की, शोलोकोव, कूपरिन, हार्डी, हक्सले, रोलाँ, इबसन और शाँ। रवि टाकुर, शरत, जैनेन्द्र, अज्ञेय, मुंशी और रमणलाल वसन्तलाल। बुद्ध, ईसा, गांधी। उमर खय्याम।

किन्तु नया संसार?—आँखें पथरा गईं प्रदीपकी। न कोई प्यारा, न परिचित। एकबारगी भूलभलैयां जैसा। वह किधर जाए, क्योंकर जाए? नए संसारमें आफिस हैं, दूकानें हैं, मालिक और नौकर हैं, खरीदार और

बेचनेवाले, उत्पादक और भोगकर्त्ता। वहाँ दर्शनका कानी कौड़ी भी मूल्य नहीं, कविता और कला टके सेर बिकती है। वस्तुओंके भाव याद होने चाहियें अथवा फाइलोंके नम्बर। अपने ज्ञानकी सारी जमापूँजी लेकर भी भोंदू बना फिरेगा प्रदीप !

चढ़ाई समाप्त हुई। फ्लैगस्टाफ आ गया। प्रदीप आगे न जाकर, ऊपर चढ़ गया। सीढ़ियोंसे खुली छतपर निकलते ही पूर्व प्रदेशपर उसकी आँखें जमकर रह गईं। कोठियों और बंगलोंके छोरपर चमचमाते धुँएकी नाईं बल खाती, फैलती, सिमटती यमुना, तरुण तपस्विनी-सी, तन्मय मुद्राका संकेत जता रही थी, और उसके पार जहाँ तक दृष्टि जा सकी, हरे भरे मटर, चने और सरसोंके खेत फैले थे। बीच-बीचमें दस पांच छप्पर अथवा मिट्टीके घरोंदेसे उस पार किसी छोटे गाँवकी सत्ता जताते थे। दूसरे पहरकी भड़कती धूपमें, केवल नीले आकाशकी अनन्त छत्रछायामें वह समस्त कृषिप्रदेश प्रगाढ़ शान्ति और सन्तोषसे तन्द्राभिभूत था। प्रदीपका अन्तर पुकार उठा :—

आज प्रिया की गोदी में सिर,
रख कर दो क्षण सो जाने दो।
रो लूँगा जब दुख आएगा,
सुख में तो हँसने गाने दो।

सुखद, सौम्य, सरल, सजीला, सरस।

प्रदीप की आँखें घूमी दक्षिण-पश्चिमकी ओर। वहाँ विशाल नगरी अस्त-व्यस्त बिखरी पड़ी थी। असंख्य मकान—काले, पीले, सफेद,

ऊँचे, नीचे, नए, पुराने। इसीको दिल्ली कहते हैं। गाँवमें वह इसीके स्वप्न देखा करता। इसीके विषयमें अनेक चमत्कारिक, मनोहर गाथाएँ सुनाकर उसकी जीजीने उसे ललचाया था। इसीमें बसनेके लिए उसने अपना अल्हड़, गंवार, मटमैला जीवन छोड़कर सभ्य होनेका असफल प्रयत्न किया था।

आज दस सालसे वह इसमें रहता है। ऊब उठा है। भीड़-भाड़, शोर-गुल, गंदगी, किचमिच, जीवनकी संकीर्ण क्षुद्रता—और ऊपर एक लीपापोती, गली, सड़ी, जराजीर्ण, बालूकी भीतपर चूनेके गाढ़े पानीका एक कोट। वह कोट था यहाँके अमीर, रईस, हाकिम ठाकुर—कारोंमें घूमनेवाले, होटलोंसे रागरंग करनेवाले, कोठी बंगलोंमें बसनेवाले। जनता उनसे भय खाती है, उनका सम्मान करती है, उनका अनुकरण करनेमें, उन जैसा बन जानेमें, अपना चरम पुरुषार्थ, चरम ध्येय समझती है। किन्तु वे सब सम्पूर्ण धोखा हैं, उनकी सब चमक-दमक, शान-शौकत उनके जीवनमें भरी ऊबको भुलानेका एक बहानामात्र है।

यह बड़े-छोटे, ऊँचे-नीचेका प्रपञ्च—इसमें क्या सार है? कहाँ है इसका स्पष्टीकरण, इसका न्यायपूर्ण सुझाव। सभी एकसे मानव हैं—पशु की सन्तान—एकसे हिंस्र, ईर्ष्यालु, मैले, भूखे, अन्तःसारहीन। सब पाखाना जाते हैं—सबके पाखानेमें बदबू आती है। सबको पसीना छूटता है। सब एक समान चरते हैं—सुबह, शाम, नित्यप्रति, सालके तीन सौ साठ दिन। और सारे स्त्री, पुरुष—वे कोई भी क्यों न हों—नंगे होकर, लाज-शरम भुलाकर, एक दूसरेके साथ सोते हैं, एक दूसरेके शरीरसे लिपटते हैं, एक दूसरेका थूक चाटते हैं। कुछ शरीरोंमें बदबू

आती हैं, कुछ साँसें पेटमें सड़े, बिना पचे खाद्यकी दोहाई देती हैं—कुछ नहीं, क्योंकि सेन्ट, सुपारी, इलायचीकी सहायतासे तथ्यपर ताला मार दिया जाता है। किन्तु अन्तर कहाँ है ?

कितना गंदा है इन्सान। जहाँ रहता है वहीं गंदगी फैलाता है। उसके पाखाने, पेशाब और पसीनेको बहाने, धोने, छुपानेके लिए यमुना का सारा पानी, हजारों, लाखों मन साबुन—सब हार मान लेते हैं। रह रहकर गंदगी ऊपर आ जाती है। यही नहीं—चरक संहिता, मैटीरिया मैडीका और अनेक डाक्टर वैद्योंके ग्रन्थोंमें लिखे रोगोंसे व्याप्त है मानवकी देह, मानवका संसार। खाँसी, बुखार, जुकाम, कब्ज, सिरदर्द—ये नाम तो मानवका बच्चा-बच्चा जानता है। हैजा, प्लेग, शीतलाके शिकारोंकी रिपोर्ट अखबारोंमें आती है। किन्तु इनके परे ही तो रोग-भगवानका साम्राज्य आरम्भ होता है। कुष्ट, खुजली, आतशक, सूज़ाक, बवासीर—कहाँ तक कोई गिनाए। वीभत्सका नंगा नाच! दोज़खके दर्शन! कहाँ है निस्तार? कहाँ है किनारा ?

किनारा ?

कैसा किनारा ? कौन चाहता है किनारा ? किसको अवकाश है किनारा खोजनेका ?

सब लोग भीषण व्यस्त हैं। पुरुष कमानेमें, स्त्रियाँ घर बसाने और बच्चे बढ़ानेमें। किसे चाहिए किनारा ? सब तो यही चाहते हैं कि बहती धारामें उनकी अपनी नौका—जराजीर्ण अथवा भव्य विशाल—न डूबने पाए, तूफान आए तो, झञ्झा उठे तो भी। किनारेकी किसे चिन्ता है ?

किन्तु नौकाएं डूबती आई हैं, डूब रही हैं, डूबेंगी। इतिहासके पद-चिह्न ध्वंसावशेषोंसे पटे पड़े हैं। यह दिल्ली, आजकी दिल्ली, कल यह नहीं थी। और कौन दावा कर सकता है कि कल यह रहेगी। राय-पिथौरा, कुतुबुद्दीन ऐबक, अलाउद्दीन खिलजी, फिरोज़शाह तुग़लक, सिकन्दर लोदी, शाहजहाँ—सबने अपनी-अपनी दिल्ली बसाते समय सोचा था.........

सहसा प्रदीपके भीतर कोई बोल उठा—"तुम अफ़ीमची हो! तुम्हारी आदत नहीं जाती। जहाँ तुम्हें फ़ुरसत मिली कि लगे बेतुकी सोचने। रह-रहकर तुम इतिहासके खण्डहरोंपर आँसू बहाने बैठ जाते हो, मानो खण्डहरोंके सिवाय कुछ है ही नहीं। किन्तु खण्डहर तो इतना भारी सत्य नहीं जो तुम्हारा सारा दृष्टि-प्रदेश घेरकर बैठ जाएं। खण्डहर मानवकी हारके साक्षी हैं, क्योंकि हार मानवने अनेक बार खाई है। किन्तु फिर भी, न मानव मिटा, न मिटे मानवके मनसूबे। मानव की निराशा, मानवका अविश्वास ही सब कुछ नहीं। उसकी आशा और विश्वासोंकी भी क़ीमत है। मानवकी महत्वाकांक्षा देखो, और देखो मानवका विशाल, अनथक परिश्रम। तुम मानवका मज़ाक उड़ाते हो, उसको नीची निगाहसे देखते हो, क्योंकि तुम खुद निकम्मे हो। तुम्हारा मन बूढ़ा हो चला है। तुम आगेकी ओर देख नहीं पाते.......
अन्यथा...

नीचे साईकलपर वासुदेव जा रहा था। प्रदीपने आवाज लगाई। वह रुककर मुस्कराने लगा। प्रदीप फ्लैगस्टाफसे नीचे उतरकर उसके साथ हो लिया। दोनों पैदल पहाड़ीसे उतरने लगे।

"तुम्हारे एकजेम्स खतम हो गए ना प्रदीप ?"—वासुदेवने पूछा।

"हाँ, आज !"

"अब क्या करोगे ?"

"सुईसाइड !"

"मज़ाक नहीं, सच बताओ।"—वासुदेव बोला।

"अरे भई, क्लर्कीके सिवाय और क्या चारा है, तुम्हीं बोलो ना।"

"तुम प्रोफेसर जो हो सकते हो !"

"हाँ, हो सकता हूँ। किन्तु बनाएगा कौन ?"

"कोशिश करोगे तो सब हो जाएगा।"

"किन्तु कोशिश करनेमें छः महीने लग सकते हैं, साल बीत सकता है। इतने दिन रोटी कौन खिलाएगा ?"

वासुदेव चुप रहा। दोनों चुपचाप चल रहे थे।

"अभी ठहरोगे ना ? गाँव जानेका कब इरादा है ?"—वासुदेवने पूछा।

"अभी प्रमिलाकी परीक्षाएं समाप्त नहीं हुईं। एक सप्ताह और हूँ।"

"प्रमिला पास हो जाएगी, अबकी बार ?"

"आशा तो नहीं करता। और उसके पास फेल होनेके मायने भी क्या हैं ?"

"मायने कैसे नहीं ?"—वासुदेव बोला।

"अरे भई, इन लड़कियोंके लिए यह पढ़ना पढ़ाना केवल विवाहके दिन तक समय काटनेका बहाना है। विवाह नौकरी नहीं, कौन उनका प्रमाणपत्र देखेगा ?"

"हूं। कब हो रहा है प्रमिलाका विवाह ?"—वासुदेवने पूछा।

"सो मुझसे अधिक तुम्हीं जान सकते हो !"

वासुदेव चुप रहा। प्रदीप पूछ बैठा—

"और तुम्हारे विवाहकी बात जो चल रही थी उसके साथ ?"

"हाँ। पर बात बिगड़ गई। वह सुनयना बीचमें कूद पड़ी। न जाने प्रमिलासे उसने क्या कहा, वह लड़की एकदम अकड़ गई। जाए जहन्नुममें।"

"मणि भी अच्छी लड़की है।"

"लड़कियाँ सभी अच्छी होती हैं यार। किन्तु बेहद बेवकूफ।"

"मणिसे प्यार करने चले तो शायद और कुछ सोचा था ?" —प्रदीपने कहा।

"कौन करता था उसे प्यार ? वह तो यों ही चुहल थी। सुनयनाने बातका बतगंड़ बनाकर प्रमिलाको मेरी ओरसे फेर दिया।"

"सुनयनाको क्या पड़ी थी ?"

"वह लड़की खुद मेरे पीछे हाथ धोकर पड़ी है। पर कुछ भी हो जाए, उससे मैं शादी नहीं कर सकता। न शकल, न सूरत, मुफ्तमें······"

आगे उसने क्या कहा सो प्रदीप नहीं सुन पाया। सुनयना वासुदेव से विवाह करना चाहती है—बात तीर की तरह उसका सीना बेंध गई।

"चलो यार, बैठो पीछे। देर हो रही है।"—वासुदेवने रुककर साईकलके पैडल पर पांव रखते हुए कहा। प्रदीप ठिठका। फिर बोला—

"नहीं भाई, मैं पैदल ही जाऊँगा। साईकल पर बैठनेको जी नहीं चाहता।"

"तुम्हारी मर्जी। अच्छा। मिलते रहना।"—वासुदेव चला गया।

तो यह बात है। सुनयना जो मेरे साथ विवाह करनेकी कल्पना-मात्रसे सिहर उठती है, वासुदेवके लिये लालायित है। क्यों? क्या वह वासुदेवको प्यार करती है? नहीं, विश्वास नहीं हो सकता और फिर प्यारका कोई मूल्य भी तो उस लड़की के निकट नहीं। एक ही कारण हो सकता है—वासुदेवका धन, उसके ठाट-बाट।

ईर्ष्या और क्रोधसे प्रदीपकी छाती सुलग उठी। चोट खाया हुआ प्यार तीव्र घृणामें परिणित हो चला। ये धनवान लोग सब कुछ खरीद लेते हैं। इनकी अपनी इच्छा-अनिच्छाके बाहर किसी इच्छा-अनिच्छा का अस्तित्व ही नहीं। इनके दिलमें पत्थर भरे हैं, जिनको संसारकी कोई आग नहीं पिघला सकती। जिस रास्ते पर बढ़ो, ये राह रोक लेते हैं। और हम—करोड़ों हम—बेबस, निसहाय बालकोंकी नाई रोते, बिलखते किस्मतको कोसते रह जाते हैं। पर क्यों? आखिर किस लिये? हम क्या इन्सान नहीं, हमें क्या कुछ नहीं चाहिये?

नहीं। प्रदीप इतनी आसानीसे सिर नहीं झुका सकता। वह बदला लेगा, उनसे जिन्होंने उसके दिलसे खिलवाड़ की है, सारी जातिसे, समस्त धनी वर्गसे।

वह सुनयनाका प्रस्ताव स्वीकार करेगा—वही होटलमें प्रणय-लीला का प्रस्ताव। प्यारसे प्रेरित होकर नहीं, वासनाके कारण भी नहीं, वर्ग चेतनासे उद्भावित घृणाके कारण। वह सुनयनाका कुमारपन नष्ट करेगा—उसका सतीत्व, उसका नारीत्व। सुनयनाके ओठों पर आँके हुए उसके चुम्बन उस धनवान पतिका मज़ाक उड़ाएँगे जो भविष्यमें उन ओठोंको

पवित्र समझकर चूसेगा। वह कोई भी क्यों न हो—वासुदेव अथवा उसका कोई सजातीय—उसे शुद्ध वस्तु नहीं प्राप्त होगी। मिलेगी प्रदीप की जूठन—असहाय, अकिंचन, बेबस प्रदीपकी जूठन !

काश्मीरी गेट पर रुककर उसने एक दूकानसे सन्तति-निरोध का आवश्यक सामान खरीदा। वह सुनयनाको गर्भवती नहीं होने देगा। सुनयनासे व्यक्तिगत वैर उसका नहीं—उसका जीवन वह नष्ट नहीं कर सकता। वह तो केवल धनिक समाज पर चोट करना चाहता है।

मनमें सान्त्वना-सी लेकर प्रदीप सुनयनाके घर पहुँचा। किंचित् संशय भी था—सुनयना उस दिन शायद मज़ाक कर रही हो। वह भारी बेवकूफ़ बन सकता है।

किन्तु दरवाजे पर ही नौकर उसे देखकर बोला—

"बीबीजी नहीं हैं, बाबू। परसों रातकी गाड़ीसे वे नैनीताल चलीं गयीं। दो महीनेमें आएँगी।"

३५

उसी रात प्रदीपको तीव्र ज्वरने दबा लिया। फिर भी वह अपने त्रस्त मन और रुग्ण शरीरको लेकर देहलीसे भाग निकला। शहर का कण-कण उसे काटने दौड़ता था। गाँवमें वह तीन-चार दिन तक प्रायः बेहोश पड़ा रहा। औषधि लेनेसे इन्कार कर दिया। माँ रोईं, उर्मिलाने अनेक अनुनय-विनय कीं, किन्तु वह अपने हठसे नहीं टला। भीषण आत्म-ग्लानिसे उसका रोम-रोम चसक रहा था।

किन्तु जीवनकी लालसा चिरस्थायी है, भावनाके अँधड़ क्षणभंगुर। वेदनाका ज्वार उतरने लगा—एक टीस-सी बच रही, जैसी घाव भर जाने पर घाव लगने के स्थान पर प्रायः हुआ करती है।

कुछ स्वस्थ हो जाने पर प्रदीप एक दिन घरसे बाहर निकला। आश्रम में उसका मन नहीं लगा, वहाँ पुराने परिचितोंमेंसे एक-दो लड़के बचे थे। घर लौट आया। पुस्तक पढ़नेकी चेष्टा की, नहीं पढ़ सका। चुपचाप बिस्तर पर पड़कर वह अपने चारों ओर फैले अंधकार में अपने आपको आत्मसात् करने लगा। कैसी विडम्बना थी।

एक दिन बाहर दहलीजमेंसे किसीके खाँसनेका शब्द आया और साथ ही उसका नाम लेकर किसीने पुकारा—

"कैसी तबियत है, दीप भाई?"

"आओ, चाचा। तबियत अच्छी ही है।"—प्रदीपने छोटू तेलीका स्वर पहचान कर उत्तर दिया।

छोटू चारपाईके पास आकर बैठ गया। तेलमें सने उसके कपड़ोंमेंसे गन्ध आ रही थी, किन्तु प्रदीपने विशेष ध्यान नहीं दिया। उसको छोटू से विशेष सहानुभूति हो रही थी।

"सुनाओ चाचा क्या खबर है?"—प्रदीप बोला।

"बस, मालिक की दुआ है। कुछ फुर्सत थी, सोचा चलो भाईकी खबर ले आएँ।"—छोटू कह गया।

भीतर रसोई-घरसे मांकी आवाज आई—

"लड़केकी सगाई-ब्याह कुछ आए, छोटू?"

"सगाई-ब्याह तो आते ही रहते हैं।"—नीची गर्दन किए छोटने उत्तर दिया।

"तो ब्याह क्यों नहीं कर लेता? बड़ी उम्र हो गई। किसी दिन पाँव पसार देगा, निगोड़े। यह दिन तो देख जा।"

छोटू चुप रहा। प्रदीप बोला—

"हाँ चाचा बात तो ठीक है। कर डालो ना लड़केका ब्याह।"

"यही खयाल था कि अपनी कहनेको दो ईंट हो जातीं, तो ही कुछ देखा जाता।"—छोटू आवाज दबाकर बोला।

"मकान तो तुम्हारे है ना, चाचा। भूल गए। मैं रजिस्ट्री जो करा गया था?"—प्रदीपने कहा।

"सो तो ठीक है। पर मकान जब तक मुझे मिल नहीं जाता, तब तक कैसे मन पक्का करूं। रजिस्टरी कराते समय तुमने बड़ोंकी सलाह तो ली नहीं थी। वे लोग न जाने क्या रुख पकड़ेंगे।"—छोटूका स्वर अत्यन्त सशंक था।

"वह सब तुम भूल जाओ। कल जाकर मकान साफ कर लो। बरतन भाण्डे रक्खो। मैं देखूंगा कौन तुम्हारा रास्ता रोक लेगा"—प्रदीप उठ कर बैठ गया।

"नहीं भाई, अभी क्या जल्दी है। तुम तनिक और संभल जाओ। हमारे तो दिन इतने कटे हैं, और कट जाएँगे। बड़ोंसे राड़ हो जाए, यह मैं नहीं चाहता।"

"राड़ काहेकी। मेरी जायदाद है, मैं उसका कुछ भी करूं। मेरे कामोंसे दूसरे किसीको क्या मतलब है?"

रसोई घरसे मां बोली—

"हां, ठीक बात है। हमारा अपना मकान, हम चाहें किसीको भी दें। और क्यों टांग अड़ाने लगे। अच्छा-सा दिन देखकर तुम मकान बदल लो, छोटू।"

"घरसे सलाह कर लेता हूं।"—कह कर छोटू उठ खड़ा हुआ। उसके मलिन मुख पर एक संकुचित हास-सा फैला था, इतना प्रदीप देख पाया।

अगले दिन सुबह ही जब छोटू और उसकी बहू नए मकानको साफ कर रहे थे, तो खबर पाकर प्रदीपके चाचा वहां जा पहुंचे। दरवाजेकी ओर संकेत करते हुए उन्होंने रौद्र मुद्रा बनाकर, कर्कश स्वरमें कहा—

"अभी बाहर निकल जाओ और फिर इस घरकी तरफ पाँव मत उठाना। नमकहराम साले। समझा क्या है। मूँहमें सूअर दे दूंगा।"

दोनों स्त्री-पुरुष चुपचाप अपने घर चले गए। प्रदीपको इस कांडकी खबर रातको मिली। सारी रात वह नहीं सो पाया। मनमें भयानक विद्रोह भरा था।

भोरमें वह बाहर बैठकमें पहुँचा तो चाचा हुक्का गुड़गड़ा रहे थे। प्रदीपको बड़े प्रेमसे बैठाया, इधर-उधरकी बातें पूछीं—कहीं, किन्तु पहले दिनकी अपनी करतूतका जिक्र ही नहीं किया। इतनी देर प्रदीप चुपचाप बैठा रहा, फिर अचानक फट पड़ा।

"चाचाजी आप आदमी नहीं, राक्षस हैं।"—चाचा चौंके। पर इससे पहले कि वे कुछ बोलते प्रदीप रोषपूर्ण स्वरमें कह चला,—"आपको क्या हक्क था छोटूको रोकनेका। मेरा मकान, मैंने उसे दिया, आप कौन होते हैं बीचमें पड़नेवाले? कान खोलकर सुन लीजिए, मकान छोटूको मिलेगा। जान लड़ाकर भी मैं और किसीके पास उसे नहीं जाने दूंगा।"

चाचा हँसने लगे। फिर बोले,—"भाई मैं क्या कहता हूँ। तुम्हारा मकान, तुम्हारे पास रहेगा। मैं कब कहता हूँ किसीको दे डालो।"

"पर आपने छोटूको क्यों रोका?"

"छोटूको वह मकान नहीं मिल सकता। वह बात तुम भूल जाओ, दीप!"—स्वरको प्रखर करके चाचाने अपलक नेत्रोंसे प्रदीपको निहार कर कहा।

"मकान छोटूको मिलेगा, कान खोल कर सुन लीजिए।"—कह कर प्रदीप बैठकके बाहर हो गया।

मैदानमें घूमते समय उसके मानसमें भयानक उथल-पुथल मची थी। चाचा कच्ची गोलियाँ नहीं खेले, पुराने घाग हैं। यह मकान प्रदीपके हिस्से अवश्य आया है, किन्तु छोटूसे लेते समय चाचाने अपने नाम चढ़वा लिया था। वे चाहें तो मुकदमा लड़ सकते हैं, प्रदीप पर जालसाजीका केस चला सकते हैं। बटवारेकी लिखा-पढ़ी तो किसी दिन हुई

अन्तरात्मा और न्याय-बुद्धि जगानेके लिए वह अपने-आपको कष्टमें डालेगा। अनशन, आमरण अनशन!

एक अत्यन्त दृढ़ और शान्त चित्त लेकर प्रदीप लौटा। चाचा बैठकमें ही थे। प्रदीपने पूछा—

"तो क्या फैसला है, आपका?"

"क्या बातें करते हो बेटा तुम्हें इन सब मामलोंसे क्या मतलब। तुम्हारे खेलने-खानेके दिन हैं। बेफिक्र रहो, मैं सारी बात सुलट लूंगा।"—चाचाने अत्यन्त प्यारभरे स्वरमें कहा।

"मैं आपकी बात समझा नहीं, चाचाजी।"

"देखो, बड़े बाबा शहर गए हैं। सांझको लौट आएंगे। तब तक तुम चुप रहो। तुम्हें मुझ पर विश्वास नहीं, न सही, बाबा जो फैसला देंगे, वह तो मानोगे ना?"—चाचाने कुछ आहत-सा होकर कहा।

प्रदीपने सिर झुका लिया। कुछ कहा नहीं। यह आदमी दाँव-पेंच जानता है, जापानी जुओजुत्सुका मास्टर है। कहीं अड़ता नहीं, जोर आजमाया जाए तो किस पर, कैसे?

अन्धेरा बढ़ रहा था। प्रदीप छत पर लेटा उसी समस्याको उलट-पुलट कर सुलझानेमें लगा था। उर्मिलाने नीचेसे आकर खबर दी कि बड़े बाबा उसे बुला रहे हैं।

बाबाकी हवेलीके आगे सभा बैठी थी। एक खाट पर बाबा नंगे बदन बैठे हुक्का पी रहे थे। बराबरमें छोटे बाबा बैठे थे। चाचा खाटके बराबर जमीन पर बैठे हुक्केका धड़ थामे थे। प्रदीप जाकर नीचे बैठ गया।

"इमतिहानका नतीजा आया क्या, प्रदीप?"—बड़े बाबाने पूछा।

"नहीं, अभी तो नहीं।"

"कोई नौकरी वगैरहकी ठीक लगाई है क्या?"

"नहीं, अभी तो नहीं।"

"कोशिश करनी चाहिए ना। गांवमें खाली बैठ कर तुम्हें उपाधि सूझती है।"

प्रदीप समझ गया कि चाचाके पौ बारह पड़ चुके हैं। कुछ बोल नहीं सका। बाबा कुछ और कहें, यह प्रतीक्षा करने लगा।

छोटे बाबा बोले,—"कसूर इस लड़केका नहीं, भैया। सारे रोगकी जड़ इसकी मां है। वह है बेवकूफ। तेलीकी बातोंमें आ गई।"

"विश्वास रखिए, बाबा! मुझमें अपनी गांठकी अक्ल है। मांको आप क्यों दोष देते हैं?"—प्रदीप सिर ऊपर उठा कर बोला।

"दोष देनेसे ही काम थोड़े चलेगा। अबकी बार तेलीके घरकी तरफ जाते देख पाऊँ, टांगे तोड़ दूंगा। भला पड़ौस थोड़ा है, पर उसको तेलीका घर सूझता है।"—छोटे बाबा गरम हो गये।

"उँगली मत उठा देना, मांकी तरफ। खून कर डालूंगा, बाबा।"—प्रदीप भी आपेसे बाहर हो गया।

सूबेदार बद्रीनाथ उधरसे जा रहे थे। हंगामा सुन कर खड़े हो गए। लाठी पर ठुड्डी टिका कर बोले—

"आज क्या बात है, सेठजी। लड़का गरम क्यों हो रहा है?"

"बात कुछ नहीं सूबेदार साहब। वह छोटू तेली है ना। प्रदीपको बहका कर वह पुराना मकान अपने नाम बखशीशनामा लिखवा लाया।

हमको खबर तक नहीं दी। अब भेद खुला है। इस पागलको समझा रहे हैं।"—बड़े बाबाने कहा।

सूबेदार आगे बढ़ आये। उसी प्रकार लाठी पर भार देकर तनिक धीमे स्वरमें बोले—

"लड़केसे काहेको ज़िद लगाते हो। यह नादान है; घर-संसारकी बात क्या समझेगा। उस सूअर-खानेको क्यों नहीं पकड़ते, जिसने इसको बहकाकर यह सारा बखेड़ा खड़ा किया। ऐसे नमक-हरामको तो गाँवमें नहीं रहने देना चाहिए। सारी उमर तुम्हारे घरसे खाया है, उसने।"

"अब उसको भला क्या कहें। अपना पैसा खोटा, तो परखनेवाले का क्या दोष, पण्डितजी! पर इसको समझा रहे हैं, तो भी नहीं मानता। गलती हो जाया करती है। लड़केका भूला साँझको तो घर लौटे।"—बड़े बाबाने कहा।

"देख लीजिए, सेठजी! मुझे तो लड़केका वैसा कसूर नहीं दीख पड़ता। कच्ची उमरमें ऐसा हो ही जाया करता है।"—सूबेदारने सीधा खड़ा होकर उत्तर दिया।

अबकी चाचाने मुँह खोला। बड़े बाबाको सम्बोधित करके बोले—

"सूबेदार साहब ठीक कहते हैं। बच्चेका क्या कसूर? रोगकी जड़ तो वह हरामजादा छोटू है। उसे दूर करना है। आज उसने दीपको बहकाया है, कल और किसीको।"

"सोलह आने बात है। आगे सेठ तुम्हारी अपनी निगाह है।"—कहकर सूबेदार चला गया।

प्रदीप चुपचाप सब सुन रहा था। उसके भीतर क्रोध और घृणाका जो ज्वालामुखी फट चला था, उसे निवेदन करनेके लिए कोषमें शब्द नहीं मिले। भावनाकी कमर टूट गई। वह चाहता था कि बाबा, चाचा और सूबेदारकी हत्या कर डाले। स्वयं उसे मूर्ख बताकर एक निरपराध, युग-युगके दलित, वंचितको वे बदमाश ठहरा रहे थे! छोटूने अपने पसीनेकी अन्तिम बूँद बहाकर इनका घर भर दिया और ये लोग आज उसे नमकहराम कहते हैं। ये लोग—ये समाजके चोर, पीढ़ी-दर-पीढ़ीकी शोषक जोंकें, जिनका पेट सामने आए प्राणीकी अन्तिम बून्द लोहू पीकर भी खाली रह जाता है!

पड़ौससे मिठ्ठन आ खड़ा हुआ। धनसिंहका छोटा भाई था वह। शालगके द्वारा बड़े भाईकी हत्या हो जानेपर वह प्रदीपको कड़वी निगाहसे देखा करता। उसे विश्वास था कि उस ओछी, डरपोक जातिको इतना बड़ा दुरसाह करनेके लिए प्रदीपकी ही प्रेरणा मिली थी। साथ-ही-साथ वह प्रदीपसे डरता भी था। लोग कहते थे कि प्रदीप पढ़ाई समाप्त करके जिलेका हाकिम अथवा शेशन जज बनेगा। ऐसे आदमीसे बिगाड़ना उसने ठीक नहीं समझा।

बाबाको सम्बोधित करके वह बोला—

"क्यों सेठजी, क्या खबर है? सूबेदार कह रहे थे कि छोटूने डाका मारनेकी कोशिश की थी।"

"हाँ भाई, यह पागल ऐसे ही काम किया करता है।"—प्रदीपकी ओर हाथ उठाते हुए बाबा बोले।

"हुक्म दो सेठ, तो कल दिन निकलनेसे पहले ही सालेको जिलेकी सीमेके बाहर कर दूँ। हमारे जीते जी गाँवमें यह कैसे हो सकता है ?"

"नहीं, चौधरी ! जो होना था, हो गया। गरीब आदमी है, छोटू। लोभमें आ गया। जाने दो, कोई बात नहीं। लड़केको समझा लिया है। कल रजिस्टरीपर उसका अंगूठा लगवाकर अहदनामा लिखवा लेंगे।"

"नरम आदमी हो तुम, सेठ ! वरना साँपको दूध पिलाना हमारी समझमें तो नहीं आता।"—मिठ्ठनने उत्तर दिया।

"मिठ्ठन ठीक कहता है, चाचा !"—चाचा बोले—"वह एक बदमाश आदमी, फिर जातका मुसलमान, गाँवकी धरती पर बोझ है। इस कौमपर दया कैसी ? इनका मौका लग जाए, तो ये हिन्दूको कच्चे खा जाएँ।"

इसके पहले कि मिठ्ठन कुछ बोले, प्रदीप कह उठा—

"तुम अपने घर जाओ, चौधरी ! तुम्हारा दिमाग़ ठिकाने नहीं हैं।"

"मैं बच्चोंके मुँह नहीं लगता बाबू, वरना अभी बता देता। घर तो जाता ही हूँ। पर कल देख लेना, छोटूकी गन्ध भी गाँवमें नहीं मिलेगी।"—कहकर मिठ्ठन चला गया। प्रदीप भी उठकर घरकी ओर चल दिया। बाबा और चाचाकी आवाजोंपर उसने ध्यान नहीं दिया।

सिरपर चादर बाँधकर प्रदीपने एक कुल्हाड़ी उठा ली और दबे पाँव घरसे निकलकर छोटूके मकानपर पहुँच गया। वह मकान भी उसका

अपना था। बाहर पौरमें एक ओर खाट पड़ी थी। भीतर न जाकर वह उसीपर लेट रहा। अन्धेरेमें किसीने उसे देखा नहीं।

थोड़ी देरमें बाहरसे मिठ्ठनने छोटूका नाम लेकर पुकारा। बूढ़ा तेली दरवाजेपर आया ही था कि चौधरीने हुक्म सुना दिया—

"इसी बखत तुम अपने बाल-बच्चोंको लेकर गाँवसे निकल जाओ और फिर कभी इधर मुँह मत फेरना। समझे।"

"आज क्या मज़ाक कर रहे हो, चौधरी!"—मिठ्ठनकी बात न समझकर छोटू बोला।

"मज़ाक करनेको साले गाँव-भरमें तू ही बचा था। निकलता है या गर्दन पकड़कर निकालूँ। नमकहराम, कमीना, लड़कीका खसम, साला, सूअरखाना·········

कहते-कहते मिठ्ठन आगे बढ़ा। प्रदीपने बीचमें रास्ता रोक लिया और बोला—

"बस करो, चौधरी! गली आम रास्ता है। लेकिन मेरे घरमें पाँव धरनेसे पहले मेरी इजाजत माँगनी होगी।"

चौधरी चमककर पीछे हट गया। पर तुरन्त ही सम्भलकर बोला—

"तुम बीचमें मत पड़ो, लड़के! शहरके लौण्डे हो तुम, एक चपत में जान निकल जाएगी।"

"ज़बान तुम्हारी तेज है, चौधरी! लेकिन याद रहे, इससे भी तेज कुल्हाड़ी मेरे हाथमें है।"—प्रदीपने अपने हाथका शस्त्र हिलाते हुए कहा।

चौधरी और पीछे हटकर गलीमें पहुँच गया और वहीं खड़ा होकर छोटू तथा प्रदीपको भद्दी गालियाँ देने लगा।

शोर-गुल सुनकर भीड़ जमा हो गई। बाबा और चाचा आए। प्रदीपको समझाने-बुझाने लगे। उसका हठ प्रबल होता जा रहा था। नया मकान बाबा छोटूको देनेके लिए तैयार नहीं थे। प्रदीप कहता था कि वह वचन दे चुका, पूरा करेगा, जान लड़ाकर।

इसी समय चार मील दूर तार-घरसे हरकारा प्रदीपके लिए तार लेकर आ पहुँचा। जीजाजीने खबर दी थी कि होम डिपार्टमेंटसे प्रदीपके नाम नौकरीका पत्र आया है। दो मई को दफ्तरमें प्रस्तुत होना था। आज थी तीस अप्रेल। एक दिन बीचमें।

रातको प्रदीपने बाबासे समझौता कर लिया और अगले दिन वह गाँवसे चला गया। माँने उसके खान-पानकी देख-रेखके लिए उर्मिला को भी साथ भेज दिया।



३६

दो मईको प्रदीप होम डिपार्टमेन्टमें क्लर्क बन गया। उसका काम था राशनके कूपन बनाना और बाँटना। उस डिपार्टमेन्ट में काम करनेवाले आनरेबुल मेम्बरसे लेकर छोटे-से-छोटे चपरासीको सरकारी दुकानोंसे कुछ सस्ते दरमें गेहूँ, चावल, चीनी, किरासिन और कोयला मिलनेकी व्यवस्था थी। किन्तु कूपन देते समय उनकी पारिवारिक आवश्यकताएँ नहीं, तलबके आँकड़े देखे जाते थे। एक अविवाहित और अकेले रहनेवाले अण्डर सेक्रेटरीको महीनेमें पाँच मन गेहूँ मिलते थे और चार बच्चोंके बाप, दो सहोदरोंके भाई, बूढ़े माता-पिताके पुत्र नत्थन दफ्तरीको केवल दस सेर एक प्रकारसे ठीक भी था। अण्डर सेक्रेटरी साहबको भत्ते छोड़कर महीनेमें ढाई हजार रुपए मिलते थे, नत्थनको सोलह रुपए तनख्वाह और चौदह रुपए महगाई। दस सेरसे ज्यादा गेहूँके कूपनका वह करता भी क्या!

प्रदीपके जानेसे पहले एक मद्रासी ब्राह्मण वह काम देखता था। उसको हिन्दी नहीं आती थी। दफ्तरी और चपरासी आ-आकर अपनी कठिनाइयाँ उसे सुनाते और कूपन बढ़ा देनेकी फरियाद करते। सबको वह एक ही उत्तर देता—"देयेगा, देयेगा"।

प्रदीपने उसके पास बैठकर कूपनोंका हिसाब-किताब एवं रजिस्टर भरना आदि सीखे, होम डिपार्टमेन्टके विषयमें आवश्यक जानकारी प्राप्त की। फिर भी वह पहली परीक्षामें असफल रहा। क्रैमर साहबके

चपरासो द्वारा लाए गए सलामके प्रत्युत्तरमें उसने भी सलाम भेज दिया। एक बार नहीं, तीन बार। सेक्शनके इञ्चार्जको क्रैमर साहबका टेलीफोन मिला और उन्होंने प्रदीपको बुलाकर धमकाया। साहब तीन बार बुलाए और एक साधारण क्लर्क कुर्सी छोड़नेको तैयार नहीं हो! पहले-पहले उसने समझा कि सलाम भेजनेका अर्थ होता है—हुजूरमें हाज़िर हूजिए।

अपनी ढीली पतलूनको पेटपर चढ़ाता, कोटकी फटी कालरको कमीजकी कालरसे ढँककर प्रदीप डरता-काँपता चपरासीके पीछे हो लिया। कई सीढ़ियाँ चढ़कर, कई बरामदोंमें घूमकर वह उस कमरेके सामने पहुँचा, जहाँ काली काठकी तख्तीपर डी० एफ० क्रैमर, आई० सी० एस० लिखा था। एक दिन उसने भी यह तीन अक्षर अपने नाम के आगे लगानेके सपने देखे थे। तब नहीं सोच सका था कि यह दुम लगाते ही वह इतना भयावह बन जाएगा।

चपरासीने कमरेका द्वार खोल दिया। भीतर कुछ अन्धेरा-सा था और साथ-साथ कुछ ठण्ड भी। कमरा भली-भाँति सजा था। एकबारगी सरकारी दफ्तरका अंग नहीं जान पड़ता था। एक कौनेमें बड़ी-सी मेज के पीछे आधी बाँहका नीला, खुले कालरवाला कमीज पहने एक अधेड़-सा अङ्गरेज टेबिल लैम्पके उजालेमें कागज उलट-पलट रहा था। प्रदीपके ठिठकते-ठिठकते मेजके पास पहुँचते ही उसने सिर उठाया, दोनों कुहनियाँ मेज पर टिकाईं और एक हाथकी पेंसिलको दोनोंमें थाम एक सरसरी निगाहसे प्रदीपको देखा।

"मैं जी, प्रदीप।"

"आ गये आप।"—साहबकी बातमें व्यंग था।

"मैं नया हूँ, मि० क्रैमर। आफिसकी भाषासे परिचित नहीं। समझ नहीं पाया कि सलाम भेजनेका अर्थ याद करना होता है।"—प्रदीप सफाई देने लगा।

"हूँ। ठीक है। अपना काम समझ लिया ?"

"हाँ, प्रायः समझ ही लिया है।"

"अच्छा, देखिये अभी जो नया नियम बना है, उसके अनुसार आपको एक महीनेका वेतन सिक्योरिटीके रूपमें जमा कराना होगा।"

"कैसी सिक्योरिटी, साहब ?"

"आजकल नौकरियाँ बहुत मिलती हैं। लोगोंमें उत्तरदायित्वकी भावना नष्ट हो गई। दस दिन काम किया और चले गए। यहाँसे जानेके लिये एक मासकी सूचना आवश्यक है। इसीलिए सिक्योरिटी चाहिए।"

"किन्तु मि० क्रैमर, मैं सौ रुपए कहाँसे लाऊँगा ?"

"क्यों ? सौ रुपया तो कोई बड़ी रकम नहीं ?"

"मेरे लिये है। आप नहीं समझ सकते।"

"तो फिर इस महीनेके अन्तमें अपना वेतन जमा करा देना।"

"तो मैं खाऊँगा क्या, साहब ?"

"आप तो एकदम ऐसी बातें करते हैं, जैसे किसी भिखमंगेके घरमें आपका जन्म हुआ हो।"

"इसमें झूठ भी क्या है, मि० क्रैमर। धोबीके धुले कपड़े ही मुझमें और भिखमंगेमें अन्तर डाल रहे हैं। अवस्था तो एक ही सी है।"

"तो क्या करेंगे आप ?"

"आप ही बताइये।"

"इतना हो सकता है कि एक महीनेकी अपेक्षा दो महीनेमें सिक्योरिटी पूरी कर देना।"

"नहीं, साहब, मुसीबत हो जायगी। दस रुपए महीना काट लीजिये। सौ रुपयामें मुश्किलसे निर्वाह होगा।"

"अच्छा जाइये पचीस-पचीस करके चार महीनेमें पूरा करनेका विशेष आदेश पास करता हूँ। अन्तिम फैसला है।"—कहकर क्रैमर साहब फिर काममें लग गये।

प्रदीप बाहर निकल आया। नीचे पहुँचते ही लोगोंने उसे घेर लिया। सब जानना चाहते थे कि क्रैमर साहबने क्यों प्रदीपको बुलाया था और क्या-क्या कहा। सीधी-सी कहानी सुनकर सबको बड़ी निराशा हुई। उनको आशा थी डांट-डपट खाया हुआ भयभीत प्रदीप उनसे सहानुभूति की याचना करेगा।

प्रदीप अपना काम समझ चला। मद्रासी सज्जन उसे चार्ज देकर दूसरे स्थान पर चले गए। वह काम ऐसा था कि प्रदीपको रोज़-रोज़ व्यस्त रहना नहीं होता था। काम होता था महीनेके प्रारम्भमें जब कि नए कूपन बाँटने पड़ते थे। सो तो सब वह मद्रासी सज्जन पूरा कर गए। अब महीनेके अन्तमें उसे सब हिसाब जोड़कर सैक्शन इन्चार्ज को देना था, जिससे कि वे अगले महीनेके कुपन दे सकें। अभी पन्द्रह तारीख हुई थी। इकत्तीस दिनका महीना था। सोचा तीस तारीखको भी वह हाथ लगाएगा तो इकत्तीसकी शाम तक काम पूरा कर लेगा। इतने तनिक छुट्टी मनाए। घूम-फिरकर देखे-सुने। अन्ततः भारतीय सरकारका यह यन्त्र चलता किस प्रकार है?

किन्तु प्रदीपको भयानक निराशा हुई। उसकी खोज बेकार रही। अपने सेक्शनके भीतर, बाहर, कैफेमें, जहाँ जिससे भी उसने बात की, उसे एक टाईपका अनुभव हुआ। जैसे ये चलते-फिरते आदम और हव्वाकी सन्तान सब धोखा थे। उनको मानो सरकारने एक क्लर्क बनानेकी फैक्टरीसे आर्डर देकर बनवाया हो। सब अपना-अपना काम समझते थे, कामको बखूबी करनेमें विश्वास रखते थे। सबको अपने कामसे सम्बन्धित फाइलोंके नम्बर याद थे, अपने ऊपर वाले अफसरोंके नाम, डिग्रियों और स्वभावका विशेष अनुभव था। दो जने मिलकर बातें करते तो वही अपने आफिसके बारेमें—किसको प्रोमोशन मिली, किस पर अफ़सरका फेवर है, और क्यों है? प्रदीपका जी ऊब उठा।

साढ़े दस बजेसे छः बजे तक आफिसका समय था। उसका घर था चार मील। साईकल पास नहीं, खरीदनेके लिये पैसे नहीं, उधार मिल नहीं सकती। तांगेमें बैठकर जाने-आनेमें एक रुपया रोजका खर्च था—उसके लिये सर्वथा असम्भव और अनुचित भी। उसने धूपसे बचनेके लिये एक हैट खरीद लिया और पैदल आने-जाने लगा। साढ़े नौ बजे उर्मिलाका बनाया दलिया और दूध पीकर वह चल निकलता और पाँच मिनट रहते आफिस पहुँच जाता। एक दिन भी लेट नहीं हुआ। रास्ते भर वह कोई पुस्तक पढ़ता चलता, अथवा कविता कर लेता।

किन्तु आफिसमें घुसते ही उसकी बिडम्बना शुरू हो जाती। वह क्या करे? पहाड़-सा दिन बिताना होता था। पहले दो-चार दिन तो वह बैठा-बैठा घड़ीको ताकता रहा। ठीक एक बजे चाय पीने चला जाता। फिर भी निठल्लेपनकी वे घड़ियाँ युगाकार हो उठती थीं।

उसने देखा कि वही नहीं प्रायः आधे क्लर्क निठल्ले रहते हैं। समझ में नहीं आया कि क्यों सरकारने कुछ काम न रहने पर भी सबको भर्ती किया है।

हारकर प्रदीपने दफ्तरमें पुस्तक पढ़ना आरम्भ किया। हार्डीके उपन्यास। पकड़ा भी गया तो राजनैतिक अथवा सामाजिक चेतनाका अपराधी नहीं ठहराया जायगा। पीछे चलकर उसे पता लगा कि उस सेक्शनमें काम करनेवाले प्रायः सभी लोग पुस्तक अथवा पत्रिकाएँ पढ़कर समय काटते हैं। जो फाइलें सामने धरे बैठे रहते थे, वे भी वस्तुतः बीचमें पुस्तक अथवा पत्रिका छुपाकर पढ़ते थे। यह चोरी प्रदीपको नहीं जँची। वह खुले आम पढ़ता था। पढ़ते-पढ़ते आलस आता तो मेज पर सिर रखकर वह सो जाता। दो दिन बाद उसने कविता करना आरम्भ किया। गुनगुनाना आवश्यक था। वह गुनगुनाया।

सारे सेक्शनमें खलबली मच गई। ऐसा दुःसाहस आज तक किसी ने नहीं किया था। प्रदीपने अनुशासन भङ्ग किया, किन्तु निराले ढङ्गसे। सेक्शन इन्चार्ज उसे कुछ कह नहीं सकते थे; क्योंकि वे गैजेटेड आफिसर न होकर असिस्टेन्ट थे। प्रदीप भी तो असिस्टेंट होकर भर्ती हुआ था। उन्होंने बुलाकर प्रदीपको समझाया। प्रदीप मुस्करा दिया, बोला कुछ नहीं। किन्तु उसका गुनगुनाना बन्द नहीं हुआ। वह जानता था सरकारी नौकरीसे जल्दी जवाब नहीं मिलता, डिसमिस करनेसे पहले वार्निंग, सैकेण्ड वार्निङ्ग, ट्रांसफर, सस्पेशंन इत्यादि कई हथियार आजमाए जाते हैं। वह सब झटके देखना चाहता था।

इतना उसे विश्वास हो गया था कि सरकारी दफ्तरमें वह टिक नहीं सकता, टिका तो पागल हो जाएगा।

क्रैमर साहबका सलाम आया। प्रदीप समझ गया शिकायत पहुँची है। वह सीना तानकर साहबके कमरेमें घुस गया। स्वभावतः वह गुड मोर्निंग इत्यादि कुछ नहीं कहा करता। साहबने सिर उठाकर देखा। फिर मुँह पर व्यंग भर कर कहा,—

"गुड मोर्निंग, मि० प्रदीप।"

प्रदीपने हाथ जोड़ दिए, होंठ नहीं हिलाए, सिर तनिक झुका दिया। साहबका मुँह लाल हो गया। भीतर ही भीतर प्रदीप हँस रहा था।

"वैल, तुम्हारे बारेमें ये सब क्या सुनता हूँ?"—साहब कठोर स्वरमें बोले।

"क्या सुनते हैं, मि० क्रैमर?"

"तुमको नहीं मालूम?"

"जी, बिल्कुल नहीं।"

"तुम आफिसमें नावेल पढ़ते हो!"

"पर वह तो मि० क्रैमर सभी पढ़ते हैं।"

"तुम आफिसमें सोते हो।"

"लम्बे दिन हैं, काम कुछ नहीं, कई बार थककर सो भी जाता हूँ।"

"ठीक। तुम आफिसमें गुनगुनाते हो।"

"जी, मुझे कविता करनेकी आदत है।"

प्रदीपकी ढिठाई देखकर साहब ढीला पड़ गया। नरम होकर बोला—

"देखो प्रदीप, तुम नए आए हो, अनुभव नहीं तुम्हें, अनुशासन नहीं समझते ; किन्तु आफिसमें यह सब नहीं चलेगा, मैं वार्निङ्ग देता हूँ। तुम्हें काम करनेकी तलब मिलती है, पढ़ने, सोने और गानेकी नहीं। वैल ?"

"मैं मानता हूँ, क्रैमर साहब, किन्तु आप ही बताइये मैं करूँ भी तो क्या ? साढ़े दस बजे सुबहसे सांझ छः बजे तक पूरे साढ़े सात घण्टे होते हैं। सात मिनटका भी काम मेरे पास नहीं। आदमी हूँ, ऊब उठता हूँ। आप ही सोचकर देखिए।"—प्रदीप कह गया।

क्रैमर साहबने टेलीफोन उठाकर सेक्शन इन्चार्जको धमकाना शुरू किया। सारांशमें उन्होंने कहा कि जिस आदमीको तुम काम नहीं देते, उसके विरुद्ध शिकायत करने क्यों दौड़े आते हो ?

प्रदीप नीचे पहुँचा तो इन्चार्ज साहब मुँह बनाए बैठे थे। प्रदीपके सीट पर बैठते ही चपरासी एक गट्ठर फाइलें उसके आगे धर गया। प्रदीपने बड़ी तन्मयतासे उन्हें पढ़ना प्रारम्भ किया। हार्डीके नावेलसे कम दिलचस्प नहीं थीं। एक-एक शब्द जता रहा था कि इतने बड़े देशका राज्य चलानेवाले कितने भारी गधे थे। प्रत्येक पन्ने पर बाल की खाल खींची गई थी। जो बात दो शब्दोंमें कही जा सकती थी, उसको दो सौ शब्दोंमें कहा गया था। जिस कामका निर्णय दो मिनट में हो सकता था, वह दो महीनेमें तय हो पाती थी। फाइलें क्या,

कागज, स्याही और समयके सत्यानाशका कच्चा चिट्ठा थीं। कई प्रसंगों पर तो हँसते-हँसते प्रदीपका पेट फूल जाता था।

सन्ध्या समय प्रदीप जब आफिससे निकलता तो गरम लूके झोंके उसका स्वागत करते। लू से उसे कभी भय अथवा घृणा नहीं रही थी। किताब पढ़ता, सोचता, कविता करता वह सात साढ़े सात बजे घर पहुँच जाता। थकान इतनी चढ़ जाती थी कि नहा-खाकर वह ज्यों ही लेटता उसे नींद धर दबाती। दस-पांच मिनट पढ़नेकी भी सामर्थ्य नहीं रह जाती थी। किन्तु उर्मिला प्रायः नित्य-प्रति उसको छेड़कर रुला देती। वह चाहती थी कि प्रदीप उसके साथ बात करे अथवा घूमने जाये। उसकी हरकतों पर प्रदीप ध्यान देता तो उसका क्रोध मिट जाता। आखिर उर्मिलाका दोष क्या था? वह दिन भर घरमें बन्द रहती। प्रदीपकी अवस्था कमजोर होनेके कारण जीजीके सामने वह मुँह भी नहीं खोल सकती थी। जो मिलता खा लेती, कहा जाता सो काम कर देती। चार बातें सुनाई जातीं, तो मन-मसोस कर रह जाती। वह तो चाहती ही कि सन्ध्या समय, दिन भरकी प्रतीक्षाके पश्चात्, जब उसका अपना आदमी घर आए तो उसके पास बैठकर इधर-उधरकी दो बातें करे। किन्तु स्वभावतः प्रदीपको इधर-उधरकी बातोंमें कभी दिलचस्पी नहीं रही थी। फिर ऊपरसे नींदका दबाव। वह उर्मिलाको घुड़क देता। वह बेचारी जरा-सा मुँह बनाकर चली जाती। कहीं छिप कर चुपचाप आँसू बहा लेती। एक दिन भी प्रदीप निश्चय नहीं कर पाया कि दोष किसका है—उर्मिलाके बचपनका अथवा उसके अपने प्रौढ़पनका। दोषका निर्णय हुए बिना किससे बदलनेको कहा जाता। विचित्र उलझन थी।

परीक्षाका फल निकला। प्रदीपका फर्स्ट क्लास आया। सात और सहपाठियोंके फर्स्ट क्लास आये थे। दो-चार लोगोंने उसे बधाई दी। किन्तु यह भारी-भरकम डिग्री प्रदीपके लिये एक विडम्बना बन गई। सब पूछते कि प्रदीपका क्या करनेका इरादा है। वह एक ही उत्तर देता—"सुइसाइड"। जिनको पता था कि वह सरकारी दफ्तरमें क्लर्की करता है, वे उस पर तरस खाते। प्रदीप तिलमिला जाता। धीरे-धीरे उसने सबसे मिलना-जुलना छोड़ दिया। पहले शनिवार-इतवारको इधर-उधर चला जाया करता। उसने देखा कि प्रायः उसके सभी मित्र बड़े-बड़े मनसूबे बनाए बैठे हैं। एक साहब लॉ पास करके बारके लिये इङ्गलैंड जा रहे थे। उनका ध्येय था राजनैतिक जीवनमें पदार्पण करना—गांधी और नेहरूके मार्गसे। दूसरे कैम्ब्रिज अथवा आक्सफोर्डसे डिग्री प्राप्त करके प्रोफेसर बन जायेंगे। एक और साहब बड़ीसी सरकारी परीक्षाकी तैयारी कर रहे थे। और दो-तीनका विचार था कि पारिवारिक परम्परा में मिले व्यापारको आधुनिक ढंग-ढर्रे पर चलाकर अधिक रुपया बटोरने में उनकी शिक्षाका विशेष उपयोग होगा। उन सबमें और प्रदीपमें एक ही अन्तर था—उनमें किसीको रोटीकी चिन्ता नहीं थी। और प्रदीपकी और सब चिन्ताएँ इस चिन्ताके सामने हेय हो जाती थीं। ईर्ष्याके मारे उसकी छाती जल उठी। वह नास्तिक, कर्म-विपाककी हँसी उड़ानेवाला, सर्वथा सचेत नवयुवक समझ नहीं पा रहा था कि अपने सब सहपाठियोंसे दक्ष, प्रवीण, और कार्य-कुशल होने पर भी क्यों उसे जीवनकी दौड़में पीछे रह जाना पड़ रहा है?

अट्ठाईस मईके दिन वह फाइलोंमें डूबा बैठा था। सहसा

एक पत्र पर उसकी आँखें जमकर रह गयीं। गांधीजीके २१ दिनके उपवासके दिनोंमें अजमेरके किसी ऊँचे अधिकारीने लिखा था—"मि० गांधीके उपवाससे यहां चारों ओर भयानक विकलता फैली हुई है। बहुत सम्भव है कि बलवा हो जाए। मेरा क्या कर्त्तव्य है, आदेश दीजिये।" होम सेक्रेटरीने उत्तर दिया था—"हमें पूरा भय है कि इस बार मि० गांधी उपवास पूरा नहीं कर पायेंगे। उनकी मृत्यु हो जाय तो कोई आश्चर्य नहीं। आपको सब भाँति तत्पर रहना चाहिये। बलवे होंगे। एक बार आपको क्रूरसे क्रूर दमन करना पड़े, तो भी असमंजसमें मत पड़िये।"

प्रदीपके रोंगटे खड़े हो गए। गांधीजीकी मृत्यु ! वह कभी स्वप्न में भी नहीं सोच सकता था। राष्ट्रपिताका निधन !

वह गांधीवादी नहीं था। कांग्रेसके नेता-गणमें उसकी श्रद्धा भी नहीं बच रही थी। फिर भी गांधीजीके व्यक्तित्वके प्रति वह अतीव श्रद्धालु था। वह कहा करता कि बुद्धिवादकी तराजू पर हलका रह कर भी यह व्यक्ति महामानव है। नैतिक-बलमें वह संसारमें अपना जोड़ा नहीं रखता। ऐसे व्यक्तिके विषयमें इतनी घोर उपेक्षा देखकर उसका अन्तर झुलस गया।

दोनों पत्र फिर देखे। होम सेक्रेटरी तो अङ्गरेज था। उस पर कोई क्या गिला करे, वह ठहरा राष्ट्रका शत्रु। किन्तु अजमेरका वह अधिकारी—वह भारतीय था, इसी देशमें जन्मा, यहाँके अन्न-पानीसे पला पनपा। उस देश-द्रोहीको कोई क्या कहे ?

प्रदीपकी आँखें घूमी। कमरेमें प्रायः तीस-चालीस आदमी काम करते थे। सब भारतीय। सभी तो उस व्यवस्थाके कल-पुर्जे थे, जो

समस्त देशको साम्राज्यशाही, पूँजीवाद, सामन्तवाद, नौकरशाही, साम्प्रदायिकता, अशिक्षा, कुसंस्कार, गंदगी, भुखमरी, रुग्णता और पशुताकी चक्कीमें पीसकर विच्छिन्न किये जा रही थी। इस सेक्रेटेरियट के भारतीय कार्यकर्मियों, चाहे वे चपरासी हों, चाहे आनरेबल मेम्बर, देश-द्रोहका कलंक लगा है। वे सब कुत्ते हैं जिनके गलेमें सांकले पड़ी हैं—सोने, चांदी, ताँबेकी।

और वह स्वयं भी उनमेंसे एक है। देश-द्रोही, चाँदीका पट्टा पहने एक कुत्ता!

आत्म-ग्लानिसे प्रदीपका रोम-रोम प्लावित हो उठा। खूंटी परसे हैट उतार कर पहना। चार बजे थे। किन्तु वह एक क्षण भी यहां ठहरनेको तैयार नहीं था। कल त्याग-पत्र भेज देगा। फिर मुड़कर वह इन शोणित-सने प्रासादोंमें पाँव नहीं रक्खेगा।

सेक्शन इन्चार्जके पास छुट्टी मांगने पहुँचा। वे मुस्कराकर बोले।

"अजी साहब, अब तो छुट्टी ही छुट्टी है।"

प्रदीप चौंका। समझमें नहीं आया कि उस बातका क्या अर्थ हो सकता था।

"आपका शिमला ट्रांसफर हो गया है। तैयारी कीजिये। पांच जूनको वहां हाजरी देनी होगी। कल सुबह आकर अपना चार्ज ऐयर साहबको सम्भाल जाइये। बस। गुड लक।"—सेक्शन इन्चार्जने बड़ी आत्मीयतासे कहा।

घर पहुँचते-पहुँचते प्रदीपने त्याग-पत्रका विचार स्थगित कर दिया। शिमला देखनेके लोभने उसे धर दबाया।

३७

तीन जूनको प्रदीप कालका मेलके एक ड्योढ़े दरजेमें बैठा था। रातके नौ बजे थे, भयानक गरमीमें उसके शिमला पहुंचनेकी चाह और भी बढ़ गई। डिब्बेमें एक नौजवान पंजाबी और उसके साथ उसकी माँ और स्त्री भी बैठे थे। एक सैनिक ऊपरके पाटे पर बिस्तरा बिछाए चित्त लेटा था।

दिल्लीके लालाओंके वस्त्र पहने एक अठारह-बीस वर्षका नवयुवक आया। उसके साथ तीन-चार स्त्रियां और तीन-चार मर्द थे। लड़केको भीतर बैठा कर वे बाहर खड़े आपसमें चर्चा करने लगे। पंजाबीकी मां कान लगा कर सुन रही थी। उस बूढ़ीने एकबार खूब ध्यानसे उस लड़केको ऊपरसे नीचे तक देखा। फिर अपने लड़केसे बोली।

"सुना तूने, ध्यानचन्द। यह जो लड़का सामने बैठा है, इसकी कुड़माई होनेवाली है। कह रहे हैं कि लड़की वालेने दस-ग्यारह हजारका सामान भेजा है। ब्याहमें पचास हजार लगाएगा।"

पंजाबी नौजवान मुस्करा कर अपनी स्त्रीकी ओर देखने लगा। वह भी मुस्करा दी। बूढ़ी पीठ फेर कर फिर बाहर वालोंकी बातें सुन रही थी। आखिर उससे नहीं रहा गया। एक स्त्रीसे पूछने लगी—

"जी आप कौन लोग हैं?"

"अग्रवाल"—उस औरतने उत्तर दिया।

"बनिए तो!"—बूढ़ीने पूछा।

"हां, बनिए"—औरत बोली।

"यह लड़का आपका है?"—बूढ़ीने आँखके इशारेसे भीतर बैठे लड़केको जताते हुए कहा।

"नहीं, मेरा भानजा है, छोटी बहनका लड़का। मेरे पास रहता है।"

"कितना पढ़ा है यह?"

वह स्त्री नहीं बता सकी। पास खड़े एक आदमीसे पूछ कर उसने कहा—

"इसी साल बड़ा स्कूल पास किया है।"

"काम क्या करता है?"—बूढ़ीने पूछा।

"सरकारी दफ्तरमें नौकर हो गया है। रायसीनेमें।"

"कितने रुपए मिलते हैं?"

"साठ रुपए पर लगा है। सुना है तरक्की होकर अस्सी हो जाएंगे।"

बूढ़ी विचारमें पड़ गई। फिर मानो डिब्बेके भीतर और बाहर सबको सम्बोधित करके किंचित् दुःख भरे स्वरमें बोली—

"मेरा ध्यानचन्द बिलायत पास है। खाण्डकी मीलमें बड़ा इंजीनियर है। पन्द्रह सौ रुपए महीना पाता है। परसाल ब्याह हुआ था, इसको तो पांच सौ रुपए भी नहीं मिले!"

"वह तो जी अपना-अपना दस्तूर है।"—बाहर खड़ी औरत बोली।

बूढ़ी कुछ उदास हो गई। पासमें बैठी बहू का चेहरा तमतमा रहा था। सहसा वह उठी और बाथरूममें घुस गई। गाड़ी सीटी दे रही थी।

बूढ़ी बार-बार उस लड़केको देखती थी और फिर ध्यानचन्दकी ओर देखने लग जाती थी। मानो तुलना कर रही हो। प्रदीपसे नहीं रहा गया। बोल पड़ा—

"माताजी, अपने ध्यानचन्दको इन लालाजीसे बदल लीजिए।"

बूढ़ी कुछ नहीं बोली। ध्यानचन्दने एक कड़ी नजर प्रदीप पर डाल कर कह दिया कि परिचय करनेका यह तरीका उसे बिल्कुल पसन्द नहीं। प्रदीप खिसियाना होकर अखबार देखने लगा।

बहूरानी भीतरसे निकलीं। प्रदीपने ध्यानसे देखा, वेहया-सा होकर। लड़की शकल-सूरतसे सोलहो आने थी। भाव-भंगिमासे अच्छी शिक्षित भी जान पड़ती थी। बहुत सादा वस्त्र, बड़ी रुचि और सुघराईसे पहने थे। कानोंमें हलके बुन्दे छोड़ कर कोई आभूषण शरीर पर नहीं था। उसकी लाल आँखें देख कर प्रदीप समझ गया कि वह आँसू बहा कर आई है।

प्रदीपकी आँखोंमें वह गुड़िया नाच उठी, जो लालाजीका घर बसाएगी। उसका भारी लहंगा, कमखाबका क़बजा, कलाबत्तूके भारी जालकी रेशमी ओढ़नी, नाक, कान, गले और हाथोंमें सेर भर सोना, पाँवमें पाँच सेर चांदी, सब उसके सामने चमक पड़े। वह रुपया लेकर आएगी, सास उसके पाँव धोकर पीएगी। और यह बेचारी मिसेज ध्यानचन्द......

ऊपर लेटा सिपाही हरियानेकी भाषामें 'हीर रांझा' गा रहा था। जिस समय प्रदीपने उसके राग पर ध्यान दिया, उस समय रांझा हीरसे बिदा ले रहा था। वह कह रहा था कि उसे तो हीरके पिताने भैंसें

चरानेके लिए रक्खा था, सो बारह बरस उसने भैंसें चरा दीं। अब उसकी जरूरत नहीं और वह काला मुंह करके रातके अन्धेरेमें हीरकी नगरी छोड़ जाएगा। यह उसका भ्रम था कि अमीर गरीबका प्रेम हो सकता है। उसने चोट खाई। जीवन भर न भर सकनेवाला घाव छातीमें लेकर वह जा रहा है। उस घाव पर किसी दिन मरहम भी नहीं लग पाएगी।

प्रदीपके मानसमें सोई सुनयनाकी याद तड़प उठी। वासुदेव सामने खड़ा मूछों पर ताव देकर कह रहा था—"क्यों बेटा, ठोस जमीन पर पाँव नहीं पड़ते ना?"

प्रदीपने पुस्तक उठा कर पढ़नी आरम्भ कर दी और थोड़ी देरमें पढ़ कर सो गया। हीर का विकल क्रन्दन डिब्बेमें भरता जा रहा था।

प्रातःकाल वह उठा तो गाड़ी पर्वतीय प्रदेशमें दौड़ रही थी। सूर्योदय होनेमें अभी देर थी। डिब्बेमें अब वह और ध्यानचन्दका परिवार रह गये थे। वह सैनिक और लालाजी न जाने रास्तेमें कहां उतर गए। ध्यानचन्द और मिसेज सो रहे थे। बूढ़ी बैठी माला जप रही थी। प्रदीपको जागा देख कर बोली—

"कहाँ जाओगे, बेटा।"

"शिमला।"

"वहीं रहते हो ना?"

"नहीं, मैं तो पहली बार जा रहा हूं।"

"सैर करने।"

"नहीं, मैं सरकारी दफ्तरमें नौकर हूँ। दिल्लीसे बदली हो गई।"

"कितने रुपए मिलते हैं तुमको?"

"एक सौ दस। शिमलेमें शायद बीस-तीस और मिल जाएंगे।"
बूढ़ी कुछ विचारमें पड़ गई। फिर बोली—

"तुम्हारा ब्याह हो गया, बेटा।"

"हाँ, हो गया। एक साल हुआ है।"

"क्या जात है तुम्हारी।"

"अग्रवाल, बनिया।"

"तब तो ब्याहमें तुमको भी बहुत रुपए मिले होंगे।"

"नहीं, एक पाई भी नहीं।"

"तुम्हारी बिरादरीमें सुना है सबको मिलते हैं।"

"नहीं, ऐसी तो बात नहीं है। पर हाँ, देने-लेनेका रिवाज है ही।"

बूढ़ी फिर विचारमें पड़ गई। फिर उठ कर प्रदीपके पास आ बैठी और धीरे-धीरे कहने लगी—

"दो साल हुए, श्यान बिलायत पास करके आया था। बड़े-बड़े रईसोंके रिश्ते आए, एक नहीं सुनी इसने। पिछले साल मसूरी गया था, इस पीली मिट्टी पर लट्टू हो गया। इसका बाप कालिजमें पढ़ाता है। सफेद कपड़े और किताबें छोड़ कर घरमें कुछ भी नहीं है। मैंने बहुत समझाया कि घर आती लछमी पर ठोकर मत मार, इसने एक नहीं मानीं। वे जिन्दा होते तो इसे मनमानी कभी नहीं करने देते।"
—बुढ़िया कहती जाती थी और कनखियोंसे सोई हुइ बहूको देखती जाती थी।

प्रदीपकी समझमें नहीं आया कि क्या कहे। बुढ़िया आँख मूंद कर फिर माला जपने लगी।

उत्तर-पूर्व क्षितिजका कोना लोहूलुहान होता जा रहा था। प्रदीप खिड़कीके बाहर झांकने लगा। झीने जंगलसे लदी छोटी-छोटी पहाड़ियों पर एक मलिन-सी धूप फैलती जा रही थी। उस जलशून्य प्रदेशको देख कर प्रदीपके अन्तरमें फैला मरुस्थल भी दहकने लगा। चारों ओर भयानक उदासी फैली थी। उसे आश्चर्य होने लगा कि इस प्रदेशमें रह कर भी कोई "सस्य श्यामलां मलयज शीतलां" गा सकता है।

कालका स्टेशन आ गया। कुलीने उसका सामान कठघरेमें पहुँचा दिया, जहाँ उसर पर उसके नामके लेबुल लग गए और उसे एक रसीद भी मिल गई। शिमला जानेवाली गाड़ीमें अभी देर थी। वह चाय के स्टालपर जाकर नाश्ता करने लगा। सामने बेंचपर मिसेज ध्यानचन्द बैठी थीं। एक कोनेपर बुढ़िया, बहूकी ओरसे मुँह फेरकर, माला जप रही थी।

प्रदीपके मनमें एक वेदना-सी छलछलाने लगी। मिसेज ध्यानचन्द के विषयमें सोच रहा था—यह लड़की सुन्दर है, शिक्षित है, सज्जन भी जान पड़ती है। इसको उच्च शिक्षित और कमाऊ पति मिला है। पतिका प्यार भी पाया होगा। किन्तु इसे देखकर कोई नहीं कह सकता कि इसका मन खिला है। भीतर-ही-भीतर मानो यह कुढ़ रही हो। आखिर क्यों?

शिमला जानेवाली छोटी-सी गाड़ीमें इन्टर क्लासका डिब्बा देखकर प्रदीप चढ़ा, तो भीतर ध्यानचन्द और उसका परिवार बैठा था। एक बार

तो उसका जी चाहा कि उतरकर दूसरे डिब्बेमें चला जाए ; किन्तु पैर नहीं उठे और वह एक कोनेमें बैठ गया। रह-रहकर उसकी आँखें मिसेज ध्यानचन्दपर जा ठहरती थीं। वह शोककी मूर्त्ति बनी एक ओर बैठी थी। डिब्बेमें सन्नाटा था।

गाड़ी गहन पर्वतीय प्रदेशमें दौड़ रही थी। प्रदीप खिड़कीके बाहर सिर निकालकर बच्चोंकी भाँति तमाशा देखने लगा। उसने अभी तक रेलको सीधे मार्गपर, समतल भूमिपर चलते देखा था। किन्तु यहाँ तो गाड़ी मानो किसी लक्ष्यकी ओर न जाकर करतब दिखा रही थी। वह एक दिशामें कुछ दूर जाकर फिर मुड़ पड़ती थी और जिस मार्गसे गई थी, उसीके समानान्तर लौटती-सी जान पड़ती थी। कभी वह नीचेकी ओर लुढ़कती थी, तो कभी ऊपर चढ़ती थी। लाइनके एक ओर ऊँचा पर्वत और दूसरी ओर गहरा खड्ड। लाइनको छोड़कर प्रायः एक-एक हाथ समतल धरती दोनों ओर रही होगी। किसी तरफ भी गाड़ी गिर जाए, तो चूर-चूर होनेमें कोई सन्देह नहीं था। कहीं-कहीं वह सकरे पुलपरसे गुजरती थी, जिसके दोनों ओर विशाल, अथाह गह्वर मुँह बाए सब-कुछ निगल जानेको लालायितसे दीख पड़ते थे। किन्तु सारा प्रदेश सूखा था, जिसपर पड़नेवाली धूप अत्यन्त एकाकी और उदास हो उठती थी।

सहसा डिब्बेमें कोई रो उठा। प्रदीपने मुँह फेरा, तो देखा कि बुढ़िया स्यापेकी परम्परामें विहित नाट्य-मुद्राओंके साथ क्रन्दन कर रही है। दोनों हाथोंसे वह घुटने, छाती और माथा पीटती जाती थी और बीभत्स स्वरमें रोती जाती थी। मिसेज ध्यानचन्द हाथमें मिठाई

की तश्तरी लिए सहमी बैठी थी। ध्यानचन्द त्योरी चढ़ाए, कठोर मुख-मुद्रा बनाए कुछ सोचनेका प्रयत्न करता-सा जान पड़ता था। प्रदीप कुछ भी नहीं समझ पाया। न-जाने क्यों, वह जाकर बुढ़ियाके पास बैठ गया और बोल उठा—

"क्या बात है, ताईजी!"

"मेरे घरमें कैसी सत्यानाशन बहू आई है, जो ससुरकी बरसीके दिन मुझे मिठाई खानेको दे रही है। हाय रे, हाय रे······।"—रोते-रोते बुढ़िया कह गई।

"मुझे जी बिल्कुल मालूम नहीं था!"—ध्यानचन्दको सम्बोधित करके मिसेज बोली। उसके स्वरमें घोर पश्चात्ताप था।

"तुझे क्यों मालूम होने लगा। तू क्या इस घरकी बहू है? छः महीने हो गए हमारा निगलते-पहनते, शरीफ़ज़ादी होती तो हमारा दुःख-सुख बँटाना भी सीखती। हाय रे······हाय रे······!"—बुढ़िया बातें करते-करते भी स्वर तालसे भ्रष्ट नहीं होती थी।

"मुझे माफ़ कर दीजिए, माताजी! मुझसे भूल हो गई। मैं आपके पैरों पड़ती हूँ।"—कहकर मिसेज बुढ़ियाके पाँव पकड़नेको झुकी।

बुढिया उठकर एक ओर हट गई और चिल्लाकर बोली—

"खबरदार, जो मुझे छुआ तो! यह मीठी-मीठी बातें करके मेरे लड़केको खा गई, डायन! मेरे ऊपर हाथ साफ़ करना चाहती है। हाय रे······हाय रे······!"

प्रदीपको क्रोध आ रहा था। बुढ़ियापर नहीं, उसके बहू-बेटेपर। ये लोग एकबारगी अकिंचन क्यों बने बैठे हैं? बुढ़िया सर्वथा

अनधिकार, अनर्गल बकबाद कर रही है। न बेटा उसे डाँटता है, न बहू ही आत्म-सम्मानकी प्रेरणा पाकर कुछ कहती है। उसके ऐसी माँ होती, तो गला घोंटकर मार देता और फिर शास्त्र और स्मृतिके दण्ड-विधानको हँस कर अपने सिर ले लेता। किन्तु ये लोग म्याऊँ बने बैठे हैं !

अन्ततः उससे नहीं रहा गया। ध्यानचन्दसे बोला—

"आप क्या इस बुढ़ियाको तमीज नहीं सिखा सकते ?"

ध्यानचन्द कुछ नहीं बोला। उत्तर दिया मिसेजने—

"आप बीचमें मत पड़िए, भाई ! किस्मतका लिखा मिटता नहीं है।"

"क्या हुआ तेरी किस्मतको ? जलमुहीं, किस्मतको कोसती है। भूखे बापकी बेटी, राजासे ब्याही गई, किस्मत थी तभी तो ! पर कुत्ते को कब घी हजम होता है ?"—आँसू पोंछते-पोंछते बुढ़िया बोली।

"आप अपना घी अपने पास रखिए, ताईजी इनको खिलाती क्यों हैं ?"—प्रदीपने कहा।

बुढ़िया फट पड़ी। प्रचण्ड स्वरमें चिल्ला कर बोली—

"हमारे बीचमें बोलनेवाला तू होता कौन है ? बहुत देखे हैं, तेरे-जैसे आवारा। जवान औरत देखी और पिघल गए। अपनी माँ को सुनाना, यह सब खरी-खरी। मुझसे कुछ कहा, तो मरेका भेजा खा जाऊँगी।"—और सचमुच वह उठकर प्रदीपके सामने आ खड़ी हुई। प्रदीप डर गया। ध्यानचन्द चुपचाप बैठा रहा, जैसे उसे कुछ मतलब ही नहीं।

मिसेज ध्यानचंद उठकर आईं। दोनोंके बीचमें खड़ी होकर बूढ़ीसे कहने लगी—

"इनसे क्यों लड़ती हैं, आप! इनका क्या कसूर है? इन्होंने कहा क्या है? मुफ्तमें क्यों परायोंसे झगड़ा कर रही हैं?"

"पराया था तो यह तेरा खसम तेरे लिए बोला क्यों! मैं सब समझती हूँ। तेरा दीदा जो घूमता है।"

प्रदीप सिहर उठा। मिसेज जैसे धरतीमें धँस गईं। पर ध्यानचन्द की समाधि भंग नहीं हुई। उसी प्रकार मौन, गम्भीर मुद्रा बनाए बैठा रहा।

गाड़ी स्टेशनपर रुकी। प्रदीप अपना हैट उठाकर उतर गया और फिर लौटकर उस डिब्बेमें नहीं बैठा।

३८

असली शिमला देखकर, प्रदीपकी कल्पनाका शिमला विलीन हो गया। वह समझता था कि कोई प्रशस्त पर्वतीय घाटी होगी, जिसमें अन्य नगरोंकी भाँति यह नगर भी बसा होगा। पहले उसने कोई हिल स्टेशन देखा नहीं था। उस अस्त-व्यस्त, ऊबड़-खाबड़ बस्तीको देखकर उसका मन मर गया।

पहाड़ीको सामान सौंप, माल रोडका पता उसे समझाकर प्रदीप उसके पीछे-पीछे चल दिया। देहलीसे चलते समय एक मित्रने उसे

एक बड़े बजाजके नाम चिट्ठी दिलवा दी थी। आशा थी कि वे अपने पास अथवा और कहीं उसके रहन-सहनका प्रबन्ध कर देंगे। प्रदीप समझता था कि कोई लाला होगा, न हुआ तो उसकी गद्दीमें सोएगा और चौकेमें खाएगा।

किन्तु उस दुकानका ठाठ-बाट देखकर वह सकपका गया। एकबारगी यूरोपियन ढंग-ढर्रा! भीतर चारों ओर बड़े-बड़े ऊँचे मेजोंके पीछे खड़े सूट-बूट पहने चटाकेदार नौजवान कपड़े दिखा रहे थे। कपड़े भी ऐसे, जो प्रदीपने कभी स्वप्नमें भी नहीं देखे थे। ग्राहकोंमें स्त्रियाँ अधिक थीं। वे चाहे काली हों या गोरी, सबका स्टैण्डर्ड एक था। रूज, पाउडर, लिपस्टिक, समूरी लबादा और सेन्ट, जिसके झोंके दुकानके बाहर प्रदीपकी घ्राणेन्द्रियको तृप्त करने लगे।

प्रदीपके पाँव नहीं पड़े। कहाँ वे सब और कहाँ वह। अपने कपड़ोंपर निगाह डाली। सूती सूट, रेलके सफरसे मैला। जूतेपर पालिश नहीं, ठुड्डीपर दो दिनकी हजामत। सिरके अस्त-व्यस्त बाल। दूकानके भीतर कैसे घुस जाता?

पहाड़ी बोला—"यही दुकान है, सा'ब।"

प्रदीपने सिर हिलाकर हामी भर दी, बोला कुछ नहीं। असमंजसमें था कि क्या करे? जी चाहा कि कुलीसे किसी धर्मशाला अथवा होटल में जानेको कह दे। किन्तु उसने सुन रक्खा था कि शिमलामें कहीं भी पांव टिकानेको स्थान नहीं है। वह दुकानकी तरफ पीठ करके रास्ता चलते लोगोंको देखने लगा। सोचा मन कुछ स्थिर हो जाए तो निर्णय करेगा।

"अबे रास्ता रोके क्यों खड़ा है ?"

किसीका क्रुद्ध स्वर सुनकर प्रदीपने पीठ फेरी। एक नौजवान दुकान के द्वार पर खड़ा पहाड़ी पर बिगड़ रहा था। प्रदीपने उत्तर दिया—

"यह मेरा कुली है, मिस्टर। मैं आपकी दुकान पर आया था।"

"ओ। कहाँसे आए हैं आप ?"—तनिक नरम होकर नौजवानने पूछा।

"दिल्लीसे। यह चिट्ठी लाया हूँ!"—प्रदीपने जेबसे लिफाफा निकाल कर उसके हाथमें दे दिया।

वह नौजवान उसको हाथके इशारेसे वहीं रुकनेके लिये कहकर भीतर चला गया। प्रदीप उत्कण्ठित हो चला। न जाने क्या बात है ? किन्तु थोड़ी देर बाद नौजवानने वापिस आकर पहाड़ीसे कहा—

"ए, इनको नीचे ले जाओ।"

और फिर प्रदीपसे बोला—"आप जरा नहा-धोकर कपड़े बदलिये। मालिक अभी busy हैं।"

दुकानकी बगलसे सीढ़ियाँ उतरकर प्रदीप मकानके पिछवाड़ेमें पहुँचा। पहाड़ीने एक चबूतरे पर सामान टिकाकर अपनी भाषामें आवाज देना शुरू किया। भीतरसे एक दूसरा पहाड़ी निकला और प्रदीप को भीतर बुला ले गया। नीची छतका एक कमरा था, रसोईघर-सा। बराबरमें एक जीना दिखाते हुए पहाड़ी बोला—

"आप ऊपर चले जाइये। सामान भिजवाता हूँ। गुसल करेंगे ना आप ?"

ऊपर जाकर प्रदीपने देखा कि एक नीची-सी छतका बालाखाना था। सामनेकी दीवारमें बड़ी-बड़ी अलमारियाँ लगी थीं, फर्श पर था मोटा गुलाबी कालीन। कमरेके बीचो-बीच एक सोफा सेट पड़ा था और एक कोनेमें एक मोटे मैटरेसका बैड। गलीकी तरफ वाली सारी दीवारमें खिड़कियाँ थीं, जिन पर जालीका परदा टंगा था। एक बार तो उसका दम-सा घुट गया।

नहा-खाकर प्रदीप लेटा और सो गया। जब आंख खुली तो देखा कि कमरेमें बिजली जल रही है और दो-तीन नवयुवक सामनेकी अलमारियां खोले कपड़े बदल रहे हैं। वह आँख मूँदे पड़ रहा। पर कौतूहल न दबा पाया। दूसरी बार आँखें खोलीं तो वे लोग रैकेट छांट रहे थे, जिससे वह समझ गया कि बैडमिन्टन खेलनेकी तैयारी है। वह खांसकर उठ बैठा। अपनी खद्दरकी बनी, देहातमें छपी लाल रंगकी नई लिहाफ देखकर उसे कुछ लज्जा-सी हुई। क्या सोचेंगे ये सब?

उसको जागा देखकर एक साहब आगे बढ़ आये। बोले—

"देखिये साहब, मैंने अपना मैनेजर भेजकर सब धर्मशाला और होटलोंमें जगह तलाश करवा डाली है। कहीं एक कोठरी भी खाली नहीं। आपको जगह ठीक किए बिना नहीं आना था। न जाने कितने गौरमेन्ट सर्वेन्ट आये और जगह न पाकर इस्तीफा देकर चले गए। आप भी अपना सोच लीजिये।"

"लेकिन यहां, इस कमरेमें तो कोई नहीं रहता।"—प्रदीप साहस बटोरकर बोला।

"यह रहनेका कमरा नहीं है, जनाब। यह तो दिनमें चाय-वाय पीने और आराम करनेको रख छोड़ा है।"

"आप इजाजत दें तो दो-चार दिन मैं यहाँ टिक जाऊँ। एक कोने में मेरा सामान पड़ा रहेगा। रातको यहां सो जाऊँगा।"

"माफ कीजिये, दो-चार दिनकी बात होती तो मैं खुद कुछ नहीं कहता, लेकिन मैं जानता हूँ कि आपको आसानीसे जगह नहीं मिलेगी। कलका दिन आपका है। अपना कुछ इन्तजाम कर लीजिये।"—कहकर वे साहब साथियों सहित नीचे उतर गए। प्रदीपको जैसे सांप सूंघ गया।

अपना गरम सूट पहनकर वह बाहर निकला। देखे तो सही कि शिमला क्या बला है? मन पर अवसाद छाया था। बिना जानी-पहिचानी जगहमें वह कहाँ जाएगा। इन साहबको भी दोष नहीं दिया जा सकता। आखिर वह इनका होता कौन है। इतना क्या कम है कि यहां इतनी देर भी टिकनेको जगह इन्होंने दी। दुकानके बाहरसे टरका सकते थे और उसे वापिस स्टेशन जाना पड़ता। अब कुछ हाथ-पाँव मार सकेगा।

रिज पर पहुँचकर प्रदीपने चारों ओर आँखें दौड़ाईं। मीलों तक बिजलीकी बत्तियाँ जगमगा रही थीं। ऊँची चोटियों पर, गहरे खड्डोंमें। बत्तियोंके अतिरिक्त न दीख पड़ते थे मकान, न मकानोंमें रहनेवाले इन्सान। एक गहन निस्तब्धता-सी चारों ओर फैली थी। साधारणतः नागरिक जीवनमें जो किचमिच और शोर-शराबा होता है, उसका नामो-निशान भी यहाँ नहीं था। रिजके ऊपरसे गुजरने वाले अथवा बैंचों

पर बैठे स्त्री-पुरुष सभी भद्र, शिक्षित, शिष्ट जान पड़ते थे। दूर-दूर तक खुला, तारों भरा, समाधिस्थ-सा, मौन, निश्चल आकाश, और मुक्त होकर बहनेवाला शीतल, स्वच्छ वातास—जीवनकी इस पृष्ठ-भूमिकामें नीचे मैदानसे आए, जूनके उष्ण, धूलि भरे अन्धड़ोंमें झुलसे व्यक्तिको निश्चय ही सान्त्वना देनेकी सामर्थ्य थी। और वह सान्त्वना प्रदीपको मिली भी। हलकी ठण्डकी गुदगुदीने उसके जर्जर शरीरमें ही नहीं, बुझे हुए मनमें भी एक स्पन्दन जगा दिया।

प्रदीपको सुनयनाकी याद आई। वह कहाँ होगी? अनेक दिन हुए उसने सुनयनाकी कोई खोज-खबर नहीं ली। कोई एक मास पहले उसके घर गया था, तो पता लगा था कि वह नैनीतालसे नहीं लौटी। किन्तु शायद उसके कुछ दिन बाद ही लौट आई हो। उसको पता अवश्य लगाना चाहिये था, कमसे कम शिमले आते समय तो उसके घर हो आता। सुनयना यदि दिल्लीमें होगी तो उसको अवश्य प्रदीप के शिमले आनेका पता चल जाएगा और वह बुरा मानेगी।

सहसा प्रदीपको सामनेसे गुजरता हुआ एक हिन्दू-कालिजका लड़का दिखाई दिया। वह उससे दो-तीन साल पीछे था और प्रदीपकी मुंहदेखे भरकी जान-पहिचान उससे थी। किन्तु इस नई जगहमें जहाँ परिचित तक कहनेको कोई नहीं था, प्रदीपकी आत्मीयता उमड़ चली। लपक कर वह उसके बराबरमें जा पहुँचा और कन्धे पर हाथ रखकर बोला—

"क्यों भाई मुझे पहचानते हो?"

"अरे वाह, आप यहाँ कैसे?"

प्रदीप असमंजसमें पड़ गया। क्या कहे? अपने कालिजमें वह बहुत ऊँचे छात्रोंमेंसे था, वक्ता, लेखक। क्योंकर कह दे कि होम डिपार्टमेंटमें क्लर्क होकर आया है! यह लड़का क्या सोचेगा?

प्रदीप मुस्कराकर रह गया। कृष्णने भी बात पर जोर नहीं दिया। आगे पूछा—"कहाँ ठहरे हो?"

"आसमानके नीचे, धरती पर।"

"फिर भी?"

"अभी तो यार मकान ढूँढ़ रहा हूं। आज ही तो पहुँचा हूँ और इन आठ-दस घण्टोंमें न जाने कितनी बार शिमला पुकार-पुकारकर मुझे कह चुका 'चले जाओ, यहाँ तुम्हारा ठिकाना नहीं है'।"

"अच्छा, चलें भई, देर हो रही है।"—कृष्णने घड़ीकी ओर देखकर कहा।

"कब मिलोगे?"

"ऐसे ही, चलते-फिरते फिर मिल जायेंगे। छोटी-सी जगह है। टक्कर हो ही जाती है।"

प्रदीप कुछ नहीं बोला। कृष्ण चला गया। लौटकर वह बेंच पर आ बैठा।

दूरसे ग्रामोफोनका स्वर आ रहा था,—"बालम आय बसो मोरे मनमें।"

संगीतकी चोट खाकर प्रदीपकी सोई हुई वेदना जाग उठी। करुणा और कातरतासे उसका जी भर आया। चारों ओर फैले शिमलेका कण-कण चिल्लाने लगा—"तू अभागा है!"

सुखद शीत-भरी रात्रिके इस प्रथम पहरमें इस पर्वतीय उपत्यकाके आंचलमें छिपे बंगले, कोठियां, सरकारी क्वार्टर उस जैसे अनेक हाड़-मांस के पुतलोंको छातीसे लगाए हैं। एक उसीके लिये सारे दरवाजे बंद, सारी छतें नदारद, सारी दीवारें धरासात हो गयीं।

इन ऊबड़-खाबड़ पहाड़ियोंके पहलूमें सोए जनगणमें कोई उस जैसा खोया-खोया, भटका-भूला, एकाकी आँसू नहीं बहाता। सबके अपने हैं, माँ-बाप, चाचा-ताऊ, भाई-बहिन, स्त्री-पुत्र। आँसू किसकी आँखोंमें हो सकते हैं, और यदि हैं तो उनको पोंछनेवाले भी तो हैं। एक उसीके आँसू किसीके स्नेहसिक्त आँचलमें न समा कर निर्मम, कठोर धरती पर बिखर जाते हैं। क्यों? सच, क्यों?

ग्रामोफोन गा रहा था, "मनमें मेरे हूक उठत जब, कोयल कूकत बनमें, बालम......"

प्रदीप उठ कर ऊपरकी ओर चल दिया। उसका जी नहीं चाहता था कि लौट कर उस बालाखानेमें जाए, जहाँ की दीवारें उसकी बेशरमी पर छीः छीः कर उठेंगी!

वह चलता रहा। बड़ी सड़क पर कुछ आगे चल कर बाईं ओर एक छोटी सड़क नीचेको जाती थी। उसी पर प्रदीपने पाँव बढ़ा दिए।

उसका जी चाह रहा था कि वह चलता रहे, रुके नहीं। पीछे मुड़ कर भी न देखे। जिधर राह मिले पाँव बढ़ा दे। और तब तक चलता रहे जब तक कि या तो उसकी हाड़-मांसकी देह मिट्टीमें मिल जाए, अथवा दुनियांका छोर उसके पाँवकी ठोकर खाकर क्रन्दन कर उठे।

वह किसके लिए रुके ? कौन है उसका ? माँ-बाप, बहिनें, उर्मिला—वे सब उसके लिए क्या कर पाए हैं, क्या कर सकते हैं ? वे तो उसका मुँह ताकते हैं, उसके कर्त्तव्यकी याद दिला कर उसे मर-मिटने की प्रेरणा देते हैं। उनका स्नेह उसे नहीं रोक सकता। स्नेह कहां है—एक अन्ध स्वार्थ है, जो शास्त्र और जगत परम्पराकी दोहाई देकर उसे जकड़ना चाहता है। वे सब उसके कौन हैं ? कोई नहीं।

और सुनयना ? वह सबसे भारी धोखा है, वृहद् मायाजाल। नहीं, नहीं—वह है मृगमरीचिका, जो उसे अनन्त काल तक भटकाना चाहती है। उसके लिए वह लौटा तो उससे बढ़ कर मूर्ख नहीं। मनकी उस कमजोरी पर, जिसे प्यार कह कर सातवें आसमान तक उठाया गया है, उसे विजय पानी होगी। प्यारकी कीचड़में सने पाँव जीवन-संघर्षमें भी पुरुषको नीचा दिखाते हैं। जीवनके पार जाते समय हृदयका लोहू निचोड़ कर भी वह कीच धो डालनी चाहिए।

वह तंग सड़क कोई चार फर्लांग घूम कर दांई ओर मुड़ गई। बांई ओर गहरा खड्ड था और ठीक कगारे पर एक लकड़ीकी छत वाला चारों ओरसे खुला विश्राम-गृह। तारों भरे आकाशके छोर दूर क्षितिज पर धरतीका सीना चूम रहे थे और तारोंकी चमचम मानो उस अभि-सारकी गुदगुदीसे सिहरती शिराओंकी धड़कन-मात्र थी। प्रदीपने चाहा कि विश्राम-गृहमें पड़े बेंच पर बैठ कर अपलक आंखोंसे वह प्रणयलीला देखे। संसृतिके रंगमंच पर चलनेवाले इस मौन अभिनयके सामने मानवके मैले-कुचैले, अवसादपूर्ण अभिसारकी कानी कौड़ी भी कीमत नहीं हो सकती।

बढ़ा, सीखा। उसकी अभिज्ञता एकांगी नहीं, फिर अभीप्सा क्यों एक ही ओर सीधी दौड़ती है?

सदा उसकी आँखोंमें एक ही इन्सान थिरकता रहा है। जीवनके भौतिक साधन, सौन्दर्य, सुख, स्नेह पानेवाला इन्सान ही उसका समस्त दृष्टि-प्रदेश घेरे बैठा रहा है। उसी एक इन्सानको लेकर वह महत्वाकांक्षाके पर्वत शिखरों पर चढ़ा और दुर्द्धर्ष ईर्ष्याके गर्तमें गिरा है। उसी इन्सानकी सम्पन्नताकी तुलनामें अपनी सिकुड़ी, शरमाई अकिञ्चनताके लाल लोहेकी सलाखकी नाई अपनी चेतनामें जल उठनेके भयसे उसने संसारमें फैले वृहद किन्तु अमूर्त रोग-शोक, हारी बीमारीका चिन्तन किया। फिरोज़शाह कोटले और लाल किलेके खण्डहरों पर आँसू बहाए, तो उसी इन्सानकी ट्रेजिडि पर—उसका एक दिनका वैभव दूसरे दिन नहीं रहा, इसीलिए। उसके मानस-पट पर सपाटा भरतीं, इतिहासकी फिल्ममें केवल सम्राटों और शाहजादियोंकी छाया-मूर्तियां उभर पाईं। क्यों?

इन मटमैले, नंगे-भूखे, कंकालोंका भी एक इतिहास है। उनकी सामूहिक व्यथाका रौरव प्रपात, उनके आँसुओंकी अटूट शृङ्खला, उनकी आहोंका अदम्य बवण्डर—सब इसलिए हृदय, बुद्धि और आँखोंकी ओटमें रहते हैं, क्योंकि उनको रंग, रूप, स्वर देनेवाला कोई नहीं मिला। कवि, इतिहासज्ञ, चित्रकार सब राजा, रानियों, सेठ, सामन्तोंके निगूढ़ अन्तर्जगतको गाते, लिखते, आंकते रहे, किन्तु इन असंख्य देहोंके बहिर्जगतमें फैली बीभत्स ट्रैजिडि न कभी उनकी आँखोंमें चुभी, न दिल पर चोट कर पाई, न मस्तिष्कमें विचारका स्पन्दन जगा सकी। क्यों?

प्रदीप चुपचाप लौट पड़ा। ज्वार शान्त हो चुका था। इसके पहले कि उसका अहंकार फिर सिर उठा कर उसकी सान्त्वनाको डस सके, वह अपने बिस्तर पर पड़ कर सो गया, सब कुछ भुला कर, सब कुछ पर मुस्करा कर।

३९

अगले दिन प्रातःकाल ही इधर-उधरसे निबृत्त होकर प्रदीपने अपना सामान बांध जूड़ कर रख दिया। आज उसे यह जगह छोड़ देनी होगी, वह छोड़ देगा। मनमें भय नहीं उपजा—भय कैसा? आखिर और भी इतने आदमी जीवन निभाते हैं। रोष नहीं उमड़ा—रोष किस पर, किसीका कसूर हो तो वह रूठे बिगड़े। आत्म-ग्लानि भी नहीं—वह जो कुछ कर सकता था उसने किया, जो कुछ वह नहीं कर सका, उसके लिए अपने-आप पर बिगड़नेके क्या मायनी। पहाड़ी चाय दे गया—प्रदीपने बड़ी तृप्तिके साथ दो प्याले खाली किए। यहांके मालिकोंके लिये वह पराया है, अपरिचित है—किन्तु अपने आतिथ्यमें कोई कमी वे नहीं होने देंगे। इसलिए नहीं कि उनको प्रदीपकी कोई परवाह है—बस इसलिए कि स्वयं उनकी अपनी इज्जत, अपनी पैंठका सवाल है।

गौर्टन कासलमें होम डिपार्टमेन्ट था। रिसैपशन क्लर्कके भेजे चप-रासीके साथ वह सीढ़ियां चढ़ कर कर रास्ते पार करता उस कमरेके पास

पहुंचा, जहां काठ की तख्ती पर Political E लिखा था। अपने-आपको तनिक सम्भाल कर उसने द्वार खोला। भीतर बैठे पाँच-छः मनुष्योंकी आँखें उस पर जम गईं—प्रदीपको पसीना आ गया। नए परिचय प्राप्त करना प्रदीपका स्वभाव नहीं था। नयोंके साथ उसको बेहद हिचक, भय और ग्लानि-सी होती थी। देहली आफिसमें आया तब भी यह सब हुआ था। पर धीरे-धीरे वहां पर सबको वह समझ गया था, सबके प्रति मनमें एक घोर अवहेलनाका भाव भी पैदा कर पाया था। यहां नए सिरेसे इस नई भीड़को समझना, इनके लिए भी वही निरादरकी भावना पुष्ट करना—एक नई विडम्बना थी। इन सबके साथ घुल-मिल कर घनिष्ठता बढ़ाना तो वह चाहता ही नहीं था। उसे आशा ही नहीं थी कि वहां—आफिसकी चारदीवारीमें—रीढ़की हड्डी रखनेवाला इन्सान मिलेगा।

वह खड़ा-खड़ा सोच रहा था कि किससे बोले, किधर जाए। सामने बैठे गंजी चाँदवाले अत्यन्त गोरे हिन्दुस्तानीने सिर उठाकर उसे देखा और फिर पास बुला लिया। पूछा—

"आपको क्या चाहिए?"

"मैं, जी देहलीसे आया हूँ।"

"आपका नाम?"

"प्रदीप।"

"प्रदीप......प्रदीप ह्वाट्?"

"प्रदीप गुप्ता।"

"ओ ! मिस्टर गुप्ता........आप आ गए। ठीक । मेरे ही सेक्शन में आपको काम करना है। अच्छा।"—तनिक सिर झुकाकर उन साहबने कुछ सोचा और फिर पूछने लगे—"आपको होममें कितने दिन हो गए?"

"अभी एक महीना हो चला है।"

"इसके पहले आप किस डिपार्टमेंटमें थे?"

"इसके पहले तो जी मैं अपने घरपर था।"

"ह्वाट······आप एकदम नए आदमी हैं। मैंने तो, किन्तु किसी अनुभवी असिस्टैंटकी माँग की थी। ठहरिए।"—और टेलीफोन उठाकर उसने किसीसे बातचीत शुरू की।

प्रदीपको ऐसा लग रहा था, जैसे वह कूड़ा-करकट हो गया हो। अनुभवसे न-जाने इन लोगोंका क्या अर्थ है। किसी आदमीमें समझ-बूझ हो, तो दो-चार दिनमें वह दफ्तरका कोई भी काम सँभाल सकता है। फिर ब्रिटिश सरकारके दफ्तरमें कामको स्थगित कर डालनेके अनुभवके सिवाय चाहिए भी क्या? हो सकता है·········

"वेल, मि॰ गुप्ता,···मैं हूँ मि॰ जान, इस सेक्शनका सुपरिन्टेन्डेण्ट। मेरे साथ ही आपको काम करना है। मुझे एक पूरे असिस्टेण्टकी सख्त जरूरत है। आप बहुत जल्दी काम सीखनेकी कोशिश कीजिए।"

"किन्तु ऐसा क्या काम है, मि॰ जान?"—प्रदीप उसकी बातमें भरे गाम्भीर्यकी अवहेलना करके बोला।

"काम? काम तो बहुत है। आप धीरे-धीरे सब जान जाएँगे। पहले पाँच-सात दिन डायरायजिंगपर बैठिए। फिर मूवमेंट और

रिकार्डिंग पर।"—कहकर मि० जानने सिर उठाया और कमरेके उस पार बैठे नवयुवकको लक्ष्यकर ऊँचे स्वरमें बोले—"मि० ढिल्लन, मि० गुप्ताको आप डायरायजिंग सिखा दीजिए।"

मि० ढिल्लन अपनी जगह उठकर खड़ा हो गया। कमरेमें बैठे सब लोग प्रदीपकी ओर घूरने लगे। प्रदीपने एक नजरसे सबको देखा। उधर उसका बी० ए० का सहपाठी वर्धाचार्य बैठा था। उसे देखकर प्रदीप मुस्कराया, परिचयके नाते; किन्तु वर्धाचार्यके मुखपर एक रेखा भी नहीं बदली। उसकी आँखोंसे उपेक्षा टपक रही थी। प्रदीपको साहस नहीं हुआ कि उसकी मेजपर जाकर "हलो" कह दे।

ढिल्लनका काम समझनेमें प्रदीपको पाँच मिनट भी नहीं लगे। एक मोटेसे रजिस्टरमें सुबह-शाम आनेवाली डाकका विवरण लिखना पड़ता था—किस नम्बरकी चिट्ठी अथवा तार किसने, कब, कहाँसे, किसको, क्यों लिखी। महीने-बीस दिन बाद उसका उत्तर जाता, तो वह भी संक्षेपमें किसी पन्नेपर लिख दिया जाता। किन्तु ढिल्लनको पूर्ण विश्वास था कि उसका काम अत्यन्त कठिन और पेचीदा है। उसकी लम्बी-चौड़ी बातें सुनकर जब प्रदीप मुस्कराने लगा, तो वह चिढ़कर चुप हो गया। प्रदीप उठकर चल दिया, कमरेके बाहर। वह लघुशंकासे निवृत्त होना चाहता था।

बाहर बरामदोंमें बैठे चपरासियोंसे पूछता हुआ वह एक पेशाब-घरमें चला गया। बहुत सुन्दर एवं स्वच्छ जगह थी। एक ओरको बनी बड़ी खिड़कीमें से क्षितिज तक फैले पार्वत्य प्रदेशकी सुषमा नप-तुलकर

आँखोंमें समा जाती थी। प्रदीपका जो चाहा कि खिड़कीपर बैठकर मि० जान, ढिल्लन और उस मोटे रजिस्टरको—सबको भुला डाले।

वह पेशाब-घरसे बाहर निकला, तो भीतर जाते हुए एक भद्रवेशीने उसको बड़े ध्यानसे देखकर कहा—

"सुनिए तो!"

प्रदीप ठिठककर उसकी ओर देखने लगा।

दरवाजेके ऊपर टँगी एक काठकी तख्तीकी ओर संकेत करके भद्रवेशी बोले—

"वह पढ़ा, आपने?"

प्रदीपने सिर ऊपर उठाया। तख्तीपर लिखे अंग्रेजी अक्षरोंका अभिप्राय था कि वह पेशाब-घर केवल अफसरोंके लिए है। एक बार तो उसे कुछ भय-सा हुआ, पर तुरन्त अपने-आपको सँभालकर भद्रवेशीका मुँह ताकने लगा।

"आप तो आफिसर नहीं हैं?"

"जी, मुझे स्वयं मालूम नहीं, मैं क्या हूँ।"—प्रदीप हँसी रोककर बोला।

"देखिए, अनजान बननेकी कोशिश छोड़ दीजिए। आपने भूल की है, भूल माननी ठीक है। अन्यथा.........।"

"अन्यथा क्या होगा?"

"आपके विरुद्ध एक्शन लिया जा सकता है।"

"खैर। एक्शन तो आप ले सकते हैं। एक बात पूछता हूँ। क्या आपके पेशाबमें सुगन्ध आती है?"

"क्या मतलब ?"—भद्रवेशी बिगड़कर बोले।

"जी, मतलब यही कि हमारे पेशाबमें बदबू आती है। आपके में नहीं आती होगी, शायद इसीलिए.........।"

"ओ ! आप बे-अदब ही नहीं, बदतमीज़ भी हैं !"

"बदतमीज़ कौन है, यह तो आपकी बातें सुनकर कोई भी अनुमान लगा सकता है।"

"आप मुँह सम्भालकर बात कीजिए।"

"यह बात समझनेकी आपको ज्यादा जरूरत है, मिस्टर !"—कहकर प्रदीप चला आया।

उसके सिरमें खून सिमट रहा था। साले हरमज़ादे। इनकी इन्सानियतको न-जाने क्या दीमक खा गए

कमरेमें बैठे उसे कोई आध घण्टा बीता होगा। काममें उसका जी नहीं लग रहा था। मस्तिष्कमें भयानक विद्रोह उमड़ उठा था। इसी समय मि० जानने उसे बुलाया—

"आप मि० मेहरोत्रासे क्या झगड़ा कर आए, मि० गुप्ता ?"

प्रदीप समझ गया कि उन भद्रवेशीका नाम ही मेहरोत्रा है। वह कुछ नहीं बोला।

"जाइए, जाकर माँफी माँग लीजिए। बात बढ़ाना ठीक नहीं।"

"किन्तु माफी तो उन्हें मुझसे माँगनी चाहिए, मि० जान !" —प्रदीप बोला।

जान साहब हँसने लगे। फिर घण्टी बजाकर चपरासीको बुलाया और किसी मि० लालको सलाम भेजा। दो क्षण बाद खद्दरका सूट पहने

एक दुबले कालेसे, चश्माधारी नवयुवक आ खड़े हुए। जान साहबने उनको सब बात समझाकर कहा—

"जाइए, इनको ले जाइए। मि० मेहरोत्रासे कहिए कि मैं इनकी तरफसे माँफी माँगता हूँ।"

बाहर निकलकर प्रदीपने मि० लालके साथ जानेसे इन्कार कर दिया। वह प्रदीपको बराबरके कमरेमें बैठाकर ऊपर चले गए। लौटकर आए, तो हँसीसे फटे पड़ते थे। उस कमरेमें बैठे और तीन-चार जनोंको उत्सुकता हुई, तो उन्होंने सारा किस्सा सुनाकर प्रदीपका सबसे परिचय कराया। सब-के-सब काम छोड़कर गप्पें हाँकने लगे। बातोंका अधिकांश होम डिपार्टमेण्टके बड़े-बड़े अफसरोंसे सम्बन्धित था। केवल मिस्टर लाल उन बातोंमें सहयोग नहीं दे रहे थे। प्रदीप सब-कुछ सुनता जा रहा था। अचानक वह मेजपर हाथ मारकर बोला—

"क्यों साहब, आपमेंसे कोई मुझे किसी छतके नीचे छः फीट लम्बी, दो फीट चौड़ी जमीन पानेमें सहायता दे सकेंगे?"

सब सन्नाटेमें आकर ताकने लगे।

"अरे भइ महन्त, वह खोसला कोई पार्टनर ढूँढ़ रहा था ना? उसीके साथ क्यों नहीं बन्दोबस्त करा देते?"—इमतियाज़ बोला।

"लेकिन भाई, वह एक कमरेका साठ रुपए किराया माँगता है। माँगता क्या है, दो कमरोंका एक सौ बीस देता है।"—महन्त बोला।

"साठ रुपए तो मैं दे दूँगा।"—प्रदीप बोला। उसे तो कुछ भी देकर एक ठिकाना चाहिए था।

"कमरेके साथ मि० गुप्ता आपको जो चीजें मिलेंगी, उनको आप देखकर किराएकी बात भूल जाएँगे।"—कहकर इमतियाज़ मुस्कराने लगा। प्रदीपकी समझमें कुछ नहीं आया।

मि० लाल सिर झुकाए फाइलोंको पढ़नेकी चेष्टा कर रहे थे।

"यार, साला रोज नई लाता है। बलाका हन्टर है।"—महन्त विस्मयके स्वरमें बोला।

"शिमलेमें कोई ही बहारदार छोकरी होगी, जिसको उसने नहीं रगड़ा।"—इमतियाज़ बोला।

"कह रहा था कि क्या करे, लौण्डियाएँ पीछा ही नहीं छोड़तीं। आफिससे निकलते ही कोई पकड़ लेती है।"—महन्त सुनाने लगा।

"और इधर दोस्त, जिसकी तरफ दो आँखें उठाईं, वही मुरझा जाती है। खुद अपनी जोरू हफ्तेमें पाँच दिन इन्कार कर देती है।"—इमतियाज़ ठण्डी साँसें भरने लगा।

महन्तने उत्तर नहीं दिया और बात वहीं रुक गई।

"चलिए साहब, खोसलासे आपको मिला दूँ।"—प्रदीपसे इमतियाज बोला।

प्रदीप उठने ही वाला था कि मि० लालने हाथ पकड़ लिया।

"आप मेरे साथ रहिएगा। जगह दूर है। पर आपको कोई तकलीफ नहीं होगी।"—लालने कहा।

प्रदीपके सिरसे पहाड़ उतर गया।

चपरासीने दरवाजा खोलकर खबर दी कि टामसन साहब उधरसे आ रहे हैं। सब घबराकर अपनी सीटोंपर जा बैठे। फाइलें खोलकर

मेजपर रखी गईं। कोई पढ़नेका उपक्रम करने लगा, कोई लिखनेका। कमरेमें एक भयका वातावरण छा गया। प्रदीपको कौतुहल हो रहा था कि ये टामसन साहब कौन हैं।

दस मिनट बीते होंगे, चपरासीने फिर दरवाजा खोलकर आल क्लियरकी खबर दी। सबने खुलकर साँस ली।

मि० लालने बताया कि यह टामसन होमका असिस्टेन्ट सेक्रेटरी था। बार-बार आफिसके चक्कर लगाता था। किसी कमरेमें घुसकर किसीके ऊपर बरस सकता था। उससे सब बेहद घबराते थे—विशेषकर इसलिए कि बहरा होनेके कारण वह दूसरोंकी तो सुनता नहीं था, और अपनी कहते-कहते उसका पारा कहीं-से-कहीं जा पहुँचता था। उससे बचकर रहनेमें ही सब जानकी खैरियत समझते थे।

प्रदीपको गाँवका मिडल स्कूल याद आ गया। वहाँका हेडमास्टर भी बहुत क्रूर आदमी था। किन्तु उसे विस्मय हुआ कि स्कूलके उन बच्चों और इतनी बड़ी सरकारको सँभालनेवाले कर्मचारियोंमें कोई भेद नहीं!

सन्ध्या समय चलते वक्त मि० लालने प्रदीपसे कहा—

"चलिए, जान साहबको गुड नाइट कह आते हैं।"

"क्यों? क्या जरूरत है?"—प्रदीप बोला।

"अफसर है, भाई! कायदेके अनुसार रहना ठीक होता है।"

प्रदीप कुछ नहीं बोला। दूसरे कमरेमें घुसते ही मि० जान प्रदीप को देखकर बोले—

"आप कहाँ रहे दिन भर?"

"मि० लालके पास बैठा था।"

"बैठनेके लिए तो आप यहाँ नहीं आए, मि० गुप्ता !"

"तो काम बता दीजिए, मैं करने लगूँगा।"

"आपको कहा था ना कि डायरी सीखिए।"

"पर वह तो मैंने सीख ली। उसमें क्या रखा है। पाँच मिनट का काम है।"

जान साहब कुर्सीमें पीछे गिरकर हँसने लगे—

"वाह मि० गुप्ता, आप भी खूब हैं। डायरीको देखा और समझ गए। कोई कैमिस्टरीका फार्मूला तो है नहीं, इक्वेशन याद हुई और बस। यहाँ तो आपको काम करना होगा। बीस दिन तक कम-से-कम बैठकर काम कीजिएगा, तब अगली पढ़ाई करनेका अवसर मिलेगा। अच्छा, गुड नाइट ! गुड नाइट, मि० लाल !"

गौर्टन कासलसे निकलकर दोनों बालूगंजकी ओर चल दिए।

मि० लाल प्रयागके एक कायस्थ परिवारमें जन्मे थे। राजनीतिमें उन्होंने एम० ए० पास किया था। एक सालसे होम डिपार्टमेंटमें थे। पहले दिल्लीमें काम किया, फिर शिमला चले आए। जीवनमें उनकी आशाएँ सीमित-सी थीं। वे चाहते थे कि पी० सी० एस० की परीक्षा पास करके अच्छे सरकारी पदपर पहुँच जाएँ और फिर रिटायर होनेपर हिमालयके किसी भागमें तपस्या द्वारा आत्म-साक्षात्कार कर सकें। शेष संसारकी उछल-कूदसे उन्हें किञ्चित्-मात्र भी सम्बन्ध नहीं था। एक साल पहले विवाह हुआ था, स्त्री कुछ सुन्दर और पढ़ी-लिखी ही थी। परन्तु उनको तो स्त्री और गृहस्थ-जीवनकी चाह नहीं थी। माता-पिता

को बहू चाहिए थी, मिल गई। साथमें दहेजका बहुत-सा रुपया भी मिला। अब और उन्हें क्या शिकायत हो सकती थी?

प्रदीपने चाहा कि पूछे—कि संसारमें आप और आपके माता-पिता ही तो नहीं, वह बेचारी लड़की भी तो है, जिसको तुम अपनी कहकर अपने घर ले आए। उसे न चाहिए उच्च सरकारी पद, न पतिकी परमार्थ प्रेरणा और न ही सास-श्वसुरकी सेवा द्वारा उपलब्ध अगाध पुण्य—वह माँगती है एक पुरुष, जिसकी छत्रछायामें वह अभय-जीवन बिता सके, जिसके बाहुपाशमें बँधकर वह चिरपुरातन किन्तु फिर भी चिरनवीन उन्मादके दो क्षण पा सके। उसे क्या मतलब.........।

पर लाल साहब अचानक रुककर खड़े हो गए। सामनेसे आती रिक्शाकी तरफ इशारा करके बोले—

"सर मुहम्मद उसमान!"

हम लोग एक ढलानके ऊपर खड़े थे। नीचेकी ओरसे लाल वर्दी पहने चार आदमी एक अत्यन्त भारी-भरकम मांस-पिण्डको रिक्शामें ढोकर ला रहे थे। मांस-पिण्ड अपने दोनों हाथोंको तोंदपर बाँधे, बड़े आरामसे आँखें मूँदे पड़ा था। कुली बेचारे बुरी तरह हाँफ रहे थे।

प्रदीपका जी चाहा कि आगे बढ़कर इसके मुँहपर थूक दे। देश-द्रोही साला, टुकड़-खोर। किन्तु दूसरे क्षण ही उसको याद आ गया कि वह स्वयं भी उसी सरकारका कर्मचारी है। आत्म-ग्लानिसे सिर झुकाकर मि० लालके साथ हो लिया।

इसके पश्चात् मि० लाल क्या कहते रहे, यह उसने कानोंसे सुना अवश्य, पर बुद्धिसे समझा कुछ नहीं। वे बेचारे अपने स्वरसे स्वयं

मोहित होकर इमानुअल काँट और शंकरकी तुलनात्मक विवेचना कर रहे थे।

४०

प्रदीपको रहनेके लिए स्थान मिल गया, आफिसमें खपकर काम करने लगा। शिमलेमें आया, तो सोचा था कि जीवनमें दो समस्याएँ बन रही हैं। सुलझ जाएँ, तो तनिक अवकाश की साँस लेकर कुछ आगे आँखें दौड़ाएँगे। किन्तु दुष्प्राप्यकी प्राप्तिके लिए हाथ-पाँव मारनेमें जो उथल-पुथल मचती है, उससे कहीं अधिक ऊब होती है प्राप्तके उपभोग-जनित निराशामें डूबकर। भौतिक-जगत्के पार्थिव-पदार्थोंका धर्म है कि वे हाथमें आनेके पूर्व ही सोना दीख पड़ते हैं, हाथ लगते ही मिट्टीका ढेर। और उस मृग-मरीचिकामें भटकता मानव-प्राप्तिके पद-पदपर आँसू बहाता है—बदमजा आँसू—क्योंकि लालसाके आँसुओंमें तो अपना मधुर तीखापन होता है, एक सुखद वेदना।

प्रातःकाल उठकर आफिसके लिए तैयार होना, जल्दीसे खाना पकाने के लिए पाण्डेपर बिगड़ना-झुंझलाना, फिर मि० लालसे बार-बार टाइम पूछते-पूछते चार मील रास्ता पार करना—ऐसा लगता था, जैसे मूल्यवान जीवनका अक्षम्य अपव्यय किया जा रहा हो।

और फिर आफिसका वातावरण। काम आध घन्टेका भी नहीं था। 'दिनमें ग्यारह बजे और शामको तीन बजे डाक आती थी। खाली समय

बैठे-बैठे या तो जम्हाइयां लेनी पड़तीं अथवा मनको कुरेद कर वासनाओंकी कीचड़ उछाली जाती। फिर उसके चारों ओर बैटे, काम करते, चलते-फिरते बेवकूफोंकी भीड़। आत्महत्या करनेको जी चाहता था। प्रदीपकी रायमें केवल बुद्धिजीवियोंको ही मूंह खोलनेका अधिकार था, शेष लोगोंके मुँह तो इसलिए बने थे कि खा-पी सकें, नितान्त आवश्यक दो-चार शब्द कह दें। होंठ निश्चल न रह सकें तो सिगरेट पी सकते हैं ये लोग। किन्तु यहां तो सबके सब सुक्रातके बाप थे। कोई साधारण-सी बात चली कि जान साहब तो अपने इङ्गलैंडके अनुभव सुनाने बैठ जाते; मि० कटोच उसमें शेक्सपीयर घुसा देते; सदीक़ी समझता था बातमें अन्ततः या तो पाकिस्तानका विरोध है अथवा समर्थन; बर्धाचार्यको मेनार्ड केन्जका अर्थशास्त्र समझानेका अवसर मिल जाता और मि० साहाके अनुसार किसी बंगाली पूर्वजने इस सम्बन्धमें बहुत पहले ही सब कुछ कह दिया था। वास्तवमें सब लोग अज्ञानान्ध ही नहीं, घोर मूढ़ भी थे। प्रदीपको हँसी भी आती, क्रोध भी, कुढ़न भी होती—ये सब लोग जीवनकी दौड़ में उससे आगे थे। समाजकी तुलामें किसीके साथ भी बैठ कर वह हलका उतरता था।

एक दिन जान साहबने अचानक सिर उठा कर कहा,—"आज मैंने कूएका Suggestion And Autosuggestion पढ़ा, मि० कटोच। बहुत जबरदस्त फिलसफा है।"

"जी, बिल्कुल हमारे सांख्य-शास्त्रसे मिलता है।"—कटोचने कहा।

"क्या शास्तर? हिन्दू फिलसफेकी चीज है क्या?"—जान साहब बोले।

"सांख्यशास्त्र। संख्यासे निकला है। संख्या मायने नम्बर। लिखनेवाले जैमिनिकी हम यूकलिडसे तुलना कर सकते हैं।"—कटोचने कुछ गम्भीर होकर कहा।

"यूकलिड कौन था? फिलसफेसे मुझे बहुत कम जानकारी है।"—जान साहब कुछ अपराधीसे बन कर बोले।

"युकलैद कहिए जी युकलैद। पुराने अरबका नजूमी।"—सदीक़ीने फरमाया।

"नहीं भाई, किसकी बात करते हो। मैं ग्रीक युकलिडका नाम ले रहा था। बहुत बड़ा साइकोलौजिस्ट हो गुजरा है।"—कटोचने सुधार किया।

"खैर। लेकिन ग्रीक लोगोंने तो सब कुछ अरबोंसे ही सीखा था न।"—सदीक़ी बचाव पर बढ़ कर बोला।

"और अरबोंने शब कुछ शीखा था हिन्दुओंसे। बिश्शास नहीं होय तो राधाकुमुद मुखज्जे पोढिए"—साहाने इतिहासकी टांग तोड़ी।

"ग़लत बात। हिन्दू हिस्टोरियनसे सचाईकी क्या उम्मीद की जा सकती है। कहने लगे हैं न कि इस्लाम भी हिन्दू-धर्मकी एक शाख है।"—सदीक़ी साहब मुँह बिगाड़ कर बोले।

"कम-से-कम इकोनोमिक थौटमें तो सबको कौटिल्यका लोहा मानना होगा। खुद केन्जने कहा है कि हिन्दू-अर्थशास्त्र वहां आरम्भ होता है, जहाँ कि वेस्ट्रन इकोनोमिक्स खतम हो जाती है।"—वर्धाचार्य भी अखाड़ेमें कूद पड़ा।

कमरेमें बच गये प्रदीप, ढिल्लन और मनोहर दफ्तरी। प्रदीपको बेहद हँसी आ रही थी, उन मूर्खोंकी बातों पर नहीं, बल्कि उनके

पाण्डित्यपूर्ण ढंग पर। ढिल्लन देरसे आया था; टामसनने अपने कमरेमें बुला कर उसे फटकारा था। उसको अपनी बदकिस्मतीसे फुरसत नहीं थी। मनोहरको इन बातोंसे मतलब नहीं था।

एक दिन और, मध्याह्नमें जान साहबने मनोहरको दरवाजा बन्द करने का आदेश देकर सिगरेट सुलगाई और मि० कटोचको सम्बोधित करते हुए कहा—"मेरे विचारमें मित्रराष्ट्रोंको हिटलरके साथ समझौता करना पड़ेगा। युद्धमें जर्मनीका परास्त होना मुझे तो नहीं जंचता। आपकी क्या राय

"मुझे स्वयं ऐसा लगता है कि हिटलरसे आत्मसमर्पणकी मांग उठा कर इन लोगोंने भूल की है। अब अपनी बात वापिस लेते इन्हें लाज आती है। और हिटलर वैसा हलवा नहीं निकला।"—मि० कटोचने सिर उठा कर अत्यन्त गम्भीर स्वरमें उत्तर दिया।

"हठ छोड़ कर समझौता कर लेना ही अच्छा है। हिटलर तो तैय्यार है। निराश होकर वह कहीं अपने छुपे हथियार चला बैठा तो इनको लेनेके देने पड़ जाएँगे।"—मि० सदीक़ीने अपना मत प्रकट किया।

प्रदीपसे चुप नहीं रहा गया। उसे आश्चर्य हो रहा था कि इस बकवादका अर्थ क्या हो सकता है। गांवके उन लोगोंकी याद आई, जिनको हिटलरकी विजयमें अटूट विश्वास था। किन्तु वे हिटलरकी विजयका अर्थ लगाते थे ब्रिटेनकी हार और ब्रिटेनकी हारका मतलब उनके निकट था भारतकी स्वतन्त्रता। ये लोग तो उस प्रकार नहीं सोच रहे थे। बिना किसीको सम्बोधित किए ही प्रदीप सबको सुना कर बोल उठा—"समझौतेका सवाल उठाना मूर्खता है। हिटलरके साथ कैसा समझौता,

हिटलर तो वह बर्बर पशु है कि जिसको गिरानेके लिए आवश्यकता होने पर हमें सब कुछ बलिदान कर देना होगा।"

जान साहब चमके। प्रदीपकी ओर अपलक नेत्रोंसे देखते हुए कुछ मुस्करा कर बोले,—"आपको तो National War Front पर चले जाना चाहिये, मि० गुप्ता। आप तो बहुत अच्छा प्रौपेगेण्डा कर सकते हैं।"

"मेरा दृष्टिकोण ब्रिटिश साम्राज्यशाहीका दृष्टिकोण नहीं है, मि० जान। National War Front—मेरे जैसे लोगोंको वहां स्थान नहीं मिल सकता।"—प्रदीपने उत्तर दिया।

"आपका भला क्या दृष्टिकोण है?"

"मार्क्सवाद"

"क्या? क्या वाद?"

"कम्यूनिस्ट"

"तो आप क्या कम्यूनिस्ट हैं?"

"नहीं....एक प्रकारसे हूँ भी।"

"अच्छा, क्या आपकी रायमें मिस्टर गांधीको अगस्त प्रस्ताव लौटा लेना चाहिए?—बात बदल कर मि० जान बोले।

"नहीं, बिल्कुल नहीं।"

"मेरे विचारमें तो लौटा लेना चाहिए।"

"अगस्त प्रस्ताव लौटा लेनेका मतलब है अपनी आज़ादीकी मांग लौटा लेना। कोई भी ईमान्दार आदमी इसका समर्थन नहीं कर सकता।"—प्रदीप अपनी सीट पर खड़ा होकर कह गया।

जान साहबका मुँह तमतमा उठा। प्रदीपको बोध हुआ कि बात-बातमें वह उनको बेईमान कह बैठा है। उसे क्षमा मांगनी चाहिए। किन्तु मनके भीतर दूसरा पक्ष बोला—"बेईमानको बेईमान न कहना भी तो बेईमानी है।"—और वह चुप रहा! मि० जान भी कड़वा घूँट पीकर अपने काममें लग गए।

इस क्षुद्र-सी घटनासे मि० जानको जो चोट लगी, उसका अनुभव प्रदीपको अगले दिन प्रातःकाल आफिसमें घुसते ही हुआ। साधारणतः उसको किसीसे नमस्ते इत्यादि करनेकी आदत नहीं थी। आज वह कुरसी पर बैठा ही था कि जान साहबने कहा—

"गुड मौर्निङ्ग, मि० गुप्ता"—स्वरमें व्यंग भरा था, मानो वे कहना चाहते हों कि तुम बेहद बदतमीज़ हो।

प्रदीप तिलमिला उठा। मुस्करा कर बोला,—"इस पाखण्डकी क्या आवश्यकता है, मि० जान।"

"पाखण्ड! पाखण्ड कैसा?"

"पाखण्ड नहीं तो और क्या है यह गुड मौर्निङ्गकी परम्परा। मेरा दिन अच्छी तरह बीतता है या बुरी तरहसे, आपकी बलासे। और मुझे भी आपके अच्छे-बुरे दिनोंकी तिल भर परवाह नहीं। फिर क्यों झूठ-मूठ शब्द-शक्तिका दुरुपयोग हो। बताइए तो?"

कमरेके सब लोग सन्न होकर प्रदीपको देखने लगे।

"आप कहांके निवासी हैं, मि० गुप्ता?"—जान साहबने पूछा।

"जी, जिला रोहतकमें एक गाँव है।"

"आप जाट हैं?"

"जी नहीं, वैश्य।"

"वहशी! यह कौन-सी कौम होती है?"—सदीक़ीने चुटकी काटी।

"मैं बनियां हूँ, सदीक़ी साहब। आप समझ गए?"—प्रदीप बोला।

"ताज्जुबकी बात है। बनिया और कम्यूनिस्ट! समझमें नहीं आता।"—सदीक़ी आगे बढ़ा।

"जिस दिन आप यह समझने लगेंगे उस दिन आप लीगी न रह कर इन्सान हो जाएंगे।"—प्रदीपने उलट कर आक्रमण किया।

सदीक़ी बौखला गया। बचावपर उतरकर बोला—

"तो क्या, आपकी रायमें लीगी इन्सान नहीं होते?"

"एक चौथाई इन्सान हो सकते हैं, पूरे कभी नहीं।"—प्रदीप बोला।

मि० जान और सदीक़ीको छोड़कर सब हँसने लगे। उस दिनके बाद प्रदीपको किसीने नहीं छेड़ा। सदीक़ीने तो उसके एकदम बोलना बन्द कर दिया।

प्रदीप अपना काम समाप्त करके खाली समयमें फाइलें पढ़ता, इधर-उधर व्यक्तिगत पत्र लिखता, सिगरेट फूंकता, चाय पीने चला जाता, मि० लालके पास बैठकर गप्पें हांक लेता अथवा वेदना उमड़ने पर सामनेकी खिड़कीसे दीख पड़नेवाले नीले आकाश पर आँखें जमा कर विचारमें पड़ जाता। उसके अन्तरमें कुछ छटपटाहट भरी रहती थी। वह चाहता था कि यहाँसे निकल भागे।

प्रदीपने कालेज-जीवनमें अनेक छात्रोंको शिमलाके विषयमें बातें करते सुना था। अनजानमें उसे शिमलेसे कुछ आशाएँ बन्ध गयीं थीं। प्रातःकाल फुर्सतसे उठकर नहाया-धोया जाए, कपड़े पहनते ही मिल जाए

चाय इत्यादि। काम कुछ करनेको नहीं। अकेले टहलने चल दिए अथवा किसी मित्रके पास जा बैठे। मध्याह्नमें खूब रुचिके साथ स्वादिष्ट भोजन किया। फिर क्लब, लाइब्रेरी अथवा सिनेमामें जा बैठे। जी चाहा, घुड़सवारी की। सन्ध्या समय रिज पर पांव पड़ते ही किसी अप्सराने हाथ पकड़कर मुस्करा दिया। उसके साथ आप तीव्र विद्युत प्रकाशमें टैनिस अथवा बैडमिन्टन खेल सकते थे। किसी रेस्तरांमें चाय काफीकी घूटोंके साथ साहित्य, दर्शन, विज्ञान और राजनीति इत्यादि पर चर्चा चला सकते थे अथवा किसी एकान्त प्रदेशमें तारों भरे आकाशके नीचे बैठकर दिलके सच्चे अरमानोंको चन्द चुम्बनों और आलिंगनोंकी सहायतासे निवेदन करनेकी आपको छूट थी। इस मधुर संसारमें दाम्पत्य कलहकी कड़वाहट, गृहस्थ जीवनके क्षुद्र, संकुचित उत्तरदायित्व अथवा चाकरीके असंख्य बलात्कार आपके पास भी कैसे फटक पाते?

इस सपनेका एक अंश भी यदि सत्य हो जाता, तो प्रदीप मनको समझा लेता। किन्तु सत्य तो सर्वथा विपरीत था।

आफिससे निकलकर बासे पर पहुँचते-पहुँचते अन्धकार हो उठता। प्रायः नित्य ही पाण्डे पर बिगड़ना पड़ता। उसको आदेश था कि पांच बजते ही चूल्हा सुलगा लेना चाहिये। किन्तु वह अखरोटके पेड़के नीचे खड़ा होकर पत्थर मारता, पड़ौसियोंसे बातें करता अथवा नल पर अपनी कैंची-सी जीभके कारण पिट कर रोता मिलता। शिमलेका हवा-पानी, चार मील पैदल चलने पर भूखके मारे पेटकी आतें जल उठतीं थीं। गालियां खाकर पाण्डे पत्थरके कोयले जलाने बैठता। घण्टा भर बीत जाने पर सारा घर चाहे धुएँसे भर उठता, किन्तु आग सुलगनेका नाम न लेती।

फिर कहीं रातको नौ-दस बजे थाली पर बैठते तो सामने आते मि० अग्रवाल द्वारा विटामिन सिद्धान्तके अनुसार लाए हुए अनेक उबले घास-पात और मोटी अधकच्ची रोटियां। प्रदीपके रुँधे हुए आंसू प्रायः नित्य ही रातको सोते समय पिघल पड़ते।

कभी-कभी वह आफिससे घर न आकर रिज पर जा बैठता अथवा जी ऊब उठने पर घर पर आकर भी वापिस घूमने चल देता। किन्तु जितनी बार ही वह रिज पर जाता वह कसम खाकर लौटता था कि फिर कभी नहीं आएगा। वहाँ आँखोंके सामनेसे आने-जाने वाले हँसते-बोलते स्त्री-पुरुष उसके जले पर नमक छिड़क देते थे। उसका जी चाहता कि समस्त ब्रह्माण्डमें रोदन भर उठे और वह स्वयं भी बिना शरमाए आंसुओंके उस महासागरमें दो-चार आँसू मिला दे।

मनकी कुढ़न बढ़ जाने पर वह अपना जी समझानेके लिये और अनेकोंका अवहेलना पूर्ण, एकाकी जीवन अन्तरकी आँखोंके सम्मुख फैला कर सहनेकी क्षमता प्राप्त करता। किन्तु यह समस्या नित्य उठती, नित्य सुलझानी पड़ती। उसे हँसी आती, क्रोध आता, रोना आता—पर हँसने-खेलने और प्रेम करनेकी लालसा पीछा नहीं छोड़ती।

शिमलेके विषयमें मि० लालके पूछने पर एक दिन उसने कहा था—It is a city of clerks, coolies & painted women. It stinks. It is unbearable otherwise too."

शिमलेमें अपना समाज खोजने निकला प्रदीप, किन्तु उसकी समझमें नहीं आया किधर जाए। और समाजकी उसको आवश्यकता थी।

एकाकी वह घुल चला था। वैसे अधिकतर जीवन उसने एकाकी ही बिताया था। फिर भी देहलीमें एक-दो व्यक्ति उसको पहिचानते थे, वह उनको पहिचानता था। और यहाँ ?

यहाँ थे पहाड़ी—अशिक्षित, अशिष्ट, असंस्कृत, मटमैले, गलीज। माँके पेटसे निकलने पर एक बार नहलाए हुए शरीरको चामसे चीथड़ों में लपेटकर वे बोझा ढोते, रिक्शा खींचते, बर्तन मांजते, खाना पकाते और भद्रसमाजके लिए निषिद्ध अन्य अनेक मोटे काम करते। अधिकांश में वे पुरुष थे। उनकी स्त्रियाँ कभी-कभी छोटी-छोटी टोलियोंमें मुँह बाए शिमलेकी दुकानोंको घूरतीं निकल जातीं अथवा निस्तब्ध रातोंमें नीचे खड्डोंमें बने अपने मिट्टीके झोपड़ोंसे सामूहिक और दीर्घ, अनबूझ आलाप ऊपर भेजकर अपना अस्तित्व जतानेकी असफल चेष्टा करतीं। जूताके पहननेके अनभ्यस्त उनके पांवके तलवे मोटे और दुर्भेद्य होनेके कारण कंकरीले पहाड़ी रास्तों पर नुकीले पत्थरोंका अभिमान भङ्ग कर डालते। इनके बावलेपनकी सभ्य समाजमें धाक थी। किसीका सामान ले जाते समय ये यदि रास्ता भूल जाते अथवा ठीक पता नहीं खोज पाते, तो सामान लेकर भागनेकी बजाय थानेमें जा बैठते जिससे कि मालिक आकर इनको दस-पाँच गाली भले दे जाए, किन्तु अपनी चीज पा जाए। थानेवाले किन्तु इतने भोले नहीं थे। अधिकतर गोलमाल किया करते।

इनके पास जाकर प्रदीप क्या लेता ? सरल, सभ्य प्रकृतिके ये मानव, सभ्यताके ठाट-बाट बिना उसके किस काम आते ?

यहाँ थे जीवनके असंख्य और अत्यन्त आवश्यक साधन जुटानेवाले दुकानदार—नमक, तेल, कोयला, लकड़ी, मिर्चमसाले, साग-सब्जी

इत्यादि बेचने वाले। प्रातःकालसे आधी रात तक दुकानों पर बैठे ये तराजूके बल पर, ऊंचे दाम बताकर, खराब वस्तुएं देकर ग्राहकोंकी जेब हलकी करनेकी चिन्तामें लगे रहते। अपनी दुकानोंके बाहर इनका संसार नहीं था।

मोची, हज्जाम, हलवाई इत्यादि सब प्रकारके दुकानदारोंसे प्रदीपका सम्बन्ध भावनासे हीन ही हो सकता था। इनके न-कुछ, क्षुद्र जीवन-यापनमें किसी दिन उसे दिलचस्पी नहीं हुई।

यहाँ थे कई हजार छोटे-मोटे क्लर्क। सरकारी और गैर-सरकारी दफ्तरोंमें कलम घिसनेवाले। जिनका परिवार साथ था, वे मासके पिछले पखवाड़ेमें ऋणदाताकी खोज करते और पहली तारीखको केवल एक तिहाई वेतन घर ले जा सकनेके कारण धर्मपत्नियोंके तानोंके शिकार होते। स्त्री-बच्चोंका बेसूद बोझ ढोनेके कारण इनके जीवनमें भरी ऊब प्रायः नित्य ही घरमें कलह उपजाती और अधिकतर इनको खाली पेट ही दफ्तरमें काम करना और रातमें सोना पड़ता। अकेले होते तो शिमला के गन्दे हिस्सोंमें अथवा आसपास कोठरी लेकर रहते। इधर-उधर खाकर, घूम-फिरकर अपनी खाली घड़ियाँ बिताते। इन लोगों—ब्याहे और कुँवारों—दोनोंकी महत्वाकांक्षाएं अपनेसे ऊपरकी श्रेणीके लोगोंकी तरह रहने सहने, खाने पहनने और खाली समय बितानेके तरीकों पर केन्द्रीभूत थीं। इनके अपने जीवनमें न कोई सार था, न अभिप्राय। आफिसोंमें क़लम घसीटते थे ये लोग, जिससे कि क्षुद्र गार्हस्थ्य अथवा क्षुद्र भावुकताके चार क्षण सुलभ हो सकें।

इनकी खोजमें प्रदीपको दूर नहीं जाना पड़ा। आफिसके भीतर ही इनसे पर्याप्त परिचय हो गया। वह इनसे बचना चाहता था, इनमें घुलमिल जाना नहीं!

यहाँ थे ब्रिटिश सरकारके उच्च-पदस्थ कर्मचारी और भड़कीली दुकानों वाले बड़े सौदागर—काले और गोरे, शिमलेकी शान। सुन्दर कोठियोंमें नौकर-चाकरों पर हुक्म चलाते, आफिसोंमें आध-पौन घण्टे बैठकर फाइलों पर सही करने, चैक काटने और नीचे काम करने वालों को धमकानेके लिये मोटे वेतन पाते, बड़े-बड़े होंटलों, क्लबों और नाच-घरोंमें ब्याही, कुँवारी, अपनी, पराई औरतोंके साथ रात-रात भर नाचते। इस श्रेणीकी स्त्रियाँ नित नवीन वस्त्र पहनकर, सुगन्ध उड़ाती, लोगोंके सीने छलनी करती निकल जातीं। इनके विषयमें बैठकर गप्पें हांकना निम्न श्रेणीके लोगोंका दिल बहलावा था। ये लोग स्वयं खाने, पीने, पहनने, नाचने, सोनेसे फ़ुरसत होने पर सिनेमा देखते, रेडियो सुनते, ग्रामोफोन बजाते अथवा Illustrated weekly और Film India में तसवीरें देखते। इनके जीवनमें आनन्द जुटानेवाले सारे साधनोंकी भीड़ होते हुए भी एक सूनापन भरा था, जो इनमेंसे किसीको भी अकेला छोड़ते ही इनको खाने दौड़ता।

यह श्रेणी प्रदीपकी पहुँचके परे थी। इन तक पहुँचने योग्य वस्त्र और समय दोनोंकी उसके पास कमी थी। किन्तु इन तक पहुँचनेका मोह वह एक दिन भी नहीं छोड़ सका।

इनके ऊपर—इनसे भद्र—जो देशी-विदेशी घुमक्कड़ शिमलेके होटलोंमें ठहरते, वे प्रदीपकी भावना परिधिके परे थे। उनके प्रति उसको कभी जिज्ञासाने नहीं जलाया।

४१

प्रदीपका मानस बिलबिलाने लगा। वह चाहता था शिमलेमें काम करने और रहनेमें उसका जी लगे, किन्तु जी तो लगता नहीं था। आफिसके कामका उसे मोह नहीं था। और आफिसके बाहर उसे न मिल पाता था अभिन्न-मित्र, न अलबेली अभिसारिका। व्यक्तिको रुचिके अनुसार काम मिलने पर वह अपना व्यक्तित्व उसमें डुबा सकता है। अन्यथा ऊब उपजाने वाला काम भी व्यक्ति इसलिये स्वीकार कर लेता है कि कर्मजगतके बाहर उसको किसी उपलब्धिकी आशा लगी रहती है। किन्तु यहाँ तो काममें भी ऊब, कामके बाहर भी ऊब। वह सोचता कि दिल्ली लौट चले। वहाँ सुनयना है—काम भी कुछ मिल ही जाएगा। किन्तु त्यागपत्र नहीं लिखा जाता था—मां, उर्मिला और होने वाले शिशुका कष्टमय जीवन उसकी आँखोंमें नाचकर उसकी अन्तरात्माको हिला देता। क्यों कर वह इतना आत्मपोषक बने? और जिन संस्कारोंकी गांठें उसके अनजानेमें भी उसके मानसमें पड़ी थीं, उनके अनुसार कुपुत्र, कापुरुष और निर्बल पिता बनना उसके लिये

एकबारगी निषिद्ध था। उसने निश्चय किया कि वह शिमला नहीं छोड़ेगा। अपनेसे जूझकर देखेगा कि कौन जीतता है।

धीरे-धीरे उसके मानस परसे सुनयना और उर्मिलाकी मूर्त्तियाँ मिट चलीं। वहाँ रह गयी केवल नारी—अनादि, अविशेष, अविजित, अनिर्वचनीय। नग्न नारी, देहमात्र नारी। वह समाज सम्मत, शास्त्र-विहित, संस्कृत ढंगसे आवाहन नहीं कर रही थी। उसका आवाहन था नग्न, निष्ठुर और मूक। उस आवाहनमें वस्त्राभूषण और विविध शृङ्गारकी चकाचौंध नहीं, स्वस्थ, सुविकसित, मांसल यौवनपूर्ण नारी देहका विद्युताकर्षण था। कोमल शब्द-जालमें निवेदित काव्यमय भाषाका अमूर्त माधुर्य नहीं, चंचल कटाक्षों और अस्फुट मुस्कानोंकी तीखी चुभन थी।

और बिना सोचे, बिना समझे, केवल एक अगाध, अपरिमेय, दुर्द्धर्ष आकांक्षासे प्रेरित होकर प्रदीप खोजमें निकल गया।

अपनी अभिसारिकाको उसने शिमलेकी माल रोड पर अथवा भव्य, विशाल होटलों, नाचघरों और कोठियोंमें नहीं खोजा। वह जानता था कि वहाँ नारी नहीं, नारीकी धुँधली, अपरिचित छाया-मूर्त्ति प्रचण्ड पाखण्ड करती मिलेगी। अभिसारिका बननेसे पहले वह बंगलोंमें रहनेवाली नारी, पुरुषकी जेब देखेगी और देखेगी उसके वस्त्र, वाहन, समाज और स्थिति। पुरुपके शिक्षा और रूप भी पलड़े पर चढ़ सकते थे, किन्तु अकेले नहीं, सोने-चाँदीके टुकड़ों और शार्कस्किनके सूटके साथ।

कुछ लोगोंसे उसने सुना था कि पहाड़ी लड़कियाँ केवल एक सिगरेटका पैकेट अथवा चार आने पैसे पाकर अपनी रूप और यौवनसे छलछलाती अल्हड़ देह 'सभ्य' लोगोंके हाथ सौंप देती हैं। प्रदीपका चेतन मानस ग्लानिसे भर उठा था। खरीदी हुई देहका उपभोग, मृतदेहका आलिंगन करनेके समान है। पुरुप और नारीके इस सम्बन्ध में अमानुषिकता ही नहीं, नारी जातिके प्रति घोर उपेक्षाका भाव भी रहता है। मनुष्यत्वको तिलांजलि देकर ही कोई पुरुप इस प्रकारकी चेष्टा कर सकेगा। स्त्री और पुरुपके बीच जो साधारण, सहज आकर्पण है, उसीको अवलम्बन मानकर अन्ततः अविकृत माधुर्यकी प्रसादी पाई जा सकती है। और सभ्य समाजने इस सहज, साधारण आकर्पणको अनेक कृत्रिम भावनाओंकी परिधिमें बाँधकर रखनेका जो भोंडा प्रयत्न किया है, उसका अतिक्रमण किए बिना माधुर्यका आभास भले ही कोई पा जाये, सच्ची वस्तुकी झाँकी दुर्लभ है। 'असभ्य' समझी जाने वाली जातियों में कदाचित निष्कपट, निरपेक्ष, निरी भावनाएँ अनुभव करने और करानेकी क्षमता ऊँची मात्रामें विद्यमान हो, इसलिए······

किन्तु चेतन मानस चाहे कुछ भी तर्क-वितर्क, लीपापोती कर रहा हो, वास्तवमें प्रदीपको पहाड़ी खड्डोंमें टक्कर मारनेकी प्रेरणा मिली उसी इङ्गितसे—पहाड़ी लड़कियाँ एक पैकेट सिगरेट या चार आने पैसोंके लिये अपना सुन्दर, स्वस्थ शरीर किसीको भी सौंप देती हैं। इसीलिये उसके कोटकी दोनों जेबें सस्ती सिगरेटके पैकटोंसे भरी थीं। आफिसके कैशियरसे उसने दस रुपएका एक नोट देकर चाँदीकी चालीस चवन्नियाँ भी ले लीं थी। मानों उसको एक, दो नहीं, अनेक पहाड़ी लड़कियों

के साथ सोना हो। उसी दिन। चार-पाँच घंटेके भीतर। अतृप्त वासना किनारों परसे उबल पड़ी।

शिमलेके उत्तर-पूर्वकी ओर चल पड़ा प्रदीप। सुबहके दस बजे थे। जूनकी धूप शिमलेमें भी अपना परिचय दे रही थी। रविवार होनेसे जीवनकी हलचलमें कुछ शिथिलता-सी थी। प्रदीपको कहीं विशेष स्थान पर तो जाना नहीं था। वह चाहता था शिमलेके बाहर निकलकर पहाड़ी गाँवोंमें पहुँचना। उसने पूछकर जान लिया था कि चारों ओर खड्डोंमें दस-पाँच घरके अनेकों छोटे-छोटे गाँव बसे हैं। वह नाककी सीधमें निकलकर नगरके छोर पर जा पहुँचा। सड़क दाएँ-बाएँ चक्कर काटती हुई पहाड़ीके साथ-साथ जा रही थी।

न जाने कितनी दूर चला होगा, प्रदीप सूर्य सिर पर आ पहुँचा, पर उसकी खोजका अन्त नहीं दीख पड़ा। एकाएक बड़ी सड़क के बायीं ओर एक पगडण्डी पहाड़ीके वक्षको चीरती हुई निकल गई थी। दोनों ओर घने वृक्षोंका घटाटोप और धरती पर सूखे पत्तोंकी चादर—एक बार तो प्रदीपका मन भयसे भर गया। किन्तु कौतूहल उमड़ा, मानसके भीतर संकेत-सा मिला कि हो न हो उसकी खोजका अन्त उसी ओर है और वह पगडण्डी पर बढ़ चला।

कोई चार फर्लाङ्ग चलने पर एक खुली जगह मिली। ऊपर नीला आकाश दीख पड़ा। बीचोबीच एक सीमेंटका चबूतरा बना था, जो काफी स्वच्छ होने पर भी कई वर्षकी वर्षाकालीन काईसे धुँधला पड़ गया था। चबूतरेके चारों ओर चार बेंच पड़े थे, जिनपर महीने दो महीने पहले हरा रोगन किया गया था।

चबूतरेके एक कोने पर छाया देखकर प्रदीप बैठ गया। चारों ओर फैली गहन शान्तिमें मनकी कराहट स्पष्ट सुनायी देने लगी। उसके भीतर बैठा कोई कह रहा था—"प्रदीप तू जवान है, पर जवानीका रंगीन नशा तुझ पर नहीं छाया। क्यों? इसलिये कि तू सदा बुद्धिकी कसरत किया करता है। बुद्धिका दूसरा नाम है बुढ़ापा, वह डेढ़ इञ्च पानीमें लाठी टेककर चलनेकी सलाह देती है। जवानीका प्रतीक है खून, लाल-लाल, नसोंमें छटपटाने वाला। खून और बुद्धिमें आदि कालसे शत्रुता है।

"तेरी नसोंमें खून नहीं रहा, अथवा पीला पड़ गया। खूनमें सर्दी आ गई। कहनेको तू जीता है, किन्तु वास्तवमें तो मरे हुए शरीरका बोझ ढो रहा है.........

सिरके नीचे बाँह टेककर प्रदीप लेट गया। जेबसे सिगरेट निकाल कर सुलगाई। चाहता था कि स्वच्छ, नीरव, नीले आकाशकी शाश्वत शान्ति नीचे उतरकर उसे भी अपने दामनमें छुपा ले। किन्तु विचारधारा न रुक सकी। कराहकर उठ बैठा प्रदीप। फिर चल निकला।

सीधी सड़क पर चलनेसे उसके मनमें खीज होने लगी। उसे किसी निश्चित स्थान पर नहीं जाना तो निश्चित मार्ग पकड़ कर क्यों चले? इस सड़कके किनारे तो गाँव बसे नहीं। पहाड़ी गाँव हैं नीचे खड्डोंमें। तो फिर नीचे क्यों नहीं उतरा जाए?

एक कगारे पर खड़े होकर प्रदीपने नीचे देखा। अभ्यास न होने के कारण नीचे खड्डके धरातलको उसने काफी निकट समझा। धरातल के चारों ओर नीचे-ऊपर छोटे-छोटे मकानसे बने थे। सोचा यही

गाँव होंगे। उनके भीतर बसनेवाली लावण्यपूर्ण पर्वतीय यौवनाओंकी कल्पनासे उसके मुँहमें पानी भर आया। सुन रक्खा था कि दिनके समय उनके पुरुष लोग तो शहर चले जाते हैं और शहरके मन चले लोग इन मिट्टीके घरोंको अपना क्रीड़ा-स्थल बना लेते हैं। उसने तो यहाँ तक भी सुना था कि पुरुष घर पर रहते भी सिगरेट अथवा पैसे पाकर अपनी प्रियतमाको परदेशीका आतिथ्य-सत्कार करनेकी आज्ञा दे डालते हैं। मनमें आशाओंने जोर मारा, वासना रोम-रोममें छलछला उठी। एक पगडण्डी पकड़कर प्रदीप नीचे उतरने लगा।

दोनों ओर घने वृक्ष, झाड़ियाँ और पेड़-पौधे थे। बनमेंसे सांय-सांय आने वाला स्वर कभी तेज अथवा अटपटा होकर उसे चौंका देता था। कभी-कभी ऐसा लगता था मानों सूखे पत्तों पर कोई चल रहा हो। बहुत बार किसी जन्तुके रेंगनेका स्वर आता था।

पाँवके नीचे धरती ऊबड़-खाबड़ थी ; किन्तु वर्षाके पानीसे धुलकर अत्यन्त स्वच्छ बजरीपर पड़े छोटे-छोटे अनगढ़, सफेद और रंगीन पत्थर के टुकड़े चलनेवालेको मानो दिलासा देते थे। पर प्रदीपको प्रकृतिसे कोई दिलचस्पी नहीं थी। वह उस हाड़-मांसकी सुगठित, उत्फुल्ल देह की खोजमें था, जिसको बाहूपाशमें भरकर, वक्षसे मीड़कर, होठोंसे चूमकर, दाँतोंसे काटकर—अन्ततः जिसका सर्वप्रकारेण मन्थन करके सुख-शान्ति पानेका संकेत उसकी शिराओंमें उद्धत, उत्पाती रक्त दे रहा था।

सहसा प्रदीप मुसीबत में पड़ गया। सामने रास्तेके बीचोंबीच पानीका नाला था—गहरा, ऊबड़-खाबड़। उसको पार करनेकी क्षमता

उसमें नहीं थी, विलक्षण तैराक होनेपर भी। उसका वेग छोटे-मोटे जलप्रपातका साक्षात कराता था। नालेके ऊपरसे बना लकड़ीका पुल टूटकर गिर चुका था, संभवतः एक ही दो दिन पहले। किन्तु पुलको सम्भालनेवाली लोहेकी दो लाठियाँ एक-दूसरीसे प्रायः चार फीटके अन्तरपर अब भी ज्यों-की-त्यों मार्गके दोनों कगारोंका सम्बन्ध जोड़े थीं। एक लाठीपर लटककर दरारको पार किया जा सकता था। दूसरा कोई मार्ग प्रदीपको नहीं दीख पड़ा।

एक बार उसने सोचा कि लौट जाए। क्यों मुफ्तमें खतरा उठाया जाए। उसकी बाहें अन्त तक उसके शरीरका बोझ कदाचित न भी सँभाल पाएँ। नीचे गिरा, तो बचनने की कौन जाने। यहाँ उसकी हड्डियाँ बिखरकर बह जाएँगी, किसीको पता भी न चलेगा।

मनका दूसरा पक्ष बोला—

"तू बूढ़ा है न, प्रदीप! इसीलिए। जवान होता, तो यह सब मरने-खपनेकी नहीं सोचता। नालेके उस पार, नीचे खड्डमें रहनेवाली पहाड़ी यौवनाएँ तेरी आँखोंमें नाच उठतीं और तेरी बाँहोंमें वज्र-जैसी दृढ़ता आ जाती। पर तू बूढ़ा है न, प्रदीप! इसीलिए........."

उछलकर प्रदीपने लोहेकी लाठी पकड़ ली और एक बार सारे शरीरका भार ऊपर उठाकर बाजुओंपर फूले स्नायु-मण्डलोंको निहारा। फिर वह दृढ़तासे नीचेकी ओर देखे बिना, पार हो गया। किन्तु उस पार पहुँचते ही शरीरने जवाब दे दिया। पसीना चढ़ा था, साँस फूल उठा था। वह पगडण्डीके किनारे पड़ी एक चट्टानपर बैठकर सुस्ताने लगा।

उसे कुछ ग्लानि-सी हो रही थी। भला क्यों वह पहाड़ियोंमें सिर मारता-फिरता है ? केवल इसलिए कि उसे स्त्री चाहिए। स्त्री उसे मिली ; किन्तु उसके साथ वह रह नहीं सकता। क्यों ? वह किसी पैसेदार घरमें जन्मा होता, पढ़-लिखकर अच्छीसी प्रियतमा लेकर, अच्छे घरमें रहकर जीवनका उपभोग करता। और भी तो कितने लोग मजे ले रहे हैं। वही क्यों वंचित रहा ?

फिर वही प्रश्न ! प्रदीपने जेबसे सिगरेट निकालकर सुलगाई। विचारकी पुरानी पगडण्डियाँ वह नहीं नापेगा।

नीचेकी ओरसे घण्टियोंका स्वर सुन पडा। प्रदीपने देखा कई गाय आ रही हैं। उसका कौतूहल बढ़ा। वह उठकर खड़ा हो गया। काफिला पास आनेपर उसने देखा कि एक नव-विकसित पहाड़ी लड़की हाथमें छड़ी लिए टिटकारी मारती गायोंके पीछे-पीछे चली आ रही है। आयु होगी चौदह-पन्द्रह साल। मैली लाल रंग की सलवार पर, काला कुर्ता और मटमैली ओढ़नी। नंगे पाँव। किन्तु शरीरका उभार कपड़ोंमें छिपा नहीं रह सकता था। उसके उठे हुए उरोजोंपर प्रदीपकी आँखें जमकर फिसल पड़ीं। ओढ़नी सिरपरसे खिसक पड़ी थी, अस्त-व्यस्त, मैले बाल मुँहपर लटक रहे थे। चेहरा सुन्दर नहीं, पर पुष्ट था। गालोंपर अकृत्रिम लाली—पास आनेपर प्रदीपने देखा। वह खाँसा और लड़की, जो अभी तक अपने-आपमें मग्न थी, चौंककर सहम गई। एक बार प्रदीपको सिरसे पाँव तक उसने देखा और फिर छड़ी चलाकर तेजीसे ढोरोंको हाँकती ऊपर चली गई।

प्रदीपका हृदय नाच उठा। कुआँ प्यासे के पास आया था। साधना सफल हुई। तपस्याका फल मिला। विधाता भी जान पड़ता है, जवान है। कोई बूढ़ा, खूसट, भला जवानीकी लालसा क्या समझ पाता? क्या संयोग पैदा किया है, मेरे रंगीलेने!

पहाड़ी लड़की नालेके पास खड़ी होकर ढोरोंको पानी पिलाने लगी। पीठ फेरकर उसने प्रदीपकी ओर देखा तक भी नहीं। वह कुछ सहमी-सी जान पड़ती थी।

प्रदीप अपने स्थानसे चलकर उसके पास जा खड़ा हुआ। पर वह न हिली और न उसने आँखें उठाकर ही देखा। प्रदीपकी छातीमें तूफान उठा था। वासना फुसफुसाई—

"नारी शरमाया ही करती है। तू पुरुष है। तुझे ही आगे बढ़ना होगा।"

वह खाँसा। लड़कीकी समाधि फिर भी भंग न हुई। प्रदीपने उसके कंधेपर हाथ रखकर पूछा—

"तुम्हारा क्या नाम है?"

"..............."

"तुम्हारा गाँव क्या नीचे खड्डमें है?"

"..............."

"अरे, तू बोलती क्यों नहीं?"—प्रदीप उसके कन्धेपर हाथ रखते हुए बोला। लड़कीने सिर ऊपर उठाकर उसकी ओर देखा। उन आँखोंमें भय था, मूक।

पर प्रदीपकी आँखोंपर परदा पड़ा था। वह समझा, यह मासूमियत है, और भी लज़ीज़! जेबसे उसने दो पैकेट सिगरेट और चार-पाँच चवन्नियाँ निकालकर लड़कीकी ओर बढ़ा दीं। वह कंजूसी कैसे करता। और साथ ही उसने उन उभरे उरोजोंको गुदगुदा दिया।

"लो भी मेरी जान!"—वासनाने मुँहमें पड़े चामके टुकड़ेको फटफटाया।

और उसके अपने शब्द उसके कानोंमें तीरकी तरह चुभ गए। आज जीवनमें पहले-पहल उसने यह ग्राम्य शब्द मुँहसे निकाले थे। उसके संस्कार थर्रा उठे। यह महन्तकी आवाज थी, इम्तियाज़की भाषा।

उसने देखा कि लड़कीके दोनों रक्तिम, मैले कपोलोंपर ताबड़तोड़ आँसू बह रहे थे। बेबसीके आँसू थे वे। प्रदीपका दिल बैठ गया।

विचार फड़फड़ाया—

"यह किसीकी बेटी है, किसीकी भगिनी, सम्भवतः किसीकी प्रियतमा पत्नी। दिलपर हाथ रखकर सोचो, प्रदीप! तुम्हारे भी बहिन है, भार्या है। कोई पर-पुरुष आकर, बिना कारण, उनके कन्धोंपर हाथ रखे, उनके उरोज गुदगुदाए······छिः छिः······"

उसने जेबकी सारी सिगरेट और चवन्नियाँ नीचे डाल दीं, बहते पानीमें। धीरे-धीरे चलकर वह टूटे पुलके पास पहुँचा और लट्ठा पकड़कर झूल गया। बाहोंमें बल था, पश्चात्तापसे जाग्रत आत्म-बलकी प्रेरणा। पर मनमें एक डूबी आवाज चीखना चाहती थी—

"तुम बूढ़े हो, प्रदीप!"

प्रदीपके मानसमें एक टीस-सी उठ रही थी। यह सब किसलिए? क्यों वह हैरान हुआ करता है?

न-जाने क्या सोचकर विधाताने मानवको दो रूपमें विभक्त किया—पुरुष और नारी। दोनों कितने सामान्य हैं, फिर भी कितने विभिन्न! दोनोंका अपना-अपना व्यक्तित्व है, फिर भी दोनों एक-दूसरेके बिना अपूर्ण। और किसी भी अपूर्ण व्यक्तित्वकी पूर्णताके लिए निरन्तर चलनेवाली खोज सफल हो सकेगी—इसकी तो कोई गारण्टी नहीं। बड़ा निर्मम उपहास है किसीका!

तो भी। प्रत्येक स्त्री-पुरुषको अपना साथी खोजने, खोजनेमें भूलका सुधार करने और रुचि परिवर्तनपर ग्लानि अनुभव किए बिना साथ छोड़ देनेका अधिकार यदि होता, तो विडम्बना बहुत-कुछ कम हो जाती। किन्तु वह अधिकार तो समाजने छीन लिया; क्योंकि सामाजिक-जीवनमें यह स्त्री-पुरुषकी सहचर्या अपने-आपमें नितान्त निरर्थक है। समाजके लिये स्त्री-पुरुषका पारस्परिक प्यार साध्य नहीं, साधन है, कुछ और साध्योंकी सिद्धिके लिए। साधन ज्योंही साध्यसे स्वतन्त्र होनेकी चेष्टा करता है, उसका गला दबोच लिया जाता है।

उस दिन सुनयनाने कहा था कि कुछ पेशेवर कवि और कथाकारों ने स्त्री-पुरुषके बीच सामान्य शारीरिक आकर्षणको लेकर एक वृहद् माधुर्यका आडम्बर खड़ा कर डाला है। सम्भवतः बातमें तथ्य हो। किन्तु इसीसे तो उस वृहद् माधुर्यको झुठलाया नहीं जा सकता। जीवन-संघर्षमें पिसे मनुष्यको दुःख-संताप भुलानेके लिए नशा चाहिए। और नशीले पदार्थ साधारणतः कड़वे हुआ करते हैं।

४२

प्रदीपको शिमलाके होम-डिपार्टमेन्टमें काम करते प्रायः दस दिन हो चले थे। डायरायजिंग छोड़ कर—सीख कर कहिए—वह "मूवमैंट" पर बैठा था। एक मेज पर दस-बारह पिजनहोल बने थे। प्रत्येक पर किसी ऊँचे अफसर का नाम लिखा था। उसके पास जो फाइल आती, उसकी अन्तिम मार्किंगके अनुसार वह उसे पिजनहोलमें डाल रजिस्टरमें नोट कर लेता। अफसरोंके चपरासी फाइल उसे दे जाते और अपने अफसरके पिजनहोलमें पड़ी फाइलें ले जाते। दिन भर फाइलोंके याता-यात पर आँख रखना प्रदीपका काम था। किसीको एक फाइलकी आवश्यकता होती, सेक्शनका दफ्तरी आलमारीमें ढूंढ़ कर निकाल देता। पर अलमारीमें फाइल न मिलने पर प्रदीपको देख कर बतलाना होता कि वह फाइल कब और कहां गई है।

दो-चार दिन तो प्रदीप बुरी तरह ऊबा। डायरी पर तो प्रतिदिन नियमित समय पर घन्टे-आध घन्टेकाका काम होता था। किन्तु यहाँ यह फाइलों की दौड़-धूप अनवरत थी। मशीनकी तरह वह पैन्सिल और रबड़ लेकर लिखता-मिटाता रहता और फाइलें इधर-उधर फेंकता रहता। एक ढेर समाप्त किया कि दूसरा सामने आ पड़ा। प्रदीपके नाकमें दम आ गया।

दो दिन बाद उसको मालूम हुआ कि उसे इतनी जल्दबाजीकी जरूरत नहीं। फाइलें आईं, पड़ी रहीं, इकट्ठी हो गईं तो दस मिनटमें

उनको पार किया। इस प्रकार उसको समय मिल सकता था। हाँ, कुछ फाइलें जिन पर Immediate का लेबल लगा रहता था, नहीं रोकनी चाहिएँ। प्रदीपको एकबार तो हँसी आई। यहाँ भला Immediate के क्या मायने? स्वयं उसने देखा था कि एक्सप्रेस तार यहाँ चार-चार दिन तक बिना खुले पड़े रहते थे।

प्रदीपको कुछ जिज्ञासा हुई कि आखिर यहां होता क्या है। अभी तक तो उसने एक भी पत्र पढ़ने अथवा फाइल खोल कर देखने की कसम खाई थी। पर अब न जाने क्यों वह मिस्टर लालसे पूछ बैठा कि सेक्शन का क्या काम है और उसे क्या करना होगा। मिस्टर लालने बताया कि बाहरसे इस देशमें आनेवालोंको भारत सरकारकी अनुमति लेनी पड़ती है। उनके प्रार्थना-पत्रोंको नाप-तोल कर उनकी पात्रताका निश्चय करना इस सेक्शनका काम है। प्रत्येक प्रार्थीको अपना नाम, पता, पेशा, उमर, संक्षिप्त जीवन-इतिहास और एक फोटो भेजना पड़ता है। जिन व्यक्तियों पर राजनीतिक आसामी होने अथवा और किसी प्रकारका सन्देह हो जाता है, उनके विषयमें भारत-सरकारका खुफिया पुलिस विभाग अपनी रिपोर्ट देता है। Intelligence Bureau के हाँ कहे बिना कोई भी भारतमें पदार्पण नहीं कर सकता। और जो विदेशी यहां आते हैं उनका चाल-ढाल, काम-काज, रंग-ढंग पर आँख रखना भी इस सेक्शनका कान है। प्रार्थना-पत्रोंको जांचनेके लिए कुछ Standing Rules बने थे, जिनके अनुसार यहां वाले प्रत्येक केस पर अपने नोट लिख कर Intelligence Bureau में भेजते और वहांसे लौटने पर ऊपरके अफसरोंकी सही होते ही Visa तैयार हो जाता। I. B. की राय यदि

था। पर ऐसे केस ही अधिक होते थे। कारण अमेरिकन लोगोंमें राष्ट्रीय आन्दोलनकी हिमायत करनेवाले प्रायः काफी आदमी मिल जाते। अपने देशके स्वतन्त्र वातावरणमें पले, भारतकी राजनीतिसे अनभिज्ञ अमेरिकन संवाददाता, मिशनरी और अन्यान्य लोग कुछ कह बैठते, कुछ कर बैठते और भारत सरकारकी जान मुसीबतमें पड़ जाती।

प्रदीपकी उत्सुकता बढ़ी। उसने दो-चार फाइलें उठा कर पढ़ीं। वास्तवमें यह साम्राज्यवादकी मानसिक अवस्थाका दिग्दर्शन था। ब्रिटिश सरकार सदा कितनी घबराई रहती थी। एक तरफ तो चर्चिल, एमरी और वेवेलका यह दावा कि भारतके जनसाधारणकी हितसाधनामें उन्हें नींद भुलानी पड़ रही है, और दूसरी ओर उन्हींके आदेशसे उनके कारिन्दोंकी वे काली करतूतें, वे कुत्सित अत्याचार—कोई विदेशी चौंक कर, बौखला कर क्यों न कुछ कह बैठे? किन्तु जनतन्त्रका दम भरने-वाली ब्रिटिश सरकार अपनी पोल खुलते देख कैसे हाथ-पर-हाथ धरके बैठती? उस बदतमीज़ विदेशीको ठिकाने लगाना अत्यन्त आवश्यक हो जाता।

ऐसे ही एक अविचारी अमेरिकनका केस उन दिनों सेक्शनमें चक्कर काट रहा था। वे दक्षिण भारतमें केथौलिक मिशनके पादरी थे और उनका अपराध था भारतीय छात्रगण तथा हरिजनोंमें दिलचस्पी दिखाना। उन्होंने आज तक जो कुछ कहा था अथवा लिखा था, उसमें राजनीतिकी कहीं गन्ध तक नहीं रही। फिर भी सामाजिक मामलों पर सुधारवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत करना साम्राज्यशाहीके लिए गुरुतर अपराध बन गया। I. B. की रिपोर्टमें उनके विरुद्ध कुछ नहीं मिला, किन्तु होम सेक्रेटरीकी

आज्ञा हुई कि केस पर गहरा विचार होना चाहिए। बस दस दिनमें फाइलका वजन पांच सेर हो गया।

उस दिन प्रदीपने प्रायः ग्यारह बजे फाइलोंके ढेरमें हाथ डाला था। इन पादरी महाशयकी फाइल पर अन्तिम मार्किङ्ग देखते समय कटोचके हस्ताक्षर देख कर न जाने क्यों उसे कौतुहल-सा हो चला। अन्तिम पैरा पढ़ते ही जिज्ञासा और बढ़ी। वहां लिखा था कि "रैवरेन्ड...... को तुरन्त भारतसे निकाल देना चाहिए।" एकबार तो प्रदीपको कटोच पर श्रद्धा हो आई। कितने उत्तरदायित्वका बोझ अपने सिर लिया है शेरने। परन्तु तुरन्त ही उसे याद आया कि कटोच साहब शीघ्र ही होम डिपार्टमेन्टको सलाह देकर अन्य कहीं ऊँची नौकरी पर जानेवाले थे। जाते-जाते बहादुरी दिखा रहे थे—पर यह भी क्या कम था।

प्रदीप फाइलके पन्ने उलटने लगा। रैवरेन्डने गजब कर डाला था। अनेक सामाजिक प्रश्नोंको लेकर उसने महात्मा गांधीकी मुक्त कण्ठसे प्रशंसा की थी और उनके प्रदर्शित पथ पर निःसंकोच बढ़ जानेकी सलाह दी थी। ब्रिटिश-साम्राज्यके अनन्यतम शत्रुकी श्लाघा—इससे बढ़ कर राजद्रोह भला क्या हो सकता था। गोरे अफसरोंकी आँखोंमें पादरी विप्लव-मूर्ति होकर नाच उठा और काले क्लर्कोंने उसको पार करनेकी व्यवस्था तुरन्त कर डाली। उन्हीं काले क्लर्कोंमें मि० कटोच थे और... स्वयं प्रदीप भी।

उसको वह दिन याद आया, जब देहलीमें इसी प्रकार फाइलें पढ़ कर वह भड़क उठा था। किन्तु उस दिन तो शिमला देखनेका प्रलोभन उसे अपने इरादेसे स्खलित कर गया था। आज वह कौन-सा प्रलोभन लेकर

यहां ठहरता। उसकी आँखोंमें १९४२ का वह दृश्य फिर गया जब कि अपने छज्जे पर बैठ कर उसने नौजवानोंके दल-के-दल घण्टाघर तक जानेकी अनथक चेष्टामें गोलीके शिकार होते देखे। वे गोलियां इन्हीं गोरे अफसरोंके भाई-बन्दोंने चलाईं थीं। और आज प्रदीप उन्हीं गोरोंकी सरकारका एक पुरजा बन बैठा था। १९४२ के विप्लवमें वह आगे नहीं जा सका। उतना साहस उसमें नहीं था, सारे देशमें लगी प्रचण्ड आग उसका रक्त नहीं उबाल सकी। किन्तु वह हुई अपना कर्त्तव्य न निभा पानेकी बात। आज तो वह अकर्त्तव्यमें धँसा जा रहा था। आज वह क्योंकर अपनी सफाई कर पाता?

ठण्डे दिलसे सोचा प्रदीपने। अपने परिवारके प्रति अपने कर्त्तव्यकी संकुचित परिधिमें चक्कर खाकर वह इति समझ बैठता था। किन्तु परिवारके परे था उसका समाज, उसका देश, समूचा विश्व। दलित, वंचित मानवके प्रति क्या उसका कोई भी उत्तरदायित्व नहीं रह गया था? नहीं, नहीं······

इससे पहले कि जीवन-यापनके क्षुद्र आंकड़े उसके मानसमें सुलग उठी आगका गला घोंट पाते, प्रदीप उठ कर दूसरे कमरेमें स्टेनोग्राफरके पास जा बैठा।

"मेरा एक छोटा-सा पत्र लिख दीजिए, मि० यादव"—शान्त स्वरमें प्रदीपने कहा।

"अवश्य, अभी"—कह कर यादवने मशीन पर कागज कार्बन लगाया। प्रदीप बोलने लगा।

"असिस्टेन्ट सेक्रेट्री, होम डिपार्टमेन्ट, शिमला। बीचमें गवर्न्मेंन्ट आफ इण्डिया भी लगा दीजिए। मि० यादव। डीअर सर। कुछ ब्यक्तिगत कारणोंसे मुझे लगता है कि और अधिक दिन मैं 'भारत' सरकारकी सेवा नहीं कर सकूँगा। अतः······आप रुक क्यों गए, मि० यादव"—स्टेनोग्राफर मुँह बाए प्रदीपको देख रहा था।

"आप यह क्या मज़ाक कर रहे हैं?"—यादव बोला।

"मज़ाक तो नहीं कर रहा। वास्तवमें अब यहां और मेरा ठिकाना नहीं, भाई। मुझे जाना ही चाहिए।"—प्रदीप सिर झुका कर कह रहा था।

"आज मि० गुप्ताने पी तो नहीं ली, मि० लाल?"—इमतियाज़ उधरसे बोला।

"क्यों क्या बात है?"—लालने कागजों परसे सिर उठा कर पूछा।

"वह देखो इस्तीफा लिखवा रहे हैं।"—इमतियाज़ने सिर हिला कर प्रदीपकी ओर संकेत किया।

"इस्तीफा तो एक दिन इन्हें देना ही था। आज ही दे डालें, क्या नुकसान है।"—लाल प्रदीपकी ओर देख कर बोला। उसकी आँखोंमें सहानुभूति थी, दर्दकी पहिचान।

"अरे साहब कोई बढ़िया नौकरी मिल गई होगी।"—महन्तने सुझाव पेश किया।

"पर जनाब और बढ़िया नौकरी क्या खाक मिलेगी। असिस्टैन्ट बन कर दफ्तरमें घुसे। पाँच सालमें गैजेटेड आफिसर हो जाएँगे।

यहां तो छः साल हो गए, असिस्टेन्ट होनेकी हविश नहीं मिटी।"
—इमतियाज़ कहने लगा।

अनसुनी करके प्रदीप यादवसे कह रहा था,—"लिख दो भाई, तुम्हारा बड़ा अहसान होगा।"

दोपहरको काफी हाउसमें प्रदीपने यादव और लालके साथ बैठ कर अपना दिल खोल डाला। रैवरेण्डकी फाइल पर मि० कटोचकी टीका का ज़िक्र आया। रह-रह कर प्रदीप कह उठता था,—"लाञ्छना, अपमान का ढूँढे न मिल पाता किनारा······

तीन बजे जान साहब अपनी टेबल पर आकर बैठे तो प्रदीपका इस्तीफा उन्हें घूर रहा था। उसे हाथमें लेकर वे खड़े हो गए। एक बार प्रदीपको देखा। वह भी उधर ही देख रहा था। वह क्या, सारे सेक्शनकी आँखें उधर थीं। ऐसे अप्रत्याशित ढंगसे भला इस्तीफा दिया जाता है! सबको आशा थी कि जान साहब प्रदीपको बुला कर पूछ-ताछ करेंगे। समझाएँ-बुझाएंगे। किन्तु उनके मुख पर रेखा तक न फूटी। सीधे चल कर वे कमरेके बाहर हो गए। वह इस्तीफा उनके हाथमें था।

कटोच उठ कर प्रदीपके पास आ खड़ा हुआ। गला साफ करके बोला—

"क्या बात हुई, प्रदीप"—पहले-पहल आज उसने उसे मि० गुप्ता नहीं कहा।

"शिमलेमें मेरा जी नहीं लगता, भाई।"

"तो देहली ट्रान्सफर करा लिया होता।"

"सोचा, वहां भी क्या होगा.......बात यह है कि ये सरकारी दफ्तर मुझे काटने दौड़ते हैं ।"—प्रदीप मुस्कराने लगा । किन्तु उस मुस्कानमें भारीपन था ।

कटोच एक क्षण चुप रहा, जैसे कुछ सोच रहा हो । फिर बोला—

"मैंने सुना है कि रैवरेन्ड.......की फाइलमें मेरा नोट पढ़ कर तुमको भीषण आत्मग्लानि हो उठी और इसीलिए तुमने······

"वह तो निमित्त मात्र था, कटोच । एक रैवरेन्ड.......की फाइल क्या, सभी तो फाइलें वैसी हैं और सभी तो तुम्हारी तरह लिखते हैं ।"

"किया भी क्या जाए । आफिसमें रह कर कर्त्तव्य निभाना पड़ता है ।"

"किन्तु उसके परे भी एक कर्त्तव्य है, कटोच । उसकी याद क्यों कभी तुम्हारा हाथ नहीं रोक लेती, कभी तुम्हारा दिल नहीं पिघला देती । अपनी कमजोरीको नैतिक आवरणमें मत छुपाओ ।"

"कोई भी भारतीय नौजवान वह कर्त्तव्य नहीं भुला सकता, प्रदीप । किन्तु किया क्या जाए.......किसी एकके किए हो भी क्या सकता है ।"

प्रदीप चुप रहा । जी चाहता था कि कह दे—"एकसे ही तो अनेक होते हैं ।"—किन्तु सोचा क्या फायदा ।

सन्ध्या समय आफिस छोड़नेसे पहले प्रदीपको गाँवका पत्र मिला । लिखा था कि उर्मिलाने पुत्रको जन्म दिया है । पत्र उसके हाथमें रह गया और दिलसे बरबस आवाज आई,—"हे, भगवान् !"

नवजात शिशुको यदि पता चल जाए कि वह किसका पुत्र है, तो सम्भवतः वह आत्महत्याकी तैयारी करने लगेगा । पिताका अर्थ केवल हाड़-मांसका चल-फिर सकनेवाला पुतला तो नहीं होता । जो अपनी सन्तानके

भरण-पोषण और शिक्षणका समुचित प्रबन्ध करने योग्य न हो, उसको पिता बननेका अधिकार दिया ही किसने ?

किन्तु दूसरे क्षण ही प्रदीपके उछृङ्खल व्यक्तित्वके भीम-गर्जनने इस समाजकी आवाजको रौंद डाला। अधिकार ? अधिकार कैसा ? उसने कभी उस अधिकारका दावा किया नहीं। यह तो एक उत्तरदायित्व है, जो उसकी इच्छाके विरुद्ध उस पर लादा गया है। शरीर और मनमें जवानी लेकर यदि उसने एक स्त्रीसे प्यार किया, तो उसने पाप क्या कर डाला ? प्यार तो प्रत्येक मानवके भीतर उठता और तड़पता है। उसमें मानवका कोई कसूर नहीं। कसूर है तो उसका जिसने मानवको बनाया और मानव-समाजको बनाया। उसे चाहिये था कि उत्तरदायित्व और अधिकारके पलड़े बराबर रखता। पर न जाने क्यों, क्या सोच कर, किस अभिप्रायसे, यह न्याय करनेकी प्रेरणा तो उस महान् सूत्रधारको हुई नहीं। कहीं अधिकारके फाटक खोल दिए तो कहीं उत्तरदायित्वकी सांकलें डाल दीं। प्रदीप क्या करे ?

समाजकी आवाज मानो तड़प कर चीख उठी। ऐसे भोले, बेबस मत बनो प्रदीप। तुम कुछ भी नहीं कर सकते, ऐसी बात तो नहीं है। अपने पलायनको इस दार्शनिक ढोंगसे मत ढांको। तुमको कुछ अधिकार नहीं मिले—यह कहना झूठ है। तुम इतने बड़े हुए, पढ़े-लिखे—कुछ अधिकार पाकर ही तो। और फिर तुम्हें काम करनेका अधिकार मिला था। उसको सम्भालनेकी क्षमता तुममें नहीं थी, आज वह अधिकार अनायास ही तुम गंवा बैठे। फिर इतने निरीह क्यों बनते हो ? तुम अपराधी हो, तुम अपराधी हो !

प्रदीपके चारों ओर कण-कण चीत्कार कर उठा—"तुम अपराधी हो ! तुमने अपने बच्चेके मुँहसे लगा दूधका कटोरा छीन लिया। उसके तन पर लिपटे कपड़ोंको फाड़ डाला। उसके नीचे बिछी गुदड़ीमें आग लगा दी। अपने स्वार्थको लेकर, अपने सन्तोष और सुखके लिए तुम......

"क्या बात है, गुप्ता। किस चिन्तामें डूबे हो ?"—लालने उसके पास आकर पूछा।

"मैं पिता बन गया, मि० लाल।"

"अरे सच। लड़का या लड़की ?"

"लड़का"

"तब तो भाई चलो, मिठाई खिलाओ। तुम न जाने कब शिमला छोड़ कर जा सकते हो। इसलिए अभी मुँह मीठा होना चाहिए। शुभस्य शीघ्रम्।"

सारे सेक्शनमें बात फैल गई। जान साहबने सुना तो बोले—"That will teach him some sense."

सन्ध्या समय जब दोस्तोंको खिला-पिलाकर प्रदीप अलग हुआ, तो घर जानेको उसका जी नहीं चाहा। माथा भारी था। वह चाहता था कि कुछ तय कर पाए। किन्तु किसी नतीजे पर तो वह पहुंच नहीं पा रहा था। दोस्त लोग जब इमरती, गुलाब जामुन और कचौरी समोसे निगल रहे थे, तब भी उसके मानसमें एक ही उधेड़बुन लगी थी। इस्तीफा देकर उसने ठीक किया या नहीं। हां कहे तो भी आफत, ना कहे तो भी। और, और कहे भी क्या ?

थका-सा वह सड़कके किनारे एक बैंच पर बैठ गया। यातायात प्रायः बन्द हो चुका था। शान्त, निस्तब्ध वातावरणमें वह कुछ स्थिर हो पाया। मानो आसमानके समस्त तारागण मिलकर एक कोमल निम्न-स्वरमें कह रहे हों—

"शाश्वत रे जीवन की उलझन,
शाश्वत रे सुलझानेका श्रम।
शाश्वत हैं प्रश्नोंकी झड़ियाँ,
शाश्वत उत्तर देनेका क्रम।
अनुभव आखिर ठहरा देता,
मिथ्या सारी परिभाषाएँ।
परिभाषा पानेकी आशा,
मानव प्राणीका शाश्वत भ्रम।"

और वह उसी बैंच पर लेटकर सो गया।



४३

देहली पहुँचनेसे पहले प्रदीपको आशा थी कि सरकारी नौकरीसे पदत्याग करनेके कारण उसको सराहना और सहानुभूति मिलेगी। मनमें चाहे वह निश्चय नहीं कर पाया था कि उसने नौकरी देशभक्तिकी प्रेरणासे छोड़ी अथवा बुरी तरह ऊब कर, फिर भी जिसने पूछा उससे प्रदीपने यही कहा कि वह भला क्योंकर साम्राज्यशाहीका पुर्जा बना रहता? किन्तु सुनने वालोंकी प्रतिक्रिया उसके लिये सब प्रकार अप्रत्याशित थी। कुछ लोग तनिक मुस्करा कर चुप रह गए, कुछ उपदेश देने लगे और किसी-किसीने व्यंग करनेका सुअवसर पाया। प्रदीप सिहर उठा। नौकरी छोड़ देना इतना भयानक अपराध हो सकता है, इसकी तो उसने कल्पना भी नहीं की थी। और नौकरी छोड़ देनेके कारण मुसीबत आई तो उस पर, किसी दूसरेसे वह कुछ मांगने तो नहीं गया! फिर क्यों भला सब लोग उससे जले बैठे हैं?

प्रदीपको गाँव जानेका साहस नहीं हुआ। वहाँ तो लोग उसे पहले ही पागल समझते आए हैं। अबकी बार तो तालियां बजाकर उसके पीछे हो लेंगे। माँ और उर्मिलाके आँसू और बच्चेका अनजान, भोला मुखड़ा उससे नहीं देखे जायगे। वह सचमुच पागल हो जाएगा।

हां, एक सुनयनासे मिलनेको उसका जी चाहता था। किन्तु अन्तर में एक भय था। यदि सुनयना भी उसके साथ बेरुखीसे पेश आई, तो-? तब वह क्या करेगा? और सब लोगोंकी वह ऐसी परवाह नहीं

करता। कुछ भी कहा करें, सब लोग। पर सुनयना तो उन सबके बराबर नहीं। वह उसकी अत्यन्त आत्मीय है। वह कहीं कुछ कड़वी बात कह बैठी तो उसका हृदय टूट जाएगा। फिर जीवनका बोझा ढोनेकी सामर्थ्य शायद ही उसमें बच रहे। नहीं, सुनयनाके पास वह नहीं जाएगा।

प्रदीपने सब ओर जाना छोड़ दिया। जीजीके घर पड़ा-पड़ा पढ़ता रहता अथवा सो जाता। घरके बच्चे तक उसका निरादर करते, मज़ाक उड़ाते—छाती पर पत्थर धरकर वह सब सह लेता। और ठिकाना भी कहाँ था? चारों ओर फैले अन्धकारमें उसकी आँखें पत्थरा गईं। कोई भी तो उसकी उँगली पकड़ने वाला नहीं था।

एक दिन खाना खाते समय जीजीने पूछा—"कुछ काम ढूँढ़ रहे हो क्या?"

"नहीं, अभी तो कुछ नहीं ढूँढा।"—सहमकर प्रदीप बोला।

"ढूँढ़ना चाहिए ना, ऐसे कब तक चलेगा। बैठे-बैठे कब तक खाओगे और कौन खिला सकेगा?"

प्रदीपके गलेके नीचे ग्रास नहीं उतर सका। वह थाली छोड़कर उठ खड़ा हुआ। आँखोंमें आँसू छलछला आए।

किन्तु जीजीकी बातमें सत्य था। बैठे-बैठे खानेके लिये कुबेरका भण्डार भी अपर्याप्त होता है। जीजा तो ठहरे साधारण स्कूल मास्टर। उसे उन पर बोझा बननेमें तो स्वयं ही लाज आनी चाहिये। उन्होंने पहले ही उसके लिये क्या-क्या नहीं किया?

प्रदीपने सोचा कि प्रोफेसर लोगोंसे मिलकर सम्भवतः कुछ रास्ता निकल सके। और न होगा तो वे कुछ ट्यूशन ही दिला देंगे।

उस दिन इतवार था। प्रो० रामसिंह दोपहरका खाना खाकर अपने ड्राइङ्ग रूममें बैठे अखबार पढ़ रहे थे। प्रदीप नमस्कार करके सामने जा बैठा। दो मिनट तक प्रोफेसर साहबने उसको देखा तक नहीं। फिर एक व्यङ्ग भरी मुस्कान मुँह पर फैलाकर पूछा—

"क्यों, आज कैसे टपक पड़े?"

"ऐसे ही, सोचा आपसे मिल आऊँ।"

"धन्यवाद कहो, कैसे हो?"

"बस जी, ठीक ही हूँ।"

"कितने दिनकी छुट्टी आए?"

प्रदीप बौखला गया। क्या उत्तर भला? उसने सोचा था कि उसके नौकरी छोड़ आनेकी बात प्रोफेसर साहबको मालूम होगी। किन्तु वह तो केवल उसका अहंकार मात्र था। उनको भला उसके विषयमें जानकारी रखनेकी क्या पड़ी? तनिक संभलकर वह बोला—

"छुट्टी ही छुट्टी है प्रोफेसर सा'ब। मैं नौकरी छोड़ आया।"

प्रोफेसर साहब सीधे होकर बैठ गए। बोले—"अब क्या कर रहे हो?"

"कुछ भी नहीं। यदि आप कुछ सुझा सकें तो……?"

"मैं…मैं क्या सुझा सकता हूँ। तुमने कभी पहले मेरी बात मानी? और फिर तुम्हारे लिए कोई करे भी क्या? तुम तो एकदम irresponsible आदमी हो? कहीं सिफारिश करके बदनाम होना मैं नहीं चाहता।"—प्रोफेसर साहब फिर अखबार पढ़ने लगे। प्रदीप चुपचाप उठकर चला आया।

दूसरे दिन वह किशोर साहबके पास गया। वे बाथरूममें जा रहे थे। उसे देखकर उन्होंने बहरेसे चाय लानेको कहा और "excuse me for ten minutes" कहकर भीतर चले गए। प्रदीप चाय पीता-पीता इस मनुष्यके विषयमें सोचने लगा। कितना सुन्दर व्यक्तित्व है इसका। ड्राइङ्ग रूममें बिछा कार्पेट, बेल बूटे खुदा फर्नीचर, दरवाजों पर लटके परदे और अलमारियोंमें सजी अनेक पुस्तकें, सब उसी व्यक्तित्वकी सामञ्जस्यपूर्ण झलक हैं। फिर भी न जाने क्यों उस घरमें कुछ सूनापन-सा भरा था? प्रदीपको किशोर साहबकी प्रेम-कहानी ज्ञात थी, शायद इसीलिये उसे सूनेपनका आभास हो रहा हो। पर उस शान्त वातावरणमें कुछ था अवश्य।

प्रदीपका मानस सदा संसारमें भरे कुत्सितको लेकर रोया करता। सत्यं शिवं सुन्दरं सच्चिदानन्दके संसारमें हारी-बीमारी, गरीबी-गन्दगी, अन्याय, अविचार, अवहेलना और ओछापन क्यों? अन्ततः उसने सत्यं-शिवं-सुन्दरंकी सत्ताको माननेसे इनकार कर दिया था। रे मूढ़ अन्ध ब्रह्मांड अखिल, जड़ नियमोंसे सत्ताशाली—यही उसके मानसकी पुकार बन चली थी। कुत्सितके सिवाय कुछ औरकी आशा करना हठधर्मी है, बचपन है। कुत्सित न हो, तो क्या हो?

आज सहसा उसे विचार आया कि समस्या कुत्सितको लेकर नहीं, समुचितको लेकर है। कुत्सित तो है ही, जड़ संसृतिमें कुत्सित होगा ही। किन्तु समुचित कहाँसे? सेवा-संवेदना, स्वास्थ्य-सौन्दर्य, ममता-माया, सत्य और सार्थकता—ये सब कहाँसे आए? सत्यं शिवं सुन्दरं के संसारमें यदि कुत्सितका कार्य-कारण नहीं मिलता, तो जड़ संसृतिके

प्रत्यावर्तनमें समुचितका संकेतमात्र अपरिमेय है। दोनों धारणाओंमें समस्या बच रहती है। किन्तु फिर भी मानवके दृष्टिकोण पर उनका प्रभाव तो सामान्य नहीं। सत्यं शिवंका पुजारी नाक-भौं सिकोड़कर किसीकी दुहाई देता है, और जड़वादी रहता है आत्म-निर्भर।

ढीला पाजामा और कुरता पहनकर किशोर साहब सामने आ बैठे। ममतापूर्ण भावसे प्रदीपको देखकर बोले—

"शिमला छोड़कर भाग खड़े हुए, हैं।"

"और करता भी क्या, मि० किशोर?"

प्रोफेसर साहबने कुछ उत्तर नहीं दिया। एक सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिसे उसकी ओर देखते रहे। प्रदीपकी हिम्मत नहीं हुई कि कुछ कह दे। नौकर एक थाल मिठाई और मेवेका मेजपर रख गया। किशोर साहब की माँने किसी पर्वके उपलक्ष्यमें मनसकर भेजा था। प्रोफेसर मूँगफली तोड़कर खाने लगे। बोले—

"कैसा देश है हमारा। नित्यप्रति खाने पीनेका समारोह होता रहता है। खाओ, बैठे क्यों हो, खाओ।"

"किन्तु यह सब तो अन्धविश्वास की क्रीड़ा है, इससे क्या आपको ग्लानि नहीं होती, प्रोफेसर साहब?"—बिना हाथ हिलाए प्रदीप बोला।

"अन्धविश्वास यदि सुन्दर हो और जीवन-यापनमें सहायता पहुँचाए तो क्या बुरा है प्रदीप? आखिर सत्यका बोझिल टोकरा लेकर फिरनेमें ही क्या समझदारी है······खैर, जाने दो इन बातोंको। अब क्या इरादा है तुम्हारा?"

"कुछ समझमें नहीं आता। नौकरी तो चाहिए ही। कुछ ऐसा काम मिल जाता, जिससे मनको सन्तोष मिल सकता। पर रास्ता कहाँ है? मैं तो मुँहकी खाकर बैठा हूँ।"

"इतनी जल्दी थक गए, प्रदीप। अभी तो नाटक शुरू ही हुआ है। पर्दा उठते ही रो दिए तो सब चौपट हो जाएगा।"

"पर मैं तो रोता ही रहा हूँ, मि० किशोर। कोई नई बात नहीं है। रोनेके सिवाय और करूँ भी क्या?"

"इतनी लाचारी तो नहीं है। तुम चाहो तो हँस भी सकते हो। न चाहो, दूसरी बात है। मेरी रायमें हंसना अच्छा है। उससे तन-प्राण स्वस्थ रहते हैं। अभी आता हूँ।"—कहकर वे उठ गए। एक मिनट पीछे सिगररेटका डिब्बा लेकर लौटे। प्रदीपकी ओर बढ़ाते हुए बोले—

"आज रातको प्रोफेसर माथुरके यहां मेरा खाना है। उनकी बड़े-बड़े आदमियोंसे जान पहिचान है। उनसे तुम्हारे विषयमें कहूंगा। कल सुबह मिल लेना उनसे। देखें क्या होता है।"

अगले दिन प्रातःकाल प्रदीप माथुर साहबके बंगलेपर उपस्थित हुआ। बरामदेमें आराम कुरसीपर पड़े अखबार पढ़ रहे थे। प्रदीपको देखकर हाथके इशारेसे बराबरमें पड़ी कुरसी दिखा दी। प्रदीप बैठ गया। इसी समय नौकर आकर चाय रख गया। चाय ढालते समय उन्होंने पूछा—"चाय पीओगे?"

"जी नहीं, धन्यवाद। आप पीजिए।"—माथुर साहब अखबार एक ओर रखकर चाय पीने लगे।

"तुम हिस्ट्रीके स्टूडेन्ट थे ना?"

"जी, पर आपकी क्लास बराबर अटैण्ड करता था।"

"हाँ, याद पड़ता है। क्या हो रहा है आजकल?"

"कुछ करने की सोच रहा हूँ, माथुर साहब!"

"भई, हमें तो पढ़ाई-लिखाईके बारेमें कुछ सन्देह होता जा रहा है। स्कूल, कालिजमें इतने दिन लगाओ, पैसा खर्च करो और आगे चलकर यह सोचो कि क्या करें। इससे तो मजदूर किसान अच्छे हैं। जरा उमर संभाली, लगे अपना दायमी काम करने। न असमंजस, न अटकाव।"

प्रदीप क्या उत्तर देता। इस बातका उत्तर कड़वा होता। पर माथुर साहबको नाराज करने तो वह आया नहीं था। वह तनिक मुस्कराकर चुप हो रहा। माथुर साहब फिर बढ़ चले।

"अच्छा देखो, मेरा यह नौकर है। सुबह आध सेर तीन पाव आटेकी रोटियां और पाव भर अरहरकी दाल बनाकर रख देता है। शाम तक जितनी बार भूख लगती है, खा लेता है। इसे और कुछ चाहिए ही नहीं। एकदम मस्त है। और हम? दुनिया भरका खुराफात खाते-पीते हैं, पर मनको चैन नहीं। क्यों, है कि नहीं?"

"जी, यह तो ठीक है।"—प्रदीपने मन मसोसकर कह डाला।

"कालिजसे लड़के निकलते हैं बड़ी-बड़ी डिग्रियां लेकर। नौकरी नहीं मिलती। मेरी समझमें तो ये तांगेवाले, झल्लीवाले और खोंचेवाले कहीं अच्छे हैं। मेहनत करते हैं, खाते कमाते हैं।"

रुककर माथुर साहबने एक सिगरेट सुलगाई और कस लगाकर कहने लगे—

"सुख तो साहब, मनकी एक अवस्था का दूसरा नाम है। मनकी हाय-हाय मिट जाए तो बस ब्रह्मका साक्षात्कार किया समझो। पर वह सन्तोष मिले कैसे? कालिजके पढ़ोंको तो चाहिए......" एक क्षण प्रोफेसर साहब ठिठके—"क्या चाहिए जानते हो?"

प्रदीपने सिर हिला दिया। वह भला ऐसे गूढ़ प्रश्नका क्या उत्तर देता।

"उन्हें चाहिए बढ़िया सूट, सिगरेट, शराब, कार, गर्ल फ्रैन्ड और डैवीकोमें डान्स। उनके सामने तो रोटी की समस्या नहीं। रोटी की समस्या भला क्या समस्या है। सुलझ ही जाती है। जो जीता है खाकर ही जीता है। भूखा क्या जिएगा?"

प्रोफेसर माथुर बोलते-बोलते आवेशमें तनिक तनकर बैठ गए थे। फिर लुढ़ककर अधलेटे हो गए। टांगे फैलाकर एक और सिगरेट उन्होंने सुलगाई और आँखें मूंदकर मानो समाधिस्थ हो गए।

प्रदीप छटपटाने लगा। जानेको जी चाहता था। किन्तु प्रोफेसर साहब की महामुद्रा भंग करनेका साहस न बटोर सका। कुरसीमें पड़े उस मांस पिंडको हाथ जोड़कर चला जा सकता था—पर मनमें बैठे बनिया ने सलाह दी कि यह अभद्रता होगी, प्रोफेसर बुरा मान सकते हैं। और कौन जाने प्रदीपको फिर कब उनसे क्या काम पड़े। माथुर साहब पर दृष्टि जमाकर सोचने लगा—"क्या कसूर किया है मैंने इनका, जो इस भारी भरकम उपदेशका क्रूर भार मुझपर अनायास फेंक—इन्होंने मेरी दुर्बल, जर्जरित कमरके टुकड़े कर डाले। मैंने इनसे कुछ कहा नहीं। भिखमंगेको लोग कहा करते हैं, कमाकर खाओ। मैंने इनके आगे हाथ

पसारा नहीं। फिर मुझे तो उन नेमतोंमेंसे किसी की भी इच्छा नहीं। मेरी समस्या तो वास्तवमें रोटी की समस्या है।"

प्रदीपसे रुद्ध आवेग नहीं सँभला। वह मुँह खोलकर कहने लगा।

"मैंने सस्ते सूट पहने हैं, सो भी एक सालसे। नम्बर टैन की एक पैसेवाली तीन-चार सिगरेट रोज पी लेता हूँ। ये भी नहीं मिलें तो चल जाएगा। शराब कभी देखी नहीं। कारमें दूसरों की अवश्य एक दो बार चढ़ा हूँ, सो भी सम्पूर्ण निरलिप्त, निराशी भावसे। गर्लफ्रैन्ड और बहिश्तकी हूर मेरी गणनामें भिन्न नहीं, कल्पनातीत उपभोग है, माथुर साहेब! और डैवीकोमें मटकना सुलभ हो भी मेरा जी नहीं ललचाता। मुझे वास्तवमें रोटी चाहिए। तुम्हारे सिर की कसम रोटी चाहिए।"

प्रोफेसर आंखें फाड़कर प्रदीपको घूर रहे थे। प्रदीप उठकर खड़ा हो गया। हाथ जोड़कर, आगे की ओर झुक, बड़े विनीत स्वरमें बोला—

"मुझे भी अपनी शरणमें ले लीजिए, प्रभो! तीन पाव आटा और पाव भर दाल—मैं अरहर नहीं उरद खाता हूं—पाकर मुझे भी ब्रह्मका साक्षात्कार हो जाएगा।"

तमक कर माथुर साहब भीतर चले गए।

सड़क पर आकर प्रदीपका जी नहीं चाहा कि घर लौट चले। यूनिवर्सिटी निकट थी, उधर ही पाँव उठ चले। मनमें खेद नहीं था, क्रोध भी नहीं। कुछ हँसी सी आ रही थी। क्या मज़ाक है। वह काम करना चाहता है, कुछ कर लेने की क्षमता भी उसमें है, किन्तु काम करनेका अवसर ही उसे नहीं मिल पाता। फिर तमाशा यह है कि सब

उसे काम न करनेका उलाहनासा देते हैं, टोकते हैं। जैसे कसूर उसीका हो!

चाहता तो प्रदीप अपने मनमें सोये वेदनामय तर्कके तूफ़ान उठा देता। अपनी तनिक-सी कठिनाईको अत्यन्त मौलिक रूप देकर तत्व-चर्चा करना उसने खूब सीखा था। पर आज तो बुद्धि और हृदय एक बारगी क्लान्त हो गए थे। प्रदीपको संसार और संसारकी समस्याओंमें मानो दिलचस्पी ही न रह गई हो। दिलचस्पी लेकर भला कोई करे भी तो क्या। अजीब हिसाब-किताब जो है।

यूनिवर्सिटीके कॉफी हाउसमें जाकर उसने किसी परिचितके लिए आँखें फैलाईं। पर एक भी चेहरेमें उसे देखकर भाव नहीं उमड़ा। प्रदीपने जेबमें हाथ डाला। दो अधन्ने और एक पैसा पड़ा था। एक प्याला काफी भी नहीं पी सकेगा। यहाँ बैठते ही बैरा आर्डर मांगेगा। एक बार तो जी चाहा कि सब कुछ मंगाकर खाए पीए। देखा जाएगा। बिल पहुंचते-पहुंचते या तो कोई दोस्त आ जाएगा, अथवा कह देगा कि पैसे उसके पास नहीं, फिर दे जाएगा। वे उसके कपड़े तो उता-रनेसे रहे।

किन्तु बैरे के सामने आते ही प्रदीपके मुँहसे दो शब्द निकले—“कुछ नहीं।”

पासमें न सिगरेट थी न कुछ पढ़नेका मसाला। एक मिनट बाद ही ऊबने धर दबाया। जी चाहा कि उठ कर बराबरवालोंसे एक सिग-रेट मांग ले। पर वही संकोच। अपने-आप ही वह कुनमुनाया—“आख़िर हूँ तो बूर्जुआ!”

सोचने लगा। कैसी विडम्बना है, यह एकाकीपन। अरस्तूने कहा था मनुष्य सामाजिक जन्तु है। आज तक कितने मनुष्य उसे झुठला पाए? मनुष्य सब कुछ सह लेता है, किन्तु अपने-आपसे सामना होते ही उसके भयकी सीमा नहीं रहती। काममें लगा रह कर, राग-रंग, शोर-गप्प, खान-पान, खेल-कूद सब उसे अपने-आपसे बचाए रखते हैं। इस बचाव का सबसे भारी उपक्रम है पढ़ना—जासूसी ऐयारीके कथानक हों, चाहे आइन्स्टिनकी रिलेटीविटी। ऐसा भारी-भरकम भुलावा नहीं। अफीमसे तेज नशा होता है इस व्यसनका……

सुनयना और वासुदेव उसके सामने आ बैठे। आँख उठाते ही वासुदेव बोला,—"पीनकमें हो दोस्त?"—प्रदीप कुछ कहता उसके पहले ही सुनयना बोल उठी,—"शिमला बड़ा भाया आपको। सब कुछ भूल गए। बड़े वैसे हैं आप।"

"कैसा हूँ?"

"अब कैसा बताऊँ।"—बैरा पास आ खड़ा हुआ। प्रदीपकी ओर इशारा करके सुनयना बोली—"इनके लिए केक, कैशू नट्स और कोल्ड क्रीम। मेरे लिए एक गिलास पानी। ठण्डा। इन साहबसे पूछ लो, क्या लेंगे।"—कह कर उसने वासुदेवकी ओरसे मूँह फेर लिया।

हतप्रभ-सा वासुदेव क्षणभर कुछ बोल नहीं पाया। फिर सन्यस्त-सा होकर बोला,—"ला दो एक प्याला काफी हमें भी।"

उन्हें साथ देख कर प्रदीपकी छाती पर सांप लोट रहा था। पलक मारते मनकी कली खिल उठी।

बसके निकट पहुँच कर सुनयना हठ कर बैठी कि वह पैदल जाएगी। दिन चढ़ आया था। बेहद गर्मी थी। वासुदेव मन मार कर बस पर चढ़ गया। सुनयनाकी ओर देख कर उसने दो अस्फुट शब्दोंमें विदा भी मांगी। प्रदीपकी ओर निहारा तक नहीं।

४४

पहाड़ी पर चढ़ते-चढ़ते प्रदीप कहने लगा,—"वासुदेवके साथ आज का तुम्हारा व्यवहार कुछ अच्छा तो नहीं था, सुनी।"

सुनयना चुप रही। प्रदीप चाहता था कि बात चला कर वासुदेवके प्रति सुनयनाकी भावनाकी थाह ले ले। वह अजीब लड़की है। एक क्षणकी बेरुखाईसे उसे भांपा नहीं जा सकता। वह फिर बोला—

"भोला लड़का है, बिचारा······

"बेवकूफ कहिए। बेहूदा भी।"

"बहुत नाराज हो गरीबसे। तुम्हें छेड़ दिया क्या?"

"इतना साहस तो वह सात जन्म भी नहीं बटोर पाएगा।"

"तो फिर······

"फिर क्या? कहा तो, वह लड़का मुझे पसन्द नहीं है।"

"तो साथ क्यों घूम रही थीं?"

"साथ घूमनेका अर्थ घुल-मिल जाना नहीं होता। जीवनमें न जाने कितने अकस्मात् होते हैं।"

"जैसे मुझे आज अकस्मात् मिल गईं ?"

"अकस्मात् समझ लीजिये।"—दो अपलक नेत्र प्रदीपको देख कर झुक गए।

"और नहीं तो क्या समझूँ ?"

"क्यों सिर खाते हैं, मेरा। आप कहलाना चाहते हैं कि आपसे मिलनेको मेरा जी चाहता था। अच्छा, कहे देती हूँ कि हां, जी चाहता था। बस।"—चलते-चलते रुक कर सुनयना बोली।

प्रदीप चुप हो गया। कोई और बात सुनयनाने भी नहीं चलाई।

ऊपर पहुँच कर प्रदीपने देखा कि सुनयनाका मुँह लाल हो उठा है और पसीने बह चले हैं। सुनयनाने ब्लाउजमेंसे चार अंगुलका महीन रूमाल निकाल कर मूँह और माथा पोंछना चाहा। प्रदीपको हँसी आ गई। जिज्ञासु-भावसे सुनयनाने उसकी ओर देखा।

"कमाल करती हो, तुमलोग। रुमालका क्या मज़ाक बनाया है।"

"और नहीं तो तौलिया लेकर घूमें ? क्यों ? क्या खराबी है इस रुमालमें ?"—सुनयनाने पसीनेमें तर कपड़ेकी गोलीको उगलियों पर नचा कर पूछा।

प्रदीपको और भी हँसी आ गई। जेबसे अपना रुमाल निकाल कर बढ़ाते हुए बोला,—"लो, सुबह जेबमें डाला था सो अब निकाला है। एकदम स्वच्छ है, धोबीका धुला हुआ।"

"ओ, रुमाल रखने लगे आप। शायद शिमलेका असर है। चार महीने और वहां रह जाते तो सचमुच आपकी सुगति हो जाती।"—प्रदीपके हाथसे रुमाल लेकर पसीना पोंछती-पोंछती सुनयना बोली।

दोनोंने तय किया कि सड़क छोड़ कर जंगलके रास्ते चला जाए। और थोड़ी दूर जाने पर एक पेड़ के नीचे साफ-सी अनगढ़ शिला देखते ही वे बैठ गए।

"आप मेरे यहां आए क्यों नहीं ?"—सुनयनाने पूछा।

"तुमने मुझे बुलाया क्यों नहीं ?"

"मुझे क्या पता था कि आप दिल्लीमें हैं।"

"पता रखना चाहिए था।"

"मुझे क्या पड़ी थी ?"

"तो मैं ही क्यों खबर देने जाता ?"

"आपका दावा जो है कि आप मुझसे प्यार करते हैं।"—कृत्रिम लज्जाका अभिनयन करती सुनयना चोट कर बैठी।

प्रदीप चुप हो गया। कड़वा मजाक था। न जाने सुनयनाको क्या होता जा रहा है। इतनी हृदयहीन तो वह नहीं थी। घुटनों पर हाथ बांध कर गहरे सांस लेता हुआ प्रदीप सामनेकी ओर देखने लगा। पर सुनयना कब चुप रहनेवाली थी। बोली, प्रदीपका कंधा छूकर—

"रूठ गये ना ?"

"नहीं। तुम पर रूठनेका मुझे क्या अधिकार है।"—उसकी ओर देखे बिना प्रदीपने कहा।

"अधिकार मैं आपको देती हूँ।"

"देने भरसे क्या होता है। पानेकी क्षमता भी तो चाहिए। वह क्षमता मुझमें कहाँसे आएगी ?"—कड़वी मुस्कानसे प्रदीपके होंठ फैल गए।

"देखती हूँ आप शिमलेमें रह कर रोमान्स करना भी सीख गए !"—प्रदीपकी चिबुक तर्जनी और अंगूठेसे पकड़ कर उसका मुह अपनी ओर फेरते हुए सुनयना बोली।

प्रदीप समझ रहा था कि सुनयना उसका मज़ाक उड़ा रही है। भीतर-ही-भीतर वह तिलमिला उठा था। कोई तीखी बात कहनेको उसके होंठ फड़फड़ा रहे थे। किन्तु सुनयनाके मुख पर आँखें गड़ाते ही उसका दिल बैठ गया। उस मुख पर क्रूर उपेक्षा नहीं, करुण, क्लान्त, बेबसी फैली थी।

"आप आदेश दें तो इसी क्षण रो सकती हूँ !"—सुनयना मुस्कराई, आँसू पीकर।

"तुम्हें हो क्या गया है, सुनी ?"—अत्यन्त कोमल स्वरमें प्रदीपने पूछा।

"क्यों, क्या बहुत बदल गई हूँ ?"

"कुछ ऐसा ही जान पड़ता है।"

"आँखोंका धोखा हो सकता है।"

प्रदीप अनमना हो गया। वह समझ गया कि सुनयना कुछ कहना चाह कर भी नहीं कह पा रही है। प्रदीप पर उसे विश्वास नहीं अथवा प्रदीपकी सलाहकी वह परवाह नहीं करती, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता था। किन्तु व्यक्तिका अपना अभिमान भी तो होता है। कहीं-कहीं तो उस दीवारको परम आत्मीय भी नहीं लांघ सकते।

"एक बात पूछूं, सुनी ?"

सुनयनाने सिर हिलाकर हामी भर दी और अपलक नयनोंसे प्रदीपको देखने लगी। वह सामनेकी ओर देखकर कहने लगा—

"बहुत दिन पहले वासुदेवने मुझसे कहा था कि तुम उससे विवाह करना चाहती हो। क्या यह सत्य है?"

"हाँ, किसी अंशमें तो सत्य है ही।"

"आज भी?"

"जितना उस दिन था, उतना ही आज भी।"

"इस मिथ्याचारको आश्रय देते तुम्हें लाज नहीं आती, आत्मग्लानि नहीं होती?"—कठोर बनकर प्रदीपने कहा।

"अब क्या कहूँ आपसे? आपमें तो इस विषय पर ठण्डे दिलसे सोचनेका सामर्थ्य नहीं है। और कोई होता, समझा देती। आपको किन्तु, जो चाहें, समझ लेनेकी छूट है।"—सुनयनाने मुँह फेर लिया। शायद आँखोंमें आँसू थे। प्रदीप उठकर खड़ा हो गया। उसे क्रोध आ रहा था।

सुनयना बैठी रही। प्रदीप कहना चाहता था कि चलो चलें, तुम स्त्री हो, अकेला छोड़कर चल जाना मेरे बसकी बात नहीं, तुम्हें घर तक पहुँचा आऊँगा। पर उसका मुँह नहीं खुल सका। सुनयनाको देखकर उसे काठ मार गया। मूक, निश्चल भावसे विजड़ित-सी बैठी वह नारी-मूर्ति उसके पुरुषत्वको पुकार रही थी। प्रदीप फिर उसके बराबर में बैठ गया।

हृदय पिघल चुका था प्रदीपका। पश्चात्तापकी लहर पर लहर उसे टोंचने लगी। क्यों उसने सुनयनाका जी दुखाया? क्यों उसे वे निष्ठुर शब्द सुनाए? वह तो उसे भली-भाँति जानता है। फिर भला कैसे वह

उसे मिथ्याचारिणी कह बैठा। बाहरकी बात कितनी ही खलती हो, फिर भी भीतरका रहस्य जाने बिना फैसला सुना देना बड़ी ज्यादती है।

"यहीं बैठे रहनेका इरादा है क्या?"—सुनयनाकी ओर देखे बिना, भर्राए स्वरको भरसक मृदुल बनाकर प्रदीपने पूछा।

"नहीं, चलेंगे। अभी क्या जल्दी है? धूप बहुत है।"—बड़े संयत भावसे सुनयनाने उत्तर दिया।

"आज तुम्हें क्या सूझी जो बसमें चली आई?"

"कार भी एक बन्धन है। कभी-कभी मुक्त हो रहनेको प्राण तड़प जाते हैं।"

"हाँ। तुम कहो तो बस पर चढ़ा आऊँ?"

"नहीं। पैदल ही जाऊँगी। आपको देर हो रही हो तो अलग बात है।"

"मुझे कहाँ जाना है? धक्के देकर दुनियासे निकाला गया हूँ। लौटकर फिर अनुनय-विनय करनेका साहस नहीं होता।"

"इधर कैसे आए थे आज?"—प्रदीपके वेदनामय आवाहनको अनसुना करके सुनयनाने पूछा।

"माथुर साहबके घर गया था। वहाँसे लौटा तो सोचा इधर ही हो चलूँ। पुराने दिन याद आ जाते हैं।"

"पर आश्चर्य है उन दिनोंको पुराना क्यों होने दे रहे हैं आप?"

"पुराना होना समयका धर्म है। दिन-रात बीतते रहते हैं। पृथ्वी की गर्दन पकड़कर कौन कहे कि घूमना बन्द कर दो?"

सुनयना खिलखिलाकर हँस पड़ी। वातावरणका सारा बोझ विलीन हो गया। बोली—

"आप भी खूब सोचते हैं। मैंने कब कहा था कि ब्रह्माण्डकी शाश्वत परम्परासे भिड़ जाइये। मेरा मतलब है कि आप यूनिवर्सिटीमें ही कोई काम क्यों नहीं खोज लेते। क्लर्की तो आप कर नहीं पाएँगे।"

"ख्याल तो अच्छा है। पर आशा नहीं बँधती। हिस्ट्रीका कोई अध्यापक निकट भविष्यमें मरनेवाला नहीं। फिर मेरे पास डिप्लोमा के अतिरिक्त क्या है? 'मुलाकातके लिये अच्छा-सा सूट पहनकर जाना होता है, सुनयना।"—प्रदीपके स्वरमें फिर कटुता लौट आई।

"ओ हो, आप भी मुफ्तमें बिखरे जाते हैं। यह एलजेबरेका प्रश्न नहीं जो कह दिया कि इक्वेशन गलत है। कोशिश करना आपका कर्त्तव्य है। कौन असम्भव है कोई राह निकल आए?"

"तुम किसीसे सिफारिश कर दो, देवी। अपनी सामर्थ्यमें तो विश्वास नहीं रह गया।"—रुख बदले बिना प्रदीप बोला।

"मानों आपने बहुत हाथ-पाँव मारे हों और अब थककर बैठ गए हों। घर बैठे नौकरी मिल गई थी। अब अपनी तदबीर आज़मा कर देखिये।"

प्रदीप खुलकर मुस्कराया। किसीको छेड़नेसे पहले जैसे मुस्कराया जाता है। बोला—"एक शर्त्त पर कोशिश करनेको तैयार हूँ। तुम बचन दो कि जिस भी कालेजमें मुझे काम मिले, वहीं तुम आ जाओगी और…और एम० ए० में हिस्ट्री ले लोगी।"

"किन्तु यह याद रखिए कि जिस कालेजमें मैं हूँगी, वहाँ आपको प्रोफेसरी करना दूभर हो जाएगा।"

दोनों ज़ोर-ज़ोरसे हँसने लगे। सहसा सुनयनाने प्रदीपके कंधे पर हाथ रख दिया। प्रदीपकी नस-नसमें बिजली दौड़ गई। बहुत दिन हुए प्रदीपके घुटने पर हाथ रखकर सुनयनाने उसे पुलकित कर डाला था। किन्तु उस दिन तो भयानक प्रस्ताव पेश किया था सुनयनाने। आज वह क्या कहना चाहती है, क्या करना चाहती है—इसी आशामें प्रदीप सांस रोके बैठा रहा?

"आप उधर बैठ जाइए।"—बराबरमें पड़े दूसरे पत्थरको दिखाते हुए सुनयना बोली—"मैं थक गई हूं। तनिक लेटनेको जी चाहता है।"

"मेरी गोदमें सिर टिका सकती हो। अधिक आराम मिलेगा।"—प्रदीपके मुँहसे निकल गया।

"बेमतलब संयम खोनेकी मुझे आदत नहीं है। फिर उल्टी गंगा बहाना भी नहीं चाहती।"

पिछली बात प्रदीप नहीं समझ सका। सुनयना फिर बोली—

"पुरुष लोग युग-युगसे कल्पना करते आए हैं कि नारीकी गोदीमें मुँह छुपाकर सब कुछ भूल जायें। हम नारियाँ तो उतनी स्वप्नशील नहीं। उठिए, नहीं तो ऊपर लुढ़क पड़ूँगी। आप ही कहेंगे कि कितनी निर्लज्ज हूँ।"—प्रदीपने सुनयनाकी ओर देखा। उन नारी नेत्रोंमें वही भाव था, जिससे परास्त होकर पुरुष चिरदिनसे अपने हाथों अपने गलेमें फांसी लगाता आया है। वह चुपचाप उठकर दूसरी ओर जा बैठा।

अपनी दोनों बाहें सिरके नीचे रखकर सुनयनाने आँखें मूँद लीं। पत्थर पर पड़े उसके शरीरकी एक-एक रेखा उसके मनमें भरी थकानका परिचय दे रही थी। अन्तर्द्वन्द झेलनेसे ऐसी थकान चढ़ती हैं। मुख पर निरीहता छाई थी। प्रदीपका हृदय पसीज गया। अपना दुःख-संताप सुनयनाको सुनाकर अनेक बार प्रदीपने छातीमें रुँधे आँसू पिघलाए थे। आज अवसर आया था कि सुनयनाके साथ वह सहानुभूति दिखा सके। वह जानना चाहता था सुनयनाके दुःखका कारण। पर वह कब कुछ बतलाने वाली थी। उसके तो स्वाभिमानकी सीमा नहीं। भीगीं आँखोंसे मुस्कराना उसने सीखा था। प्रदीप क्या करता?

सुनयनाने आँखें नहीं खोलीं। उसकी मुख-भंगिमा गम्भीरसे गम्भीरतर होने लगी। प्रदीपका साहस नहीं हुआ कि उससे कुछ कहे। वह तो मानो अन्तर्द्वन्दके दोनों पक्षोंसे निर्लिप्त हो जागरूक होती जा रही थी। प्रदीपको भँवरमें छोड़कर स्वयं किनारे पर जा खड़ी हुई सुनयना। प्रदीपका पुरुषत्व त्राहि-त्राहि करने लगा। नारीको वह सदासे चंचल, अस्थिर और अन्ततः प्रायः अविश्वसनीय मानता आया था। आज यह नई झांकी पाकर उसे आँखें मसलनी पड़ीं।

बाह्य जगत्की अनवरत अवहेलनाके बीच भी मानव व्यक्तिका अहं अपना महत्व भुलानेको तत्पर नहीं हो पाता। चिरदिनसे यह अनबूझ पहेली विचारकको उलझाती रही है। विज्ञानके अत्यन्त ठोस प्रमाण भी मानव व्यक्तिके हृदयमें क्षुद्रता और क्षणभंगुरताकी चिरन्तन भावना नहीं जमा सके। भला क्यों, किसकी प्रेरणा पाकर? प्रदीप आज उत्तर पानेके लिए उत्सुक हो उठा। सौरमण्डलका प्रत्यावर्तन और

इतिहासका रौरव प्रप्रात—दोनोंकी अपनी गति है, अपनी दिशा, अपना कार्यकारण हिसाब। मानव व्यक्तिकी सुविधा-असुविधाकी दुहाई तो वे किसी दिन देते नहीं। फिर क्यों व्यक्ति अपनेको सब कुछका केन्द्र और तत्त्व मानकर चला करता है? कहां किनारा है इस घोर वैषम्यका? किधर है व्यक्तिका मुक्ति द्वार? सामने पड़ी शिला पर चित्रित गाम्भीर्य की वह सौम्य मूर्ति बार-बार प्रदीपसे प्रश्न पूछ रही थी।

प्रदीपने पुराना उत्तर देना चाहा। मानव यदि सचमुच अपने अहंको मायने देना चाहता है, तो ब्रह्माण्डके अटपटे खेलको नियन्त्रित करके व्यवस्था स्थापित करनी होगी। चराचर प्रकृतिको समझ कर, सुलझा कर, बदल कर, ठोंक-पीट कर अपने काममें लगाना पड़ेगा। इतिहासके उन्मुक्त प्रवाह पर बांध बांधने होंगे। दूसरा कोई रास्ता नहीं। भले ही इस महासमरमें अनेक व्यक्ति आत्मोत्सर्ग करने पर बाध्य हों, मानव-कुलकी अनेक पीढ़ियाँ मर मिटें। मानव जातिके मुक्ति-संग्राममें यह खून-पसीना गिरकर ही रहेगा। अन्यथा सृष्टि-चक्रका कूड़ा-करकट बना मानव-व्यक्ति जीवनका बोझा चाहे ढो ले, अपने अहंको सार्थक किसी दिन नहीं बना सकेगा।

सुनयनाने आँखें खोलीं। एकबार प्रदीपको देखकर मुस्कराई और फिर आँखें मूँद अपने-आपमें निमग्न हो गई। मानो प्रदीपके मनकी कतरब्योंत समझकर उसने उन अलसाई आँखोंसे उसे सान्त्वना देनेकी चेष्टा की हो। प्रदीप चौंक उठा।

सुनयनाने भी तो वेदनामय वैषम्यका किनारा खोजा है। किन्तु उसका उत्तर प्रदीपके उत्तरसे मेल नहीं खाता। वह नहीं चाहती कि

समस्त विश्वको ठोक-पीटकर मानव व्यक्तिकी शोभा-यात्राका वाहन बना डाला जाए। जड़-संसृतिसे लोहा लेनेमें न वह अपना बलिदान करना चाहती है न औरोंका। वह बाह्य-जगतको ही सब-कुछ मानकर नहीं चलती। उसका अहं अपनी सार्थकताके लिए संसारमें धर-पटक नहीं मचाना चाहता। नहीं, उसका अहं स्वावलम्बी, आत्म-निर्भर, आत्म-तुष्ट है। न करें सौरमण्डल उसकी सुविधा-असुविधाका विचार, न माने इतिहास उसके व्यक्तित्वका संकेत—पर इसी कारण उसका जीवन झुठलाया नहीं जा सकता, उसके आनन्दमें खटाई नहीं पड़ सकती। सृष्टि-चक्रकी मूक उपेक्षाका प्रत्युत्तर वह अपने ज्वलन्त अभिमानसे देती है। उस अभिमानकी कोई सीमा नहीं। वह जितना निरासक्त और दुर्भेद्य है, उतना ही अपरिमेय भी। वह विश्वकी अकस्मात्-पूर्ण दुरभि-सन्धिको नहीं कोसती, आत्म-विषादसे जर्जर मन और शरीर लेकर प्यार एवं संवेदनाके लिए नहीं तरसती और न ही अपनी अकिञ्चनताकी संज्ञा से भयभीत होकर सामूहिक मानवकी दुहाई देती है। उसका अन्तर ही उसके लिए सब-कुछ है, समूचे ब्रह्माण्डका केन्द्रबिन्दु। प्रदीप भला क्योंकर कह दे कि वह भ्रान्त है। उसका आत्म-विश्वास विचलित होता कभी उसने देखा ही नहीं।

मर्मका एक और पक्ष बोला—

"अन्तर्जगत तो बहिर्जगतकी छाया-मात्र है, केवल प्रतिध्वनि। एकाकी सत्य है इस जड़-प्रकृतिका पसारा, इतिहासकी दौड़-धूप। उस सत्यको भुलाना पलायन है, पराजय वृत्ति। ऐसी भावना स्त्रियोचित हो, पुरुषको शोभा नहीं देती। तुम पुरुष हो, प्रदीप! सुनयनासे कुछ

सीखनेकी चेष्टा मत करो। तुम्हारे पद-चिह्नोंपर उसे चलना चाहिए। स्त्री को तो बाह्य-जगतसे जूझना नहीं पड़ता, पुरुषकी छत्र-छायामें दिवास्वप्न देखना उसके लिए वैसा अशोभन नहीं। पर तुम·········”

उत्तर दिया प्रदीपके अन्तरमें बसी सुनयनाने। अत्यन्त संयत, शान्त स्वरमें बोली—

“रहने दो, यह पुरुषत्वकी डींग। कीचड़में धँसना कायरता है, उसे पार करनेमें लज्जा कैसी? तुम लो बाह्य-जगतसे लोहा, मैं तुम्हारी बेमतलब उछल-कूद देखकर हँसती रहूंगी। कौन दावा कर सकता है कि अन्तर्जगत बाह्य-जगतका प्रतिबिम्ब-मात्र है। हठधर्मी कोई करे, तो क्या कहा जाय। उतनी ही हठधर्मीके साथ कहा जा सकता है कि बाह्य-जगत अन्तर्जगतकी अस्फुट अभिव्यक्ति-मात्र है। किन्तु वास्तवमें दोनों जगत सत्य हैं, दोनोंके वैषम्य सत्ताशील हैं। भूल तो तुम तब करते हो, जब कि अन्तर्जगतकी गुत्थियाँ सुलझाए बिना बाह्य-जगतकी ठोंक-पीट करना आरम्भ कर देते हो। अन्धा अपाहिजके कन्धोंपर बैठकर क्या रहबरी करेगा? इसीलिए तो आदिकालसे तुम्हारे सारे प्रयत्न असफल रहे, सारा श्रम बेकार गया। पानी पर पत्थरकी दीवार नहीं उठ सकती। महा-प्रासादोंकी कल्पना किए जाओ, धैर्य स्तुत्य है, किन्तु दुराशा हास्यास्पद। महल किसी दिन उठेगा नहीं।”

प्रदीपकी स्मृतिमें देहलीके फुटपाथों और कुली लाइनोंमें किलबिलाती भिखमंगों और मजदूरोंकी भीड़ क्रन्दन कर उठी—

“हमें भूलने लगे, प्रदीप? तुम्हारी बुद्धि इतनी कच्ची थी, तो उसको अखाड़ेमें उतारा ही क्यों? इस स्त्री के प्रति तुम्हारी भावनाने

तुम्हारे तर्ककी टाँगे तोड़ डालीं। अन्तर्जगतकी बातें करते हो आज। तनिक हमारे अस्थिशेष पंजर देखो और देखो हमारा पार्थिव संसार। हमारे सामने रहस्यवाद बघारते तुम्हे लाज नहीं आतीं। भाव-विलास बूर्जुआ वृत्ति है। आमूल विप्लवमें पत्थरकी छातीवाले ही सफल हो सकते हैं·········"

और फिर वही अन्तर्वासिनी कुहुक उठी—

"घोर दुःखने तुम्हारे अन्तर निचोड़ डाले हैं, तुमको असहिष्णु और उतावला बना दिया है। तुम्हारी बात मैं समझती हूँ, पर हामी मैं नहीं भरूँगी। झूठा आक्षेप है तुम्हारा। मैंने कब कहा कि पार्थिव जगतकी सत्ता नहीं अथवा उसमें हेर-फेरकी गुँजायश नहीं। मेरा मन्तव्य केवल यही है कि पार्थिव-जगतमें तोड़-फोड़ मचाकर मुक्तिकी आशा करना ना-समझी है। पार्थिव-जगतकी सीमाएँ तुम्हारी सीमाएँ नहीं। तुम मानव हो, पशुकी संतान, पर देवत्वके अधिकारी। अपना दावा एकांगी बनाकर क्यों पेश करते हो। पार्थिव-जगतकी अमिट रेखाएँ तुम्हारा नियन्त्रण करती रही हैं, करेंगी, उन्हें एकबारगी मिटाया नहीं जा सकता। पर जिस अमृत मुक्तिकी प्यास लिए बैठे हो, वह तो अन्तर्जगतमें ही सम्भव है। वहीं है तुम्हारी सत्ताका केन्द्रबिन्दु। वहीं से प्रेरणा पाकर चलोगे, तो संसारकी भूलभुलैयाँमें भटकना भी सार्थक हो जाएगा। वहाँसे स्खलित होकर किसी दिन भी किनारेपर पहुँचोगे, मैं नहीं मानती। जड़-संसृतिके बन्धन जहाँ असह्य हों, वहाँ ढीले कर डालो। पर वहीं इति समझोगे, तो धोखा खाओगे······"

विह्वल होकर प्रदीपने सामने लेटी सुनयनाको देखा। उसे आश्चर्य होने लगा कि उसके भीतर बोलनेवाली सुनयना कहाँ तक उस हाड़-मांस की सुनयनासे मिलती है। बाहरवाली सुनयनाके सन्मुख ये समस्याएँ इस रूपमें कभी आई ही नहीं और न उसमें ये सुलभाव पेश करनेकी बौद्धिक क्षमता है। फिर भी उसका जीवन मानो प्रदीपके बौद्धिक निरूपणकी साकार अभिव्यञ्जना है। और वह स्वयं—बुद्धिकी कसरतके लिए सदा तत्पर रहता है; किन्तु जीवन-क्षेत्रमें पाँव लड़खड़ाते हैं। क्यों?

संस्कारोंके बन्धन कहो चाहे विधाताका पक्षपात। बुद्धि और जीवन के बीच पड़ी खाई प्रदीपको एक दिन पाटनी ही होगी।

४५

गाँव जाकर प्रदीपने अपने प्रति लोकमतको आशाके अनुकूल ही पाया। सब उसे सिड़ी मान बैठे थे। शिमलेमें एक दिन प्रदीप अपने एक दूरके सम्बन्धी उच्च पदाधिकारी अफसरसे मिला था। न उन्हें वह पसन्द आया था, न उसको वे। शिमलेसे प्रदीपके लौट आनेपर बड़े बाबा संयोगवश दिल्लीमें उन सज्जनको मिल गए। प्रदीपके विषयमें बातें हुईं। उन्होंने चुपकेसे कहा—

"बुरा मत मानना जी, परदीप एकदम पागल है। उससे किसी प्रकारकी आशा रखना फिजूल होगा।"

बाबाके लिए उस परमसिद्ध मुँहसे निकले ये वेद-वाक्य प्रदीपके विरुद्ध एक सबूत बन गये। उनका मत तो उसके विषयमें पहले ही बहुत खराब था। अब तो वे धैर्य खो बैठे।

रातके अन्धेरेमें प्रदीप घर पहुँचा था। प्रातःकाल वह गलीमें निकला, तो घरोंके आगे बैठे लोग उसे देखकर मुस्कराने लगे—मानो वह कोई तमाशा हो। वह कभी किसीसे बोलता नहीं था, लोग ही उसको टोका करते; किन्तु अबकी बार तो किसीके मुँहसे दो शब्द तक नहीं निकले। एक सज्जन मानो उसे सुनाकर बोले—

"हरकिसनका लड़का दस जमात पास है, अमरीकी दफ्तरमें मशीन चलाकर तीन सौ रुपए पाता है।"

दोपहरमें वह सेठजीकी गद्दीपर अखबार पढ़ने गया। वहाँ भी वही वातावरण था। प्रदीपने सोचा, इससे तो शहर ही अच्छा था। दो-चार जाननेवाले होते हैं, सो उनको भी किसीके विषयमें विशेष जानकारी रखनेकी फुरसत नहीं मिलती। पर यहाँ तो यह निकम्मोंका सम्प्रदाय सबके विषयमें सब-कुछ जान लेता है। सबके ऊपर इनका दावा है।

एक सज्जनने पूछा—

"वायसरायकी नौकरी क्यों छोड़ आए?"

"कुछ मिलता-जुलता नहीं था।"—प्रदीपने सरल-सा उत्तर दे दिया।

"पर दो-तीन सालमें पाँच सौ तनख्वाह हो जाती।"

"शायद हो सकती थी।"

"और दस सालमें पन्द्रह सौ।"

"बहुत संभव, हो सकती थी।"—प्रदीपने अखबार परसे सिर उठाए बिना कह दिया।

"तब और क्या चाहिए था, तुम्हें !"

"मुझे अभी पन्द्रह सौ रुपए महीना चाहिए। आप दिला सकें, तो अभी चला चलूँ।"—प्रदीपने कठोर स्वरमें उनके मुखपर आँखें गड़ाकर कह डाला।

"इतने रुपएका क्या करोगे भला ?"

"वाह ! इससे दुगुना मिले, तो खर्च कर डालूँ। हर रात एक बगलमें विलायती अद्धा और दूसरीमें आदमीकी बेटी। पन्द्रह सौ क्या, पन्द्रह लाखपर पानी फिर जाए।"

सज्जनके बाल पक गए थे। प्रदीपकी बात सुनकर शरमा गए।

मिठ्ठन खबर सुनने आया था। सिर उठाकर बोला—

"किससे बात करते हो, काका ! इसके पीछे तो कुत्ते लगाकर गाँवसे निकालना पड़ेगा।"

"कुत्तोंको क्यों तकलीफ देते हो, चौधरी ! तुम सबमें क्या कुछ कम करामात है ? चार पाँव नहीं चलते, बस। और कौन भूखा है, तुम्हारे गाँवमें रहनेका ! यह बागे-इरम तुम्हें ही मुबारक हो।"

चौधरी उठकर खड़ा हो गया। प्रदीप भी तैयार था। पर चौधरी आगे नहीं बढ़ा। बलरामकी कठोर मुख-मुद्रा देखकर उसे काठ मार गया।

बलराम प्रदीपका हाथ पकड़कर उठा ले गया। रास्तेमें कहने लगा—

"तुम सचमुच पागल हो, प्रदीप! क्यों मुँह चढ़ते हो इन लोगोंके। उल्लूके पट्ठे हैं, सब। मुझे देखो, दोस्त! तहसीलदारीसे हाथ धोकर बैठा हूँ। और कहीं ठिकाना नहीं। मेरे पीछे भी तो पड़े थे। इन्हें तो कोई चिढ़ानेको चाहिए। जितना तुम चिढ़ोगे, उतना और पीछे पड़ जाएँगे। गाँव तुम्हारा भी है। ये साले कौन होते हैं तुमपर उँगली उठानेवाले? गर्दन उठाकर गलियोंमें निकलो, पर इनसे बातें करना तो दूर, आँख उठाकर देखो भी मत कि ये हैं। ये हैं भी कहाँ? न दिलमें दर्द, न खोपड़ीमें दिमाग़। बस, अनाजका खर्च हैं मरदूद।"

कितनी भारी घृणा और उपेक्षा भरी थी उन शब्दोंमें। प्रदीप समझ पाया कि बलराम जी सका क्योंकर। उसके मनमें इस व्यक्तिके लिए सहानुभूति उमड़ आई। कितना अकेला है वह, न प्यारा न मीत, न आशा न विश्वास। सम्पूर्ण जीवन मानो साँय-साँय करता अन्तहीन, अंधियाला गह्वर है, जिसमें चलते-चलते थककर एक स्थानपर बैठा बलराम महाप्रलयकी बाट जोह रहा हो। उसके अन्तरमें न आकांक्षा रह गई थी, न ममता-मोह अथवा भय। सामाजिक कुविचारने उसका सर्वस्व जलाकर राख कर डाला था। उस कंकालको देखकर प्रदीप सिहर उठा।

प्रदीप जानता था कि बलराम जी-भरकर शराब पीता है, खुलेआम मांस खाता है, अनेक बहू-बेटियोंसे खुले-छुपे व्यभिचार करता है, लोक-लाज, धर्म-कर्म, आत्मा-परमात्मा, लोक-परलोक सबपर हँसता है। किन्तु आचार-विचारहीन व्यक्ति तो प्रदीपने और भी अनेक देखे थे। यह तो उनमेंका नहीं था। गहरी चोट खाकर ही यह जड़भरत हो बैठा था।

"अभी इसकी आँखें तो खुली नहीं, माँ! इससे बात करनेका भेद तो तुम्हीं जानती हो।"—आँसू किसी तरह गलेके नीचे उतारकर प्रदीप बोला।

"शिमलेसे क्या-क्या लाए इसके लिए?"

"कुछ भी नहीं।"

"बड़े निरदयी बाप हो, बेटा! खाली हाथ आते तुम्हारे दिलने नहीं टोका?"

प्रदीप उत्तर देता तो क्या। बातमें सचाई थी, किन्तु बेबसीकी पहिचान नहीं। उर्मिला उठ बैठी। प्रदीपको देखकर बोली—

"पानी लाऊँ। या चाय पीओगे?"

"पानी पी लूँगा। अब चाय कहाँ बन पड़ेगी, भला।"

"क्यों नहीं, बनाए देती हूँ।"—कहकर वह घरके उस कोनेमें चली गई, जिसे एक ईंटकी दीवार उठाकर एक छोटा-सा रसोई-घर बना दिया गया था। एक क्षण प्रदीपने उसका मुँह देखा। वह चेहरा पीला और निस्तेज था। चालमें कमजोरी थी। आवाज भी क्षीण। यह तो उसकी पुरानी उर्मिला नहीं थी! यह इसे क्या हो गया?

उर्मिलाको उधर जाते देख माँ बोल उठी—

"नन्हेंको ले लो। मैं बना दूँगी, चाय। तुम्हारे शरीरमें कहाँ है इतनी ताक़त। खाने-पीनेको तो कुछ मिला ही नहीं।"

प्रदीप बात अनसुनी कर गया। पर माँ कब चुप रहनेवाली थी। कह ही बैठी—

"सौ रुपए देकर जाना, दीप! इसके लिए घी, दूध, चीनी सब-कुछ का बन्दोबस्त करना है। तुम्हारे आनेकी राह देख रही थी।"

प्रदीप चुपचाप बैठा रहा। क्या उत्तर देता। उसके पास सौ पैसे भी नहीं थे। किसीसे मांग कर ला भी नहीं सकता था। दिल्लीमें ठिकाना न देख दो दिन रोटी खाने ही वह यहां आया था। पर यहां रोटी थी ही कहां? यहां वालोंको ही लाले पड़े थे। प्रदीपका यहांसे शीघ्र ही चले जानेका निश्चय दृढ़तर हो गया। वह अपनी आँखों यह सब बेबसी नहीं देख सकता। मांने इतने दिन, न जाने क्योंकर, सब निभाया है। और सब निभा देंगी।

प्रदीपके गलेमें चाय कुनीनसे भी कड़वी हो उठी।

सन्ध्या समय बड़े बाबाने बुला भेजा। छोटे बाबा भी वहीं बैठे थे। और कोई नहीं था, यह देख कर प्रदीपको शान्ति मिली। वह इनसे कभी डरा हो सो बात नहीं, किन्तु औरोंके सामने इनका अपमान करना नहीं चाहता था। और अपमान इनका करना ही होगा यह वह अच्छी तरह जानता था। इनसे पार पानेका और तो कोई रास्ता ही नहीं था।

"कलके आए हो। सूरत नहीं दिखाई!"—पहुँचते ही बाबाने कहा।

"मेरी सूरतमें भला क्या था। क्या मिलता आपको मुझे देख कर?"

"अपने आदमियोंसे ही तो दुःख-सुखकी बातें की जाती हैं रे। तुम क्या हमको अपना नहीं समझते।"

"नहीं"—प्रदीपने टका-सा जवाब दे दिया।

"जाने दो भैया, किस नमकहरामसे बात करते हो तुम भी।"—छोटे बाबाने बड़ेकी ओर देख कर कहा और फिर प्रदीपसे बोले,—"जाओ भागो, क्यों आए हो यहां।"

"मैं तो आया नहीं। आपने बुलाया था न? रही नमकहरामकी बात। सो ज़रा खाता देखकर बता दीजिये कितना नमक खाया है आपका, कौड़ी-कौड़ी चूका दूंगा?"

"तुम चुप रहो।"—बड़े बाबाने छोटेसे कहा—"बैठो, दीप, यहां बैठो।"

प्रदीप बैठ गया। बाबा हुक्का गुड़गुड़ाते रहे जैसे कुछ सोच रहे हों। फिर पूछा—"शिमलेमें चाँदमलसे मिले थे तुम?"

"हाँ, मिला था।"

"कितनी बार?"

"सिर्फ एक बार।"

"और मिलना चाहिये था न?"

"एक बार जान बच गई सो कम है क्या? वह तो एकदम बेहूदा आदमी है।"

"क्या बकते हो? नौ सौ रुपए महीना कमाता है।"

"तो क्या हो गया? बहुत सारे गधे नौ सौ रुपये कमाते हैं।"

"तो तुम भी क्यों नहीं कमा लेते?"—छोटे बाबा भड़ककर तिरस्कारपूर्ण स्वर में बोले।

प्रदीपने उत्तर नहीं दिया। बड़े बाबा फिर कहने लगे—

"नौकरी छोड़नेसे पहले उससे मिल लेते तो वह तुम्हें समझा देता।"

"वह भला मुझे क्या समझा देता? एकदम काठका उल्लू है। वैसे तो सैकड़ों मेरी जेबमें पड़े हैं।"

"क्यों बड़ी बात बोलते हो, बेटा? इतना पढ़-लिखकर क्या यही सीखे हो?"

प्रदीपसे उत्तर नहीं बन पड़ा। बात उसे चुभ गई। यह पढ़ाई—माथुर साहब सच कहते थे। कितना बड़ा उत्तरदायित्व हैं यह भारी भरकम डिग्रियां? बाबाकी समझमें नहीं आता कि वह इतना पढ़कर क्यों नहीं कमा पाता? इनको आशा थी कि प्रदीप पढ़-लिखकर न जाने क्या बन जाएगा, कितना कमाएगा। उन आशाओं पर पानी फेर दिया उसने। वे भला उसे क्योंकर माफ करें?

"चांदमल बस दस जमात पास है। पन्द्रह बरस पहले साठ रुपए पर नौकर हुआ था। आज इतना बड़ा आदमी हो गया। पर अदब से बात करता है।"—बाबा कह रहे थे।

"किससे मुकाबला करते हो, भैया? वह आदमी है इसकी तरह कुराफात थोड़े भरा है उसके दिमाग में।"—छोटेने भर्त्सना की।

प्रदीप क्या बोलता। चाँदमलको उसने एक दिन देखा था और समझ भी लिया था। वह तो सरकारी दफ्तरका टाइप था। बेहद बेवकूफ, अपनेसे ऊँचे अफसरोंकी जूती चाटनेवाला, नीचेवालों को ठोकर मारने वाला। मिस्टर मेहरोत्रासे प्रदीपकी झड़पके विषयमें बात चलने पर प्रदीपने कहा था—

"ये बड़े अफसर न जाने क्यों अपने आपको देवतुल्य समझते हैं?"

"देवतुल्य तो हैं ही। कितना काम संभालते हैं।"—अपने वर्गकी रक्षामें चाँदमलने बड़े विश्वासके साथ कहा था।

प्रदीपकी आँखोंमें उस व्यक्तिकी शक्ल सूरत, भाव-भंगिमा, पहनावा, बोलचाल, सब कुछ सजीव हो उठी। एक भी अभिव्यक्तिको वह आदर अथवा श्रद्धाकी दृष्टिसे नहीं देख सकता था। और उसके वेतन से उसे क्या सरोकार था? वह कमाता है, वह खर्च करता है। फिर भी ये लोग प्रदीपको बराबरके पलड़ेमें बैठने तक नहीं देते। ग्लानिसे उसका अन्तर भर उठा। क्यों बात करता है वह इन लोगों से? जिनके जीवनमें चाँदीके अतिरिक्त दूसरा कोई आदर्श नहीं, जिनके मनमें दया-माया, मस्तिष्कमें विचार, वाणीमें सहिष्णुता अथवा मार्दव नहीं—उनके साथ भावनाएँ उलझा कर वह क्यों अपने आपको गिराता है? सहसा प्रदीपकी आँखोंमें आँसू उमड़ आए और अपनी कमजोरीको छुपानेके लिये वह वहाँसे उठकर चला आया।

सन्ध्या समय छोटू आ बैठा। पिछली बार प्रदीपने उसे देखा था तो वह ऐसा बूढ़ा नहीं लगता था। अब तो मानो उसके भीतर कुछ बुझ गया हो। सूत की कमानियों वाले चश्मेसे झलकती आँखें रो उठना चाहती थीं। एकबारगी शिथिल, जर्जर, संबलहीन-सा। मुँह पर निराशा और अविश्वासकी गहनतर बनती रेखाओंने एक दयनीय भावकी छाप लगा दी थी। युग-युगसे दलित, वंचित, उत्पीड़ित जन-गण का प्रतीक-सा बन गया था छोटू। उसे देखते ही बड़ी कठिनाई

से सँभाले हुए आँसू पुनः प्रदीपकी आँखोंमें घिर आए। पर मुस्करा कर मृदु स्वर में बोला प्रदीप—

"आओ, छोटू चाचा। कहो कैसे हो?"

"मालिककी मेहर है, भैया। दो वक्त टुकड़ा देता है। और क्या चाहिये? तुम बताओ तुम्हारा शरीर अब कैसा है?"

"बिलकुल चंगा तो नहीं। पर पहलेसे काफी अच्छा है।"

छोटू कुछ नहीं बोला। माँने रसोई घरसे पूछा—

"दीप तो कलका आया हुआ है। तुम आए नहीं छोटू?"

"मुझे मालूम कहाँ था? अभी तीसरे पहरकी घानी चढ़ाकर बाहर निकला था। कुछ चर्चा सुनी तो पता लगा।"

"क्या चर्चा थी?"—माँने फिर पूछा।

"अरी यूँ ही लोगोंकी आदत होती है। बात करनेको कुछ चाहिये। भैयाके कुछ बुरे दिन हैं। बुराई करते हैं। अच्छे दिन आ जाएँगे, जूतियाँ चाट लेंगे। इनकी भली पूछी।"

"अच्छे दिन कब आयेंगे, छोटू। पापड़ बेलते इतनी उमर बीत गई।"—माँने निराशापूर्ण स्वरमें कहा।

बात प्रदीपको चोट मार गई। सच था, किन्तु कितना कड़वा। वह भलीभाँति जानता था कि माँने कितनी मुसीबतें उठाकर भी हँसते-हँसते इतने दिन बिता दिए—केवल इस आशामें कि बड़ा होकर प्रदीप सारे कांटे निकाल देगा। वह बड़ा हुआ किन्तु······

"तुम भी कैसी डूबी बात कहती हो? अब तो दिन आए हैं। अब कितनी देर है। संभल गया न, भैया। कोई दिन जाते हैं।

हम तो शायद नहीं देख पाएँ, पर तुम कहोगी छोटू कहता था।"—छोटू माँ को समझा रहा था।

प्रदीप ठीक प्रकारसे नहीं कह सकता था कि माँको उसमें अविश्वास हो गया था। यह भी समझना उसके लिये कठिन था कि कहाँ तक छोटूकी बातमें प्रदीपके ऊपर उसके विश्वासकी पैंठ थी और कहां तक चाटूक्ति? इतना वह जानता था कि माँ आसानीसे घबराना नहीं सीखी, अटूट धैर्य ही सदा दिखाया है उसने। और छोटूको भी मुँह-देखी बात कहनेकी लत नहीं थी। वह तो बल्कि अपनी शान्त स्पष्टवादिताके लिये बदनाम था। फिर भी उसके अत्यन्त आत्मीय दो व्यक्तियोंकी उसके प्रति द्वन्दात्मक भावनाने उसे असमंजसमें डाल दिया। वह सोच नहीं पाया कि माँकी निराशातथ्यशील है अथवा छोटूकी दुस्तर आशा।

माँ कह रही थी—"छोटूको मकान नहीं दिलवाओगे, दीप। यह तो मरा बैठा है। बेटेके मुँह पर सेहरा देख जाता।"

प्रदीप जिस बातसे बचना चाहता था, वही होकर रही। छोटू घर में आया तबसे वह डर रहा था कि कहीं वह मकानका जिक्र न चल निकले। उसे अपनी असमर्थता पर लाज आती थी। वह चाहता था कि मकान छोटूको मिले और शीघ्र मिले। किन्तु मार्ग रोककर खड़े थे चाचा, बाबा, बद्रीनाथ सूबेदार, मिद्धन चौधरी—व्यक्तिगत सम्पत्तिके अनन्य पुजारी, परम्पराके रक्षक, हिन्दुत्वके धर्मध्वजी, मिद्ध स्वार्थोंके जी-छोड़ सिपाही। प्रदीपके पास चाचाके धन और कूटनीति नहीं थे, बाबा और सूबेदारका गुरुपद भी नहीं था और न था मिद्धनसे भिड़ जानेका बाहुबल। उसके लिये एक ही रास्ता था—सत्याग्रह, जिस

पर चलनेके लिये न बचा था विश्वास, न आत्मबलकी प्रेरणा। वह क्या करता? किसी और अनुकूल समयकी प्रतीक्षा ही उसका एकमात्र उत्तर था। कालके प्रवाहमें बहुत कुछ बिगड़ता है, तो बहुत कुछ बनता भी है।

प्रदीप कुछ बोलता उसके पहले ही छोटू उठकर चला गया। वह प्रदीपकी मार्मिक व्यथा समझता था। अपनी बेबसी और छोटू की संवेदना पर फिर उसके आँसू पिघल पड़े।

रात्रिमें एकान्त मिलते ही उर्मिलाने पूछा—"कितने दिन ठहरोगे?"

"कल ही चल देनेका इरादा है।"—रुखाईसे प्रदीपने उत्तर दिया।

"कहाँ जाओगे?"

"जहाँ दो पांव और किस्मत ले जाएँ।"

"और हम?"

"तुम—तुम हो न यहां।"

"कब तक पड़े रहें इस जेलखानेमें। न कोई बोलनेवाला, न पूछनेवाला। आखिर हमारे भी तो जी है।"

"सोच लो कि तुम पत्थर हो। पत्थर होकर रहना पड़ेगा।"

"कैसी बातें करते हो भला। ये दिन क्या यूं ही बीत जाएंगे?"

प्रदीपने उत्तर नहीं दिया। जिस औरतसे उसे संवेदनाकी सबसे अधिक आशा थी, जिस संवेदनाका मूल्य उसके लिए सबसे बढ़ कर था—उसका भी गला मानो भाग्यने घोंट दिया। वह क्या कहता, किसे दोष देता। एकाकी छटपटाए, यही तो।

और उधर उर्मिला सिसकियां भर रही थी।

४६

दिल्ली लौट कर प्रदीपने फैसला कर डाला कि वह भरसक किसी कालिजमें अध्यापक होनेकी चेष्टा करेगा। उसकी एकमात्र जमा पूंजी पार्चमेन्ट पर छपी वे डिग्रियां थीं। उन्हींको लेकर वह घूमेगा। बहुत सम्भव है कोई पहिचान ले, किसीको दया आ जाए। उसका एकमात्र रास्ता था 'हिन्दुस्तान टाइम्स'में निकलनेवाले विज्ञापन। कदाचित् कोई तीर निशाने पर जा बैठे। और नहीं तो बीचका समय काटनेको दो-चार ट्यूशन ही जुट जाएँगे।

रह-रह कर उसे लगता था कि उसकी सारी विडम्बना इन जानने-पहिचाननेवालोंके कारण है। ये जानते हैं कि वह भद्र घरका एम० ए० पास प्रवीण नवयुवक है। वे आशा भी करते हैं कि उसे कोई अच्छा-सा काम करना चाहिए। अध्यापकपना उनकी दृष्टिमें ऐसा बुरा नहीं, चाहे ये फुसफुसाते रहें कि क्या कमाता है प्रदीप।

कई बार प्रदीपको क्रोध भी आ जाता था। अजीब बात थी। आशाएँ तो बान्धें और लोग; और उनको पूर्ण करनेमें काम आए प्रदीपका सामर्थ्य। एक प्रकारसे यह ज्यादती ही तो थी। वे आशाएँ लगाएं तो तनिक प्रदीपकी बांह पकड़ें, पीठ थपथपाएं, दो शब्द उत्साहके ही कह दें। किन्तु उनको तो जब देखो नाराजसे रहते थे मानों प्रदीप उनका कुछ उठा भागा हो।

बहुत बार वह चाहता था भाग निकलना—उस ओर जिधर कोई उसे पहिचान न पाए। उस परदेशमें वह बोझा ढो सकता था, खोंचा

लगा सकता था और जरूरत पड़े तो किसीके घरके बर्तन भी मांज सकता था।

इसी स्थल पर प्रदीपकी पलायनात्मक कल्पना दिवास्वप्नमें बदल जाती। न जाने क्योंकर, उसके जागरूक हो उठनेसे पूर्व। वह सोचता कि जैसे वह किसी धनकुबेरके घरमें चाकरी कर रहा है। छोटे-मोटे सभी काम करता है। मालिककी एकमात्र आत्मीय है उसकी एक किशोरी कन्या—कादम्बरीका अवतार, गम्भीर, मनीषिणी, सुशिक्षिता। उसका परिचय काव्य, दर्शन और कलाके उन सब महारथियोंसे है, जिनको प्रदीपकी श्रद्धा मिली है। धीरे-धीरे उसीकी सेवा-सुश्रूषाका भार प्रदीपके कन्धों पर पड़ता है और वह मौन, धीर, अचंचल रह कर अपना काम करता रहता है। एक दिन वह देखता है कि कल्पना—यही नाम है उस स्वप्नकुमारीका—कुछ विषादमय मुखड़ा लिए, अपलक नेत्रोंसे एक ओर देखती हुई, कोई किनारा पानेकी चेष्टा कर रही है। और हठात् प्रदीपके मुँहसे शैली बोल उठता है—

"I fall upon the thorn of life and bleed."

अथवा शेक्सपीयर मुखरित होता है—

"To be or not to be......"

या फिर उमर खय्याम गुनगुनाता है—

"If I and thou, my love, with fate conspire."

नहीं तो कालीदास :—

"तन्वी श्यामा शिखरिदशना,
पक्कबिम्बाधरोष्ठी ।

और कल्पना चौंक कर……

साथ ही प्रदीप भी चौंक उठता। धत् तेरेकी। मार्क्स और फ्रायड पढ़ कर नानीकी कहानियां कहता सुनता है। उसे अपने ऊपर लाज आने लगती। पर निर्लज्ज बना भावपक्ष कहता,—"क्यों हठीले घोड़ेकी तरह हिनहिनाते हो, दोस्त? क्या बुरा है परियोंका देश। बिल्लीको देख कर कबूतरकी तरह आँखें बन्द कर लेना बहादुरी न हो, बुद्धिमानी अवश्य है। तुम्हें दुःखसे प्रेम ही हो तो दूसरी बात है। बैठे-बैठे खालमें पिनें चुभाया करो। आग लगे ऐसे यथार्थवादको। आँखोंमें सपने उजड़ कर आँसुओंका साईक्लोन आया रहता है।"

एक दिन उसे सुनयनाका पत्र मिला। लिखा था कि देहली यूनिवर्सिटीमें एक सौ रुपए मासिक पर दो साल तक चलनेवाली एक फैलोशिप खाली है और चेष्टा करनेसे उसे वह मिल सकती है। नवीन खोज करके उसे एक थीसिस लिखनी होगी और पी० एच० डी० की उपाधि पाकर वह सुगमतासे किसी भी कालिजमें अध्यापक हो सकेगा। फैलोशिप देना न देना विश्वविद्यालयमें इतिहासके प्रमुख एक मुसलमान सज्जन ज़िलानी साहबके हाथकी बात थी। यदि प्रदीप उन्हें प्रभावित कर पाया तो समस्या सुलझ सकती थी।

प्रदीपने कई दिनकी बढ़ी हजामत बनाई। कमीज धोकर बिस्तरके नीचे रात भर रक्खा जिससे इस्तरी हो जाए। और अगले दिन अपनी सबसे कम फटी पतलून पहन कर वह ज़िलानी साहबके दरबारमें हाजिर हुआ।

ज़िलानी साहब मुस्लिम इतिहासके विश्वविख्यात पण्डित थे। मुस्लिम-साहित्य पर भी उनका पूर्ण अधिकार था। कहा जाता था कि

एकबार दिल्लीके मुगलकालीन ऐतिहासिक स्थानोंकी सैर कराते समय उन्होंने दर्दभरी कविताएं सुना-सुना कर प्रायः दो दर्जन विद्यार्थियोंके दलको दिन भर आँसू सुखानेकी फुरसत नहीं दी थी। प्रदीप भी इतिहासकी मर्मवेदना समझता था। उसकी भी आकांक्षा थी कि भूतके गर्भमें विलीन साम्राज्यों और सभ्यताओंके मिट चले शेष चिन्होंमें प्राण फूँक दे। वह भी बीते युगोंके महाप्राण व्यक्तियोंको वर्तमानमें खींच कर आधुनिक मानवसे उनका साक्षात्कार कराना चाहता था। उसे आशा थी कि ज़िलानी साहब उसकी बात पूर्णतया समझ पाएंगे और उसे कुछ कर दिखानेका अवसर देंगे। उसके मनमें एक आशापूर्ण उल्लास और स्फूर्ति भरी ।थी

ज़िलानी साहबके सिर उठाते ही प्रदीपने दाहिने हाथकी अँगुलियाँ बांध कर मस्तक तक उठाते हुए कहा,—"आदाब अर्ज ।"

"बैठिए। मैं तनिक ये दो-चार कागज देख लूं।"

सामने बैठकर प्रदीपने उनको जाँचनेका प्रयत्न किया। ज़िलानी साहब अत्यन्त धीर गम्भीर व्यक्ति दीख पड़ते थे। प्रदीपको ऐसा लगा जैसे अपने और उनके बीच पड़े अपरिचयके अन्तरको वह पार नहीं कर पाएगा।

ज़िलानी साहबने दोबारा आँखें उठायीं तो मुख पर उपेक्षा थी। पर बड़ी सौजन्यतासे उन्होंने पूछा—

"आप हिन्दू कालेजके छात्र थे?"

"जी।"

"इतिहासके कौनसे युगसे आपको विशेष परिचय प्राप्त है?"

"मध्यकालीन भारतसे।"

"हिन्दू या मुसलिम ?"

"मुसलिम।"

"झूठ। आपके कालेजमें तो ये पेपर पढ़ाए ही नहीं जाते थे ?"

प्रदीप सकपका गया। एक क्षण ठहरकर बोला—

"किन्तु कालेजकी पढ़ाईसे मेरी रुचि अथवा ज्ञानका अनुमान लगाना तो अन्याय होगा, ज़िलानी साहब।"

"वह दूसरी बात है। खैर। आपको फ़ारसी आती है ?"

जी फ़ारसी तो नहीं, उर्दू अलबत्ता बहुत खूब जानता हूँ। और फ़ारसी भी महीने बीस दिनमें आ ही जाएगी।"

"मुझे अफ़सोस है, मि० गुप्ता, पर मैं अपने नीचे आपको रिसर्च करनेकी इजाजत नहीं दे सकता। आप हिन्दू हैं, कुदरतन आपको हिन्दी-संस्कृत आती होगी, आप महामहोपाध्यायसे पूछ देखिए। प्राचीन भारतमें रिसर्च करानेका भार वे लें तो आप का केस देखने-सुननेको तैयार हूँ। अब आप जा सकते हैं।"

प्रदीपकी मुँहकी बात मुँहमें रह गई। हतप्रभ-सा वह उठकर चल पड़ा।

"और देखिए।"—ज़िलानी साहबने टोककर कहा—"फैलोशिप देने न देनेका फैसला दिसम्बर, जनवरी तक होगा। मैं किसी प्रकारका बचन नहीं दे सकता।"—प्रदीपका रहा-सहा उत्साह भी वहीं खड़े-खड़े उतर गया। एकबारगी हल्का होकर वह उस कमरेसे निकला। समझ में नहीं आ रहा था कि सुनयनाको जाकर क्या उत्तर देगा। वह काफी-

हाउसमें बैठी उसकी प्रतीक्षा कर रही थी। वह कहेगी कि प्रदीपने जोर देकर अपनी बात नहीं कही।

सुनयना प्रदीपकी बात सुनकर कुछ नहीं बोली। दो क्षण वह कुछ सोचती रही। फिर पासमें पड़ा समाचार पत्र प्रदीपकी ओर बढ़ाकर कहने लगी—"इतनी अनिश्चित आशा लेकर आप क्योंकर चार महीने बैठ सकते हैं? छोड़िये फैलोशिपका मोह। आज विज्ञापन है कि जयपुरके महाराजा कालेजमें इतिहासका अध्यापक चाहिये। आप भी प्रार्थना-पत्र भेज दीजिए।"

प्रदीपका उत्तर न पाकर वह फिर कहने लगी—

"आप हताश क्यों हुए जाते हैं। मैं हूँ न आपके साथ। आप अकेले तो नहीं हैं। यहाँ काम न बने वहां देखिए। एक न एक दिन आखिर बात तो बनकर ही रहेगी।"

प्रदीप फिर भी कुछ नहीं बोला। सुनयनाकी आत्मीयता देखकर उसका गला भर आया था। मुँह खोलते ही आँसू टपक सकते थे। वह चुपचाप काफी पीता रहा। कुछ स्वस्थ होने पर उसने अखबार खोलकर विज्ञापन पढ़ा। डेढ़ सौ रुपए मासिककी नौकरी थी। पर उसे विश्वास नहीं हो पा रहा था कि प्रार्थना-पत्र देकर कुछ फल प्राप्ति होगी।

"अच्छा, सुनी, सारे समाज द्वारा परित्यक्त व्यक्तिकी सहायता करने पर क्यों तुली हो तुम?"—प्रदीप पूछ बैठा।

"कौन है समाज द्वारा परित्यक्त? आप? कैसी ओछी बात करते हैं! आपका परित्याग तो कोई तब करे जब कि किसी दिन किसीने

आपको अपनाया हो। अनेक औरोंकी भांति आप भी जन्मे, पले। आपको भी कुछ कठिनाइयोंका सामना करना पड़ रहा है। इसमें दिल इतना छोटा करनेकी भला क्या बात है?"

"दिल छोटा क्या अपने किए होता है, सुनयना? मुझे रास्ता जो दिखाई नहीं दे रहा।"

"रास्ता दिखाई नहीं देता, रास्ता बनाया जाता है। आप तो मानो अण्डेके भीतर रहनेवाले बच्चे हैं। सब कुछ वहीं संचित रहे, हाथ-पाँव हिलाए बिना आपको मिल जाए। और आप समझते हैं अपने आपको किसी उपन्यास अथवा नाटकका महान नायक, जिस पर मुसीबतोंका पहाड़ टूट पड़ा हो और जिसे बच निकलनेकी राह न मिल रही हो। छिः-छिः, बड़े कापुरुष हैं आप!"

सुनयना उठकर चली गई। एकबारगी सन्न होकर प्रदीप वहीं बैठा रहा। साहस न हुआ कि सुनयनाके पीछे जाकर उसे लौटा लाए। बार-बार उस लड़कीके शब्द उसे सुन पड़ रहे थे—"छिः छिः, बड़े कापुरुष हैं आप!"

× × ×

कुछ दिन पश्चात् प्रदीप जयपुरके स्टेशन पर था। उसके प्रार्थना-पत्रके उत्तरमें उसे मुलाकातके लिये बुलाया गया था। जल्दी-जल्दी उसने सस्ते कपड़ेके दो सूट और चार कमीज बनवा लिये थे। पुराना जूता भी मरम्मत होकर पहनने योग्य हो गया था। सिरके बाल भी ठीक ढंगसे कटे थे। मुख पर आशा अंकित थी, मानसमें उत्साह।

धर्मशालाकी अलमारीमें अपना सामान रखकर वह लेट गया। सांझ हो आई थी। बराबरमें एक ओर साहबी ठाट-बाटके एक सज्जन बिस्तरा लगाए थे और दूसरी ओर एक वृद्ध मारवाड़ी नाईसे पांव दबवा रहे थे। नाई कहने लगा—

"जैप्पर जिस नै नहीं देख्या उसका जीणा अकारथ गया। इतना बड़ा सहर संसारमैं और नहीं है। दरबार-सा बिलात मैं थे। अंगरेज की साथ पोलू खेल्या। होड़ थीक अंग्रेज जीत ग्या तो जैप्पर ले लेगा, दरबार-सा जीत ग्ये तो लन्धन ले लेंगे। जीता दरबार-सा की हुई; पर बै बोल्या, नहीं चाए लन्धन, इसा गामड़ा······"

उधरसे साहब बिगड़ बैठे।

"अबे क्या बकता है? तेरे बापने भी लन्दन देखा है। कह दिया गामड़ा। तेरे दरबार-सा का सारा राज वहांकी एक मामूली दुकानके बराबर भी नहीं है। बड़ा······"

प्रदीप अपनी दरी उठाकर चुपचाप बाहर सहनमें चला आया। जी चाह रहा था कि जयपुर छोड़कर भाग निकले। पर सबसे ऊपर सुनयनाकी आवाज थी—"छिः-छिः, बड़े कापुरुष हैं आप!"

अगले दिन महकमा खासमें ठीक एक बजे वह उपस्थित हुआ। वही समय था मुलाकात का। जिस कमरेमें उसे बैठाया गया, वहाँ चार-पाँच सज्जन और भी बैठे थे, आयुमें सब उससे बड़े। दो-तीनने तो उस गर्मीमें भी ऊनी सूट पहने थे। टाइयां सबने बांधी थी। पॉलिश से जूतें चमचमा रहे थे। शरीरसे भी सब जँचते थे, सबके चेहरों पर चिकनाहट थी। प्रदीपके भीतर जाते ही एक क्षण उनकी बातें बन्द हुई।

सबने उसको देखा और फिर बातोंमें लग गये। थोड़ी देरमें प्रदीप समझ गया कि सब बेहद वेवकूफ हैं, सब किसी न किसी कालेजमें लगे हुए हैं। पर वे सब राज्यकी अतिथिशालामें ठहरे हैं, उसकी तरह धर्मशालामें नहीं। उनका आत्म-विश्वास देखकर उसे पसीना आ गया। क्योंकर ठहरेगा उनके आगे वह ?

इसी समय एक अत्यन्त गोरे रंगके मध्यम—शरीरी, ठिंगने, युवा पुरुषने प्रवेश किया। सिल्ककी पतलून पर बन्द गलेका हाफ कोट पहना था। सिर पर नोकदार टोपी, पांवमें कामदार जूतियाँ। उनके पीछे एक नौकर पत्रिका और पुस्तकोंका ढेर लिए आया। उनके कुर्सी पर बैठते ही पुरानी मण्डली एक स्वरमें बोली —

"आपका परिचय ?"

"नेमीचन्द जैन।"

"आप क्या महाराजा कालेजके लिए आये हैं ?"

"हाँ।"

"अभी कहाँ हैं आप ?"

"इधर ही एक हाई स्कूलमें अध्यापक हूँ।"

सबकी दिलचस्पी वहीं समाप्त हो गई। प्रदीपने उनकी वे पुस्तकें इत्यादि देख लेनेकी इजाजत मांगी। मुस्कराकर उन्होंने वह गढ्ढर उसकी ओर सरका दिया।

सब कुछ देख गया प्रदीप। सब स्थानीय प्रकाशन थे। जैन साहब के लेखोंका एक ही विषय था—राजकुल और अनेक मारवाड़ी धनकुबेरों का जीवन इतिहास, उनकी महानता, धर्म-प्राणता, सदाचार, परोपकार

वृत्ति और परमार्थचर्या। कहीं एक अक्षर भी किसीके विरुद्ध नहीं था। दो-चार लेख देखकर प्रदीपको लगा जैसे उस मरुभूमिमें महापुरुषोंकी बाढ़ आ गई हो। गट्ठर सहेज कर उसने हाथ खींच लिए। जैन साहबने पूछा—"क्यों पसन्द आई, मेरी रचनाएं?"

"सिद्धहस्त कलाकार हैं आप। आपका लोहा मानता हूं, जैन साहब।"—प्रदीपने कहा।

"आप कैसे आए हैं?"

"बस आप ही की तरह।"

पुरानी मण्डलीमें खलबली पड़ गई। वे कदाचित् कुछ और समझते थे। झपटकर एक साहब पूछने लगे—

"कौन-से कालेजमें पढ़ते हैं, आप?"

"कहीं भी नहीं।"—प्रदीपने उत्तर दिया।

"तब आप क्यों चले आए?"

"बुलाया था।"

"आप एम० ए० पास हैं?"

"हाँ।"

"कौन-सी यूनिवर्सिटीसे?"

"देहली।"

वे साहब चुप हो गए। दूसरेने सूत्र सम्भाला—

"कब छोड़ा आपने कालेज?"

"इसी साल।"

ये भी चुप हो गए। तीसरेने बात जारी रखी—

"कौन-सा क्लास आया था ?"

"फर्स्ट।"

सबने गर्दन मटकाकर कहा—

"हूँ !"

मि० जैन आलपिनसे कागजकी स्लिप अपनी पुस्तक और पत्रिकाओं में लगा रहे थे। अधिक महत्वके स्थल दिखानेकी तैयारी थी।

प्रदीपको जो पत्र मिला था, उसमें मुलाकातका समय था डेढ़ बजे। साढ़े चार बजे पहले सज्जनको बुलाया गया। तब तक पुरानी मण्डलीके सब लोग बातचीत करके, सिगरेट फूँककर, जम्हाइयाँ लेकर, पूरी तरह मांदे पड़ चुके थे। मन-ही-मन सम्भवतः गालियाँ दे रहे हों। कमरेमें सन्नाटा छा चुका था। चपरासीकी आवाज़के साथ प्रदीपने सुनयनाका स्वर सुना—"बड़े का-पुरुष हैं आप !"—बात बहुत चुभ चुकी थी।

प्रदीपकी बारी आई, तो छः बजनेको आए थे। उसने प्रातःकाल जो जलपान किया था, उसीके सहारे दो-चार घण्टे काट देनेकी सोची थी। पर यहाँ तो सारा दिन बीत गया। चपरासीके पीछे जाकर वह कमरेमें घुसा, तो भूखसे पाँव लड़खड़ा रहे थे। तनिक सँभलकर उसने चारों ओर देखा। एक गोल मेजके चारों ओर एक यूरोपियन सज्जनके सभापतित्वमें कई भारतीय महानुभाव जमे थे। सबको नमस्कार करके प्रदीप एकमात्र खाली कुर्सीपर बैठ गया। यूरोपियनने पूछा—

"आप मि० गुप्ता हैं, प्रदीप गुप्ता ?"

"जी !"

सबने अपने आगे पड़े कागजके पुलिन्दे उलटकर उसका प्रार्थना-पत्र ऊपर रख लिया। यूरोपियन सज्जनने अपने साथियोंसे प्रश्न पूछनेका अनुरोध किया। सबने सिर हिला दिए। प्रदीप यह निश्चय नहीं कर सका कि वह सिर हिलाना उनकी उपेक्षाका द्योतक था अथवा सन्तोषका। सभापतिने कहना आरम्भ किया—

"मि० गुप्ता! आपका प्रार्थना-पत्र सब प्रकार सन्तोष-प्रद है। आप में अध्यापक बननेकी पूर्ण क्षमता होनी चाहिए। केवल एक बात पूछनेके लिए आपको बुलाया है।"

वे रुके। प्रदीपने जिज्ञासासे गर्दन आगे निकाल दी।

"आप बता सकते हैं कि आपको अनुभव कितना है?"

"तनिक अनुभवकी परिभाषा कर दें, तो मुझे आसानी रहेगी।"

"मतलब, यही पढ़ानेका अनुभव।"

"बहुत अनुभव है। पढ़ा-पढ़ाकर ही तो मैं पढ़ पाया हूँ।"

"नहीं, नहीं, ट्यूशनकी बात छोड़ दीजिए। मैं रीतिमत पढ़ानेकी बात पूछता हूँ।"

"अभी तक मुझे कहीं काम मिला ही नहीं। वैसा अनुभव भला कैसे हो। और सभीने यदि अनुभवपर जोर दिया, तो सोचता हूँ अनुभव मुझे किसी दिन होगा भी नहीं। हाँ, मैं प्रमुख छात्र, वक्ता और लेखक रहा हूँ। सोच सकता हूँ, बोल सकता हूँ, लिख सकता हूँ। मेरा अध्ययन विशेषतः वृहद् और गहन है, अनेक विषयों पर। इतना क्या पर्याप्त नहीं होगा? आप अवसर दें, मेरे असफल होनेपर आप मुझे छोड़ भी तो सकते हैं।"

प्रदीप मानो झोंकमें कह गया। उसको स्वयं पर श्रद्धा हो रही थी। सही बात, संक्षेपमें, मृदुल भावसे कह जाना तो उसने सीखा ही नहीं था। वह भूल गया कि उसके अन्तरमें सुनयनाकी भर्त्सना सजीव थी—"बड़े का-पुरुष हैं, आप!"

सभापतिने कुछ उत्तर न देकर साथियोंकी ओर देखा। उनमें से एकने पूछा—

"क्या आपने कभी किसी छोटे-मोटे स्कूलमें भी पढ़ानेका काम नहीं किया है?"

"आपके इस प्रश्नका उत्तर देना मैं अपना अपमान समझता हूँ।"—प्रदीपके मुँहसे निकल गया।

उन साहबके मुँहको जैसे उसने नोंच लिया हो। और शब्द वे नहीं बोल पाए। उन्होंने प्रदीप परसे आँखें हटाकर सभापतिपर जमा दीं।

"आप अब जा सकते हैं। हमारा निर्णय डाकसे आपको मिल जाएगा।"—सभापति बोले और साथ ही उन्होंने घण्टी बजा दी।

उसी रात वह जयपुरसे निकल भागा। आधी रातकी गाड़ीमें तीसरे दर्जेके सारे डिब्बे ठसाठस भरे थे। बाहर भी लोग लटके थे। प्रदीप एक प्रथम श्रेणीके डिब्बेको खाली पाकर चढ़ गया। भीतरसे सब खिड़कियाँ उठाकर दरवाजोंमें कुण्डी चढ़ा दी। वह एक ही पुस्तक लाया था—ट्राट्स्कीका 'रूसमें विप्लव'। वही पढ़ता-पढ़ता न-जाने कब सो गया।

४७

प्रदीप लौटकर सुनयनासे नहीं मिला। न सुनयनाने ही उसे बुलाया अथवा भेंट करनेकी चेष्टा की।

अब एक ही मार्ग दीख पड़ता था। कलकत्तेके एक धनकुबेर देहलीमें ठहरे थे। प्रदीपने बापूको पत्र लिख भेजा कि सम्भव हो तो एक परिचय-पत्र प्राप्त कर दें, जिससे कि वह उनके फाटकपरसे ही दरबानों द्वारा न दुतकारा जाए।

भाग्यसे उसको दो महीनेके लिए एक ट्यूशन भी जुट गई। दो दिन बाद छात्रने उससे कहा कि उससे सम्बन्धित एक अन्य छात्राको नई देहली जाकर यदि वह पढ़ा सके, तो अच्छे पैसे मिल सकते हैं। वह भी दो ही महीनेका काम था। पहली ट्यूशन से प्रदीपको सौ रुपए मासिक मिलनेकी बात थी।

पता लेकर प्रदीप अगले दिन तीसरे पहर विण्डसर प्लेस पहुँचा। नौकर उसे ड्राइङ्ग रूममें बैठाकर भीतर चला गया। चारों ओर खासा ठाट-बाट था। प्रदीपको बड़ा अच्छा लगा। कुछ देर पीछे एक तीस-बत्तीस बरसकी हट्टी-कट्टी पञ्जाबी महिला सामने आ बैठीं। गहरे रंगोंके कामदार रेशमी सलवार और कुरतीपर सफेद महीन चुनरी विलीन-सी हो चली थी। पाँवमें सुनहरी सैण्डलपर ही प्रदीपकी आँख पहले पड़ी। फिर सोफेके बाजुओंपर पड़े-दो हाथ—-जिनके लम्बे नाखूनोंपर लाल चमकीली पालिश चढ़ी थी, उसने देखे। धीरे-धीरे उसने आँख भरकर

उस नारीका मुख देखा। क्रीम, पाउडर, लिपस्टिक, रूज—सब काफी मात्रामें लगाए थे। सिरके बाल गोरी मेमोंकी केश-सज्जा का भारतीय अनुकरण थे। लैवेण्डरकी तेज सुगन्धसे सारा कमरा भर गया। रमणीके अंग-प्रत्यंगसे सौष्ठव टपकता था। नखसिख तो मानो विधाताने विशेष कार्य-कौशलसे आँके हों। पर न-जाने क्यों प्रदीपको उस स्त्रीके प्रति गहन अश्रद्धा-सी अनुभव हुई। उसके मुखपर गाम्भीर्य और मार्दवके स्थानमें विलास और भोग-लिप्साका छिछलापन था।

प्रदीपने अंग्रेजीमें बोलना ठीक समझा। परिमित शब्दोंमें उसने अपना आशय उन महिलाको समझा दिया। फिर पूछा कि क्या वे ही मिस मलिक हैं। महिला कुछ बोली नहीं। उठकर चली गई। इसके पहले कि वह स्थिति समझनेकी कोशिश करता, एक और महिलाने कमरेमें पदार्पण किया। वेष-भूषा और हाव-भावमें पहलीकी प्रतिमूर्ति, किन्तु आयुमें अत्यन्त छोटी, शरीरसे बहुत कमजोर, मुँहपर पीलापन लिए। आते ही कहने लगी—

"ममीको आपने क्या कहा? वे तो समझीं नहीं।"

"मैंने खूब समझाकर ही सब कहा था।"

"किन्तु आप अंग्रेजीमें जो बोले। वे तो अंग्रेजी जानती नहीं।"

प्रदीप अवाक् रह गया। नई देहलीमें इस आधुनिक सज्जाकी नारी अंग्रेजी नहीं जानती—कैसे विश्वास करता। समाजमें क्योंकर काम चलता होगा!

आशय पूछनेपर प्रदीपने फिर सब दुहरा दिया। नवागन्तुकाने बतलाया कि वे ही मिस मलिक हैं, वे ही पढ़ेंगी, और पूछा कि प्रदीप

क्या पारिश्रमिक लेगा। प्रदीपने सौ रुपए कहे, तो मिस मलिकने हामी भर ली और अगले दिनसे आनेका आदेश देकर उसे छुट्टी दे दी।

कई दिन पश्चात् पहले छात्रने शिकायत की कि उससे सौ रुपएकी बात करके नई ट्यूशन प्रदीप पचास रुपए पर करनेको क्यों तैयार हो गया ? प्रदीपको बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने तो सौ ही रुपए बताए थे, पर महीनेके या दो महीनेके यह उसने नहीं कहा था। उसे क्या मालूम था कि वे इतना अप्रत्याशित अर्थ लगा लेंगे। सन्ध्या समय मिस मलिक से उसने कहा तो वे अपने पिताके पास उनको ले गईं। अधेड़ आयुके सज्जन थे। अत्यन्त भद्र, किन्तु प्रदीपसे बैठनेको नहीं कहा।

"क्या बात है, मास्ट······ओ माफ़ कीजिए, प्रोफ़ सा'ब ?

"जी, कुछ ग़लतफ़हमी हो गई है, वह दूर हो जाए तो बड़ा अच्छा रहे।"

मिस मलिकने सब समझा दिया। सुनकर वे चिन्तामें पड़ गए। बेबसीसे बोले—

"इतना देना तो मेरे बसकी बात नहीं।"

"तो कोई बात नहीं। मैं कलसे काम छोड़ दूँगा।"—प्रदीपने उन्हें धैर्य दिया।

"नहीं, नहीं, काम कैसे छोड़ देंगे। अब शुरू किया है, तो निभाना ही चाहिए आपको।"—वे कुछ क्षुण्ण होकर बोले।

"पर यह सम्भव कैसे है, जनाब। पचास रुपए महीनेके लिए तो रोज इतनी दूर आकर बी० ए० के तीन पेपर मैं पढ़ानेसे रहा।"—कह कर प्रदीप लौट पड़ा।

"अहा हा, आप जा कहाँ रहे हैं ? मेरा मतलब यह कभी नहीं था। पर आप सोचकर तो देखिए। मेरा इतना लम्बा चौड़ा खर्च है, समझमें नहीं आता क्या करूँ ?"

"मुझे आपकी कठिनाईसे सहानुभूति है। पर मेरी अपनी मजबूरी भी कम नहीं।"

"देखिए आपका इतना खर्च नहीं है। आपको क्या फर्क पड़ेगा। आप पढ़ाइए, हम आपका कोई काम निकाल देंगे।"

प्रदीप को हँसी भी आ रही थी, क्रोध भी। वह काम निकालने वाला इंगित वह समझ नहीं पाया। सुना था कि वे सज्जन किसी सरकारी दफ्तरमें काम करते हैं। उससे प्रदीपको कोई प्रयोजन नहीं था। पर उसने स्पष्टीकरण भी नहीं चाहा।

प्रदीपको मूक पाकर शायद वे और भी उत्साहित हो गए। कहने लगे—

"इस लड़की पर मुझे कितना खर्च उठाना पड़ रहा है, सो आपसे छुपा नहीं। कालिजकी फीस, किताब कापी, परीक्षाकी फीसें, इसके कपड़े-लत्ते और जेब खर्च। जी जानता है, मि० गुप्ता! फिर इसका विवाह करना है, दहेजमें न जाने कौन कितना माँगेंगे। आप ही सोचिए......"

प्रदीप धैर्य खो बैठा। उधर मिस मलिक सिर झुकाए, अपराधिनी-सी, जड़वत् खड़ी थी। उसे देख कर प्रदीपका मन अनुकम्पासे भर उठा। बिचारी लड़की—वैभवके पीछे छुपी उसकी परवशता! वह बोला—

"देखिए, मि० मलिक, एक सौ रुपएकी बात पर मैं आपका बजट समझना नहीं चाहता। अपनी बातें आप जानें, पर मैं पारिश्रमिक कम करके अपने कामकी प्रतिष्ठा घटाना नहीं सह सकता। चलिए, मैं मिस मलिकको मुफ्त पढ़ाऊँगा और बचन देता हूं कि वह परीक्षामें पास हो कर रहेगी......"

मलिक साहब उठ कर खड़े हो गए। हाथ फैलाकर बोले—

"नहीं, नहीं, आप कैसी बातें कर रहे हैं। ऐसा कभी हो सकता है भला? आप गरीब आदमी हैं। आपका हक़ मैं कैसे मार लूँ। आइए, हाफ़ एण्ड हाफ़, आधा आप छोड़िए, आधा मैं छोड़ूँगा। आपको डेढ़ सौ रुपए दे दूँगा, दो महीनेके।"

प्रदीप चुपचाप लौट चला। क्या कहता। उसने जीवनमें कभी मोलभाव किया ही नहीं था। मिस मलिक पीछे-पीछे आ रही थी। बाहर पार्कमें जाकर वह कुरसी पर बैठ गया। वहीं पढ़ाया करता। मिस मलिक पास आ बैठी। सिर झुकाए-झुकाए बड़े विनीत स्वरमें लड़कीने पूछा—।

"आप क्या मुझे पढ़ाना छोड़ रहे हैं?"

"नहीं तो।"—प्रदीपके मुँहसे हठात निकल गया। लड़कीको देख उससे ना कहते नहीं बन पड़ा।

सुबह शाम प्रदीपको काम मिल गया। वह जी लगाकर पढ़ाता था। दो-तीन घण्टे एक-एक स्थान पर बैठकर तब तक माथापच्ची करता रहता, जब तक कि बात सुननेवालेकी समझमें न आ जाती। इससे अधिक विषयके बाहरकी अनेक बातें चलाकर वह विद्यार्थीकी बौद्धिक

पृष्ठ भूमिको दृढ़ बनानेमें सचेष्ट रहता। अपने परिश्रमका फल देखकर उसे उल्लास होता था। मानो जीवन सार्थक हो रहा हो। जितना समय उसे मिलता वह पढ़ानेकी तैय्यारी में स्वयं पढ़ता। इसी समय एक घटनानें फिर उसके जीवनमें स्पन्दन जगा दिए।

मिस मलिकने अपनी एक सहेलीका ज़िक्र किया। वह भी वही परीक्षा देनेवाली थी। नाम था अनुराधा पण्डित। घरसे कुछ दरिद्र होगी। प्रस्ताव था कि वह भी उसके लेक्चरमें आ बैठे तो उसे कोई आनाकानी तो नहीं होगी। प्रदीपने बड़ी प्रसन्नतासे हामी भर दी और अगले दिनसे अनुराधा भी आने लगी। बड़ी हलकी सी, साँवली, सुन्दर, सलोनी लड़की थी। प्रदीपको उससे विशेष स्नेह हो गया।

एक दिन वह पढ़ा कर चुका तो मिस मलिक अनुराधासे बोली—

"तेरा नौकर नहीं आया आज?"

"न जाने कहाँ अटक गया। नहीं आनेका कोई कारण तो नहीं है।"

"कैसे जाओगी? चलो यहीं ठहरी रहो। या तो वह आ जायगा, नहीं कल चली जाना।"

"नहीं री, माँको चिन्ता हो जाएगी। जाना तो मुझे अभी होगा ही।"

प्रदीपने पूछा—"कहाँ जाना है आपको?"

उत्तर दिया मिस मलिकने—"यहीं, कनाट प्लेस तक।"

"तो चलिए मैं छोड़ता जाऊँगा। मेरा रास्ता उधरसे ही पड़ता है।"

सुनकर अनुराधाका मुँह लाल हो उठा। सिटपिटाकर सुकड़ गई, मानो प्रदीपने कोई अभद्र इंगित किया हो। मिस मलिक परिस्थिति समझ कर बोली—

"नहीं, मैं अपने नौकरके साथ भिजवा देती हूँ। आप जाइए। आपको देर हो जाएगी।"

प्रदीप उठा तो शरीरमें प्राण नहीं थे। उसकी आँखों परसे मानो रंगीन चश्मा उतर गया। बलात् उसे उसकी स्थितिका स्मरण कराया गया था। किसीकी मौन अवहेलना नहीं थी। स्पष्ट चीत्कार था—"तुम मास्टरीका पेशा करनेवाले, तुम क्या समझते हो अपने आपको? अनधिकार चेष्टा मत करो। तुम्हारी इतनी साख नहीं है कि भद्र घर की लड़की बेखटके खुली सड़क पर तुम्हारे साथ दो फर्लाङ्ग चली जाए। चार मन किताबें पढ़ लेनेसे तुम्हारा बोझ नहीं बढ़ा। तुम वैसे ही हलके हो। इनके साथ तुला पर चढ़नेकी धृष्टताके क्या मायनी..."

इसके पश्चात् उन लड़कियोंको पढ़ानेमें प्रदीपका मन नहीं लगा। यन्त्रवत वह जाकर घण्टा दो घण्टा बोलता रहता, अपना काम सुचारु रूपसे करता, किन्तु अध्यापक और छात्रके सम्बन्धमें भरा रहनेवाला आत्मीयताका रस फिर नहीं लौट पाया। परीक्षाके अन्तिम दिनसे पहली सन्ध्याको वह पढ़ाकर उठा तो मिस मलिकने एक-डेढ़ सौ रुपयेका चैक उसके हाथमें दे दिया। न वह एक शब्द बोली, न अनुराधाने ही आँख उठाकर देखा। प्रदीप भी छाती पर पत्थर रखकर सड़क पर निकल आया। जीवनके एक पृष्ठको वह उलट चुका था। उसे फिर से पलटकर देखनेका अवसर कभी नहीं आनेवाला था।

हठात् प्रदीपको सुनयनाकी याद आ गई। तीव्र इच्छा जागी कि जाकर उससे मिल आए। पश्चात्ताप हुआ कि वह इतने दिनसे उसके पास नहीं गया। उस पर किसी प्रकारसे मन भारी करना उसे सर्वथा अनुचित जँचा। वह देख चुका था ट्यूटर और छात्राका नाता। किसी रसकी आशा करना हठधर्मी थी। सुनयनाने उसे जो कुछ दिया, वह क्या कम था? और उसे क्या चाहिये?

सुनयनाके घर प्रदीप पहुँचा तो रातके प्रायः साढ़े आठ बज चुके थे। दरवाजेमें घुसते ही देखा कि सुनयना बाहर जा रही है। वह एक ओर को हटकर खड़ा हो गया, जैसे कह रहा हो कि शाहंशाह सलामतकी सवारी गुजर सकती है। उसे देखते ही सुनयनाने मुख पर फैलती बरबस हँसीको दबा लिया। पर वह रुकी नहीं। प्रदीपकी ओर देखे बिना ही—"आइये, मेरे साथ चलिए।"—कहकर आगे बढ़ गई।

मोटरमें बैठते ही प्रदीप ने पूछा—

"कहाँ जा रही हो, सुनी?"

उसकी बातका उत्तर देती-सी सुनयना ड्राइवरसे बोली—

"ओडियन सिनेमा चलो।"

"क्या सिनेमा देखनेका प्रोग्राम है?"—प्रदीपने पूछा।

"जी।"—उसे घूरकर सुनयाने उत्तर दिया।

गाड़ीका इञ्जिन चल चुका था, पर आगे नहीं बढ़ पाई थी। द्वार खोलकर प्रदीप नीचे उतरने लगा। सुनयनाने हाथ पकड़कर रोक लिया। बोली—

"यदि सड़क पर अपना और मेरा तमाशा नहीं बनाना चाहते, तो चुपचाप बैठे रहिए।"

"पर देखो, सुनयना, मैं भला सिनेमा जाकर क्या करूँगा ? ऐसे ही तुमसे मिलने चला आया था। फिर किसी दिन आ जाऊँगा।"

किन्तु गाड़ी चल चुकी थी। सुनयनाने कोई उत्तर नहीं दिया। प्रदीपने पूछा—

"कौन-सी पिक्चर है ?"

"आप सोचकर कहिए।"

"लो, मैं भला क्या जानूँ ?"

"सच मानिए, मैं भी नहीं जानती।"

दोनों चुप रहे। गाड़ी नई दिल्लीके किनारे जा पहुँची। सहसा सुनयनाने ड्राइवरको गाड़ी मोड़ लेनेका आदेश दिया। मानो अपने आपसे कह रही हो—

"ड्राइवर गाड़ी मोड़ लो। नई दिल्ली नहीं जाएँगे। इससे अच्छा तो बेला रोड पर चलाओ। कहीं अच्छी-सी जगह देखकर दो घड़ी बैठेंगे।"

लाल किलेके पीछे जहां दीवाने-खासके सामने मैदान पड़ता है, वहीं सुनयनाने गाड़ी रुकवा ली। एक बार तो प्रदीप को कपकपी हो चली। एक दिन सुनयनाकी बातोंसे चोट खाकर वह यहीं आकर रोया था, हँसा था। सुनयनाको तो वह सब मालूम नहीं। फिर आज यह सिनेमा जानेके लिये घरसे निकली और चली आई यहां बीहड़ में। कोई क्या कहेगा ?

कृष्णपक्षकी चतुर्थीका चांद अभी निकला था। घास पर बैठकर सुनयनाने पाँवकी सैंडलें खोलकर एक ओर रख दीं। फिर बड़े शान्त, कोमल स्वरमें प्रदीपसे बोली—

"कहां गायब रहे इतने दिन, बोलिए तो ?"

"जयपुरसे असफल लौटकर दो ट्यूशनें कर ली थीं। काफी व्यस्त रहा। आज दोनोंका अन्त हो गया। सोचा तुमसे मिल आऊँ।"

"अब क्या करनेका इरादा है ?"

"तुमसे यही पूछने तो आया था।"

प्रदीप कह गया। पर उसे लगा कि ऐसा कहना नहीं चाहिए था। सुनयना क्या सोचेगी ? बिना कामके क्या वह उसके पास आना नहीं चाहता ? वह चुप हो रहा।

"एक काम आपको बताती हूँ। आप मेरे Marriage Adviser बन जाइए। फीस अच्छी दे दूंगी। काम काफी दिलचस्प रहेगा। क्यों, क्या कहते हैं ?"

प्रदीपने उत्तर नहीं दिया। सुनयना कहती रही—"आपको पर्याप्त अनुभव है। एक सालसे अधिक हो गया आपकी शादीको, समस्या पर काफी सोचा-समझा होगा। आप मुझे ठीक सलाह दे सकते हैं।"

"तुम्हारा क्या स्वयंवर हो रहा है, सुनयना ?"

"हाँ, एक प्रकारसे यही समझिए। आपत्ति यही है कि मुझे सब चाहते हैं, मैं किसीको नहीं।"

"ऐसी क्या बात है ? इतनी बेजोड़ तो तुम नहीं हो।"

"हूं, भाई, हूँ। विधातासे एक ही बार ऐसी भूल हुई थी।"

"नहीं, हो सकता है कि किसी पहलेसे बनाए मॉडलकी तुम नकल हो।"

"पर वह माडल ढूँढ़ूं कहां? सब ओर तो मेरे रास्ते खुले नहीं।"—कहकर सुनयना कुछ अनमनी-सी हो गई। फिर गम्भीर स्वरमें कहने लगी—"आपके घर जब और शरण नहीं तो कोई ठिकाना तो ढूँढ़ना ही होगा। सोचती हूँ वासुदेव ही क्या बुरा है? किसीके साथ तो आखिर रहना ही है ना। आप क्या राय देते हैं?"

"मेरी ओरसे चाहे तुम जहन्नुममें जाओ।"—कहकर प्रदीप खड़ा हो गया। पर सुनयनाने खींचकर फिर बैठा लिया।

"ओ हो, आप इतने गरम क्यों होते हैं? आखिर किसीसे तो मेरा विवाह होगा ही। यह आपका अन्याय है कि अपना विवाह करके मुझे अवसर देना नहीं चाहते।"

"क्यों मुझे जलाया करती हो सुनयना? मैंने क्या लिया है तुम्हारा?"

"बाम्बे टाकीज़का चित्र होता तो कह देती—दिल लिया है मेरा आपने। पर वैसी बात नहीं। मेरा दिल मेरा ही है। सदा मेरा ही रहेगा। हाँ, आपसे पूछती हूँ कि आप क्यों जला करते हैं, मुझे देखकर?"

"अपने आपसे पूछकर देखो, उत्तर मिल जाएगा।"

"मेरा उत्तर आपको अच्छा नहीं लगेगा। इसलिये मैं भी उसे वैसा पसन्द नहीं करती। शायद आप कोई अधिक अच्छा उत्तर दे सकें।"

"तुम्हारा उत्तर सुनना चाहता हूँ।"

"मैं तो देखती हूँ कि आप निर्विकार होकर भी निरलिप्त होना नहीं सीखे। परिस्थितियोंके बन्धनसे आपने ज़ोर आजमाया है, आपके मांसमें धँसे उनके पंजे आपने नहीं निकालने सीखे। यही आपकी व्यथा का कारण है।"

"हो सकता है। किन्तु किनारा कहाँ है, मुक्ति किधर है—मैं तो यही जाननेको अधिक लालायित हूँ, सुनयना।"

"किनारा तो बाहर नहीं देखती, भाई। वह तो आपको स्वयं अपने भीतर ही खोजकर पाना होगा।"

"वह यदि किसी दिन भी नहीं पा सका, तो ?"

"तो निभाए जाइए अनबूझ, अनावश्यक वेदनाकी कटुमधुर परम्परा। वह भी कोई बुरा अनुभव नहीं।"

"किन्तु बाह्य-जगत्में यदि वह समस्या सुलझानेकी चेष्टा की जाए, तो क्या बुरा होगा ?"

"बुरे-अच्छे का प्रश्न नहीं। वैसा सुलझाव संभव हो, तब न। वह बाह्य-जगत्की उलझन जो नहीं है।"

दोनों चुप हो गये। फिर उनमें बातें नहीं हुईं। न जाने कितनी देर वे बैठे रहे। जब उठे तो सुनयनाकी आंखोंमें चमकते आँसू कह रहे थे—

"जग की आँखों के ओझल भी
दुख का कुछ कूल किनारा है"

४८

इसी बीच कलकत्तेसे एक परिचयपत्र प्रदीपको मिल चुका था। किन्तु वह धनकुबेर मसूरी जा चुके थे। प्रायः रोज ही वह टेलीफोन पर उनके आनेकी बात पूछा करता। जब उसे ठीक समाचार नहीं मिल सका, तो एक दिन इतवारको फगवाकी साईकल मांग कर वह उनकी कोठी पर पहुंच गया। दरबानसे मालूम हुआ कि सेठजी उसी दिन प्रातःकाल मसूरीसे आए हैं और अत्यन्त व्यस्त हैं।

घरसे चला तो प्रदीपने उनसे मुलाकात करनेकी बात बिलकुल नहीं सोची थी। अन्यथा वह मैलेसे, जीर्ण-शीर्ण धोती-कुरता पहन कर नहीं जाता। वह विवाहवाला सूट उसके ट्रङ्कमें रखा था और एक-दो कमीज भी निकल ही आती। वह हजामत बना सकता था और जूते पर तनिक पालिश हो जाने से वैसा भद्दापन नहीं बच रहता। किन्तु उनके आनेका वृत्तान्त सुन कर उसने सोचा कि चलो आज ही मिल लिया जाए। फिर कौन आएगा। फगवा दोबारा साईकल दे न दे और काली कोसों पांव-पांव चल कर आना कोई आकर्षक काम नहीं था। वास्तवमें उसे उन सेठजीसे कोई विशेष आशा नहीं थी, जो वेश-भूषाका ध्यान रखता। और कई स्थानों पर उसने भाग्य आजमाया था, सोचा चलो यहाँ भी देख लिया जाए।

राजपूत दरबान उसे भीतर जानेकी इजाजत नहीं देना चाहता था। प्रदीपने परिचयपत्र लिखनेवालेका नाम लिया और जेबसे लिफाफा

निकाल कर दिखा दिया। दरबान भीगी बिल्लीकी तरह आगे-आगे चल कर उसे प्राइवेट सेक्रेट्रीके कमरेमें ले गया। वे एक दुबले, पतले, गोरे-से खद्दर वेशधारी नवयुवक थे। प्रदीपने हाथ जोड़े और उन्होंने सिर झुका कर प्रणाम स्वीकार कर लिया। मुख पर वही भाव बना रहा। प्रदीप बोला—

"मैं सेठजीसे मिलना चाहता हूं।"

"किसलिए?"

"वह तो उन्हींसे कहूँगा।"

"आपका क्या उनसे मिलनेका समय निश्चित हो चुका है?"

"जी, अभी तो नहीं हुआ।"

"तो फिर पहले अपना आशय-उद्देश्य लिख कर भेज दीजिए। आवश्यक होने पर वे बुला भेजेंगे। वे साधारणतया किसीसे मिलते नहीं हैं।"

सेक्रेटरी साहब अपने काममें लग गए। प्रदीपका अस्तित्व अब उनके लिये नहीं रह गया था।

प्रदीपने ज़ेबसे अस्त्र निकाल कर कहा—"ये देखिए महाशय, मेरे पास ————का परिचयपत्र है। यह उन तक पहुँचा दीजिए। पीछे मिलना-न-मिलना उन पर निर्भर है।"

सेक्रेट्रीने सिरसे पांव तक प्रदीपको देखा। परिचयपत्र लिखनेवालेका नाम सुन कर वे अत्यन्त प्रभावित हुए थे। प्रदीपको वह नाम अलीबाबाके खुल-समसम सा लगा—बोलते ही द्वार खुल गए। सेक्रेटरीने कुरसी मंगवाई और प्रदीपको बैठनेका आदेश देकर भीतर चले गए। मेज पर

उनके कागज ज्यों-के-त्यों बिखरे पड़े थे। प्रदीपने पत्र निकाल कर चूम लिया। अत्यन्त साधारण लिफाफेमें एक छोटी-सी पुरजी जान पड़ती थी। पर लिफाफा इस बुरी तरह चिपकाया गया था कि खोल कर पढ़ने के पश्चात् जीर्णोद्धार करना असम्भव हो जाता। ऊपर पता लिखा था, साहजी······

लौट कर सेक्रेटरीने वह पत्र प्रदीपसे ले लिया और बैरा बुला कर उसके साथ प्रदीपको प्रतीक्षागृहमें भेज दिया। सजा हुआ कमरा था। दीवारों पर सेठजीके बनवाए धर्मशाला, स्कूल, कालिजोंके चित्र टंगे थे। और कोई वहाँ नहीं था, इसलिए प्रदीपने सोचा कि तुरन्त ही उसको बुलाया जाएगा। हठात् उसे अपने कपड़ोंका ध्यान आया और मनमें भय-सा उपजने लगा। यह क्या किया उसने! वह तो केवल सेठजीके आनेका पता लगाने आया था। आज ही मिलनेको सेठजी राजी हो गए तो भी उसे नहीं होना चाहिए था।

प्रायः तीन घन्टे पश्चात् जब प्रदीप बुरी तरह ऊब कर एक प्रकारसे रो उठा था, दरबानने आकर कहा कि सेठजी बुला रहे हैं। कई रास्ते पार करता हुआ वह एक बड़ेसे दालानमें पहुँचा, जहाँ एक ओर बनी मसनद पर सेठजी बैठे कुछ पढ़ रहे थे। तीस-पैंतीस बरसके छरहरे पुरुष, अत्यन्त सुन्दर, मुख पर शान्त-गाम्भीर्यकी अमिट छाप लिए। प्रदीप श्रद्धासे नतमस्तक हो चला। यह तो मोटी तोंदवाला पान चबाता हुआ बीभत्स मांस-पिण्ड नहीं था। इनसे वह कुछ आशा रख सकता था। कदाचित् वे उसके कपड़ों पर ध्यान न देकर उसकी बातें सुनें, समझें, उसे पहिचानें। अपनी रायमें प्रदीप गुदड़ीका लाल बन बैठा

और वे मैले वस्त्र तथा बढ़ी हुई हजामत एक दार्शनिक अतिरिक्तताकी अभिव्यञ्जना मात्र रह गए।

"जोब चाहिए जोब ?"—अचानक सेठजीने आँखें उठा, उसे देख कर, अत्यन्त निर्मम स्वरमें पूछा।

प्रदीप जैसे आसमानसे गिरा हो। सारी बातें भूल गया। मरी-सी आवाजमें बोला,—"जी, इसीलिए आया हूँ।"

"कठेका है भाई तूं ?"

"यही दिल्लीके पास एक गांव है। रोहतक जिलेमें।"

"अगरवाला हैं के ?"

"हां।"

"कित्तोक पढ्यो है !"

"इसी साल एम० ए० पास किया है, हिस्टरीमें, फर्स्ट क्लास······

"और कठेइ काम कोनी मिल्यो होसी।"

"होम डिपार्टमेन्टमें मिला था, मैं छोड़ आया। मैं चाहता हूँ···

"पर म्हारै बीनसमैं तो इत्ती पढाई कैंइ काम कोनी आवै।"

प्रदीप बिल्कुल बौखला गया। क्या उत्तर देता इस प्रश्नका। तमक कर बोला,—"आपकी सुरुचिका पहले ज्ञान नहीं था। अन्यथा हाई स्कूल छोड़ते ही उपस्थित हो जाता। अब तो भूल हो गई, आप······

सेठजी फिर पढ़ने लगे थे। आँख उठाए बिना ही बोले—

"म्हीनोक पाछै मैं कलकत्तै जास्यूं। बठै साहजी स्यूँ बात कर ल्यूंगा। तूँ जाणै सकै है अबार।"

ताप है। बापूका सन्देश आया कि वह कलकत्ते चला आए। प्रदीपने चुपचाप हामी भर दी। माँ और उर्मिलासे विदा लेने वह गाँव चला गया। रीढ़के टुकड़े हो चुके थे।

दिसम्बर बीतने लगा। कड़ाकेका शीत था उस साल। प्रदीप घरमें पड़ा-पड़ा दिन गिनने लगा। जनवरीके प्रथम सप्ताहमें वह कलकत्तेकी गाड़ी पकड़ना चाहता था।

एक दिन जेठमें पानी भरी बदलीकी तरह उसे अपने एक सहपाठी का पत्र मिला। समाचार था कि उनके बड़े भाई, मि० मोतीवाला, दिल्लीकी सिविल-सप्लाईकी ओरसे बम्बई और अहमदाबादमें कपड़ेका कोटा खरीदने पर नियुक्त हुए हैं। उनको एक काफी पढ़े-लिखे आदमी की जरूरत पड़ेगी। काम होगा बम्बईका आफिस सँभालना। वेतन सौ-सवा सौ। रहने-सहने और खाने-पीनेका प्रबन्ध मुफ्त हो जाएगा। अनुभवका क्षेत्र विशाल है। प्रदीप चाहे तो तुरन्त आकर बात कर सकता है।

दिल्ली पहुँचते ही प्रदीप जैसे ज्वारपर चढ़ बैठा। मि० मोतीवाला अत्यन्त सुलझे हुए दुनियादार आदमी थे। चार-पाँच दिन तक उनकी बगलमें बैठ कर वह कार चलानेमें उनका अद्भुत कौशल देखता रहा। अनेक दफ्तर, दुकान, साहब, बनिए और दुकानदार देखे। अनेक भाग दौड़ की, जिसमें मि० मोतीवालाके लिए कैप्स्टन सिगरेटके दस पैकेट और गुलाब-गन्धीसे किमाम खरीदना भी शामिल थे। बड़े जोर-शोरसे बम्बई जानेकी तैयारियाँ हो रही थीं। प्रदीपने भी अपना बिस्तर बाँधकर धर दिया।

किम्वदन्ती थी कि मि० मोतीवालाको वह उच्च पद पानेके लिए सिविल सप्लाईके एक पञ्जाबी अफसरको महीनों रौशनारा क्लबमें ह्विस्की पिलाकर नित नई नवयौवनाओंका उपभोग कराना पड़ा था। अन्यथा उनकी तो सात पीढ़ीमें भी किसीने कपड़ेकी कतरन खरीदी-बेची न होगी। कहाँ यह धोती, साड़ी, लट्ठा, शर्टिंग, कोटिंग और अन्य कोटि के वस्त्रोंकी पाँच हजार गाँठें महीनेमें खरीदकर देहलीके बाजारोंमें भेजने का काम! कपड़ा बाजारकी सात एसोसिएशनोंमें से चार मोतीवालाने बहला-फुसला लीं, शेष तीन द्वारा निर्वाचित अनुभवी व्यापारी वेतन लेकर काम करनेको तैयार नही हुआ। चाचा (मोतीवाला सिविल सप्लाईके पंजाबी अफसरको इसी नामसे पुकारते थे) ने उसकी कमरपर हाथ रखकर कहा—

"हमें मत भूल जाना, बेटा!"

प्रदीपको मोतीवालाकी कारमें देखकर पुराने परिचितोंने नमस्ते करना आरम्भ कर दिया, कईने नया परिचय करना चाहा। जो भी मिला, वही एक रहस्यपूर्ण मुस्कानसे चेहरा भरकर बोला—

"तुम्हारे पौ-बारा हैं!"

उत्सुकता बढ़नेपर प्रदीपने इन संकेतोंका अर्थ पूछा। उसे बताया गया कि वह जिस दफ्तरमें जा रहा है, वहाँ नोटोंकी अनवरत वर्षा हुआ करेगी। पच्चीस-पचास हजार समेट लेना पाँच-चार महीनेका काम होगा। लोग आएँगे और प्रदीपका डेस्क खोलकर नोटोंसे भरा लिफाफा रख जाएँगे, सिर्फ इसलिए कि उनके किसी कागजपर प्रदीप हस्ताक्षर कर दे, उनका कुछ माल पास कर दे और उनकी दो-चार बातें मोतीवाला

के कानोंमें डाल दे। प्रदीपकी इच्छा हुई, तो बम्बईकी "लाइफ" देखनेके भी अनेक अवसर उसे मिलेंगे। सब यही कहते थे—"हमें भूल न जाना दोस्त !"—प्रदीपकी समझमें नहीं आया कि उन बातोंमें कहाँ तक तथ्य था और कहाँ तक क्रूर उपहास। हाँ, वे नोट और वह "लाइफ" यदि उसके पास आए, तो वह बाँहें पसारकर समेट लेगा। युग-युगका वंचित, बुभुक्षित था वह। यह अचानक छप्पर फट पड़ा।

चौदह जनवरीको बम्बई जानेकी बात थी। तेरहकी सन्ध्याको वासुदेवने प्रदीपको अपने घर निमन्त्रित किया। पिस्ता, बादामकी बर्फियाँ और घण्टेवालेके समोसे, दाल-मीजी खानेवालोंमें सुनयना भी थी। प्रदीपको देखकर आज वह मुस्कराई भर थी, बोली कुछ नहीं। अन्त तक मौन रही। समारोहका केन्द्र था प्रदीप। सब उसीसे बातें करना चाहते थे। उसके बड़ा बन जानेपर तो शायद ही ऐसा अवसर मिले। अन्तमें कविता सुनानेका अनुरोध पाकर प्रदीपने अपनी एकमात्र स्वप्निल रचना सुनाई—

"आ रही मधुयामिनी अलि, आज सब सपने सजाले।"

छायालोक धरापर उतरा चाहता था।

विदा लेते समय इच्छा रहनेपर भी प्रदीप सुनयनासे दो बातें नहीं कर पाया। न ही सुनयनाने वैसी चेष्टा की। उस उत्साह भरे मनमें एक काँटा-सा लेकर ही प्रदीप उस रात सोया।

पन्द्रह जनवरीको प्रदीप सर्वेन्ट्सके डिब्बेसे बाम्बे सेन्ट्रलपर उतरा। मोतीवाला सफेद फ्लैनलकी पतलून और हवायन पहने लोगोंसे हाथ

मिल रहे थे। मोटरमें बैठकर वे—मोतीवाला, प्रदीप और नौकर—मैरीन ड्राइवपर बने एक भव्य-भवनके विशाल, पाँच-छः कमरेवाले फ्लैट में जा उतरे। ऐसी जगह प्रदीपने पहले-पहल देखी थी। मोजेइकके फर्श, वार्निश की हुई दीवारें, नया भड़कीला फर्नीचर, सुन्दर, स्वच्छ, ठण्डे-गरम पानीसे भरे बाथरूम, टेबुल लैम्प और बैड स्विच, गैसके चूल्होंवाला किचन। नीचे-ऊपर जानेके लिए आटोमैटिक लिफ्ट—दो-दो, एक सैकेण्ड भी खड़ा होनेकी जरूरत नहीं। पीछेकी ओर घासका विस्तृत मैदान, दोनों बाजू वैसी ही भव्य अट्टालिकाएँ, सामने चौड़ी सड़क पार करते ही दूर क्षितिज तक फैला सागर। प्रदीप नाच उठा।

किन्तु उसका सामान जब नौकरने किसी कमरेमें न रखकर कोनेमें बनी नौकरोंवाली कोठरीमें अपने सामानके साथ रख लिया, तो प्रदीपको वैसा अच्छा नहीं लगा और मोतीवालासे पूछकर भूल सुधारनेकी हिम्मत भी वह नहीं कर सका।

मोतीवाला प्रातःकाल पाँच बजे जाग उठते थे। प्रदीपको देरसे उठनेकी आदत बदलनी पड़ी। जितनी देर वे नहा-धोकर पूजा करते, प्रदीप टेलीफोनपर बैठकर उनके बताए नम्बरोंपर बात करता। जल्दी-जल्दी अपना नहाना-धोना कर डालता। फिर वह बैठ जाता, कागज और पेन्सिल लेकर मोतीवालाके सामने। वे कभी तो सारा पत्र बोल देते, कभी सारांश बता देते। नौ-साढ़े-नौ बजते ही वे तो निकल जाते अपने कामसे और प्रदीप चल देता आफिस। रास्तेमें एक प्याला चाय और दो बिस्कुट ईरानीकी दुकान पर खा-पी लेता।

आफिस था धोबी तालाब पर। एक कमीशन एजेन्टने एक कमरा, फर्नीचर और टेलीफोन सहित दे डाला था। एक पंजाबी नवयुवक टाइपिस्ट भी रख लिया था। प्रदीप अपने हाथों कागज-कलम लाया, फाइलें बनाईं। प्रायः बारह बजे तक नित्य वह बोल-बोलकर पत्र इत्यादि टाइप कराता रहता। बीचमें टेलीफोन आते रहते। प्रायः साढ़े बारह एक बजे मोतीवाला आकर पत्र मांगते। वह प्रदीपके लिये सबसे बुरा टाइम होता था। पूर्णतया उनके लिखवाये पत्रोंमें जहाँ प्रदीप परिवर्तन अथवा शुद्धि किए बिना उनकी भाषा लिखवा देता, वहाँ वे शिकायत करते कि एक एम० ए० पासको साथ लानेका उनका आशय यही था कि वह उनकी टूटी-फूटी अङ्गरेजी ठीक कर दे। किन्तु प्रदीपकी शुद्धियाँ भी उन्हें पसन्द नहीं आती थीं। कहते कि सारा आशय ही नष्ट कर डाला। प्रदीप द्वारा अपने सारांशोंका विकास तो उन्हें एक दिन भी नहीं जँचा। हारकर पूरा पत्र ही लिखवाते।

प्रायः एक डेढ़-बजे वे प्रदीपको साथ लेकर निकल जाते। फिर तो सांझ तक दौड़ते ही बीतता। अनेक स्थानों पर अनेक आदमियोंसे अनेक बातें करनेका उनका स्वभाव था। प्रदीप उनके लिये टैक्सी पकड़ता, टैक्सीका बिल चुकाता। पान-सिगरेट खरीदता। मांगने पर फाइल और कागज-पत्र निकाल कर देता। एक मिनट भी उनकी हाजरी से जान नहीं बच पाती थी। बहुधा दोपहरको उसे बिना खाए ही रहना पड़ता। एकाध प्याला चाय मिल जाती तो ग़नीमत था। लौटते-लौटते प्रायः रातके आठ नौ बज जाते।

रातके खाने पर मोतीवाला मित्रोंकी मण्डलीके साथ बैठते थे।

एक नौकर, खाना बनाए या खिलाए। पहले दिन प्रदीपने कठिनाई देखकर खाना खिला दिया। फिर तो नित्यका कर्त्तव्य बन चला कि वह प्लेट लाकर रक्खे, दाल, भात, रोटी तरकारी परसे, पानीके गिलास भरे और नमक, मिर्च इत्यादिकी भिन्न-भिन्न माँगें पूरी करे। प्लेट कम पड़ जाने पर जूठी प्लेट नल परसे धो लाना भी उसका काम था। जी मसोस्कर सब कुछ करता। खाने वालोंके क्षुद्र, संकुचित, टीमटामसे ढके, मैले व्यक्तित्व कामके भारको सहस्र गुणा बढ़ा देते और अन्तमें ग्यारह बजेके लगभग जब वह नौकरके साथ खाने बैठता तो बचा-खुचा भोजन कदाचित् ही पेट भरनेको पर्याप्त होता।

सब ओरसे अवकाश पाकर प्रदीप बाहर निकलता। मैरीन ड्राइव सुनसान हो चुकती थी। किसी-किसी स्थान पर एक-दो प्राणी भले ही बैठे मिल जाते। वह रोज ही दक्षिणकी ओर समुद्रमें दूर तक चले गए रासद्वीपसे पुश्ते पर टहलता-टहलता उस छोर पर जा बैठता। युद्ध का ज़माना था। पुश्तेके दोनों ओर अमेरिकन सिपाही अपनी-अपनी लड़की के साथ बिहार करते मिलते। अन्धेरेमें प्रदीप उनकी सूरतें नहीं देख पाता। पर उनका एक-दूसरेसे चिपटना, छेड़छाड़, चुम्बन, भद्दे मज़ाक, अश्लील उक्तियां—यहाँ तक कि मनचाही, निसंकोच, मैथुन-क्रिया भी, उसकी आँखोंसे छुपी नहीं रह सकती थी। प्रदीपको भयानक एकाकी-पनका अनुभव होता।

कई बार उस पुश्तेके छोर पर बैठे-बैठे ही उसने रात बिता डाली। क्षितिज तक फैला समुद्र अपनी कल-कल ध्वनिसे "आपूर्यमाणमचल प्रतिष्ठम्" का सन्देश उसे जब तक न दे देता, वह उठनेका नाम नहीं

लेता। अन्तस्तलके हठीले विकार सिर पटक-पटककर रो उठते। प्रदीप उन्हें बहलाता, फुसलाता, डांटता, दबाता। आत्मविलोड़नसे उसका अन्तर त्राहि-त्राहि कर उठता, किन्तु प्रदीपने एक दिन भी भाव-विलास की छाती में चुभोया विचारका सीधा; किन्तु अतीव तीक्ष्ण नश्तर वापिस नहीं खींचा। बार-बार उसे लगता कि जीवन निरर्थक है, बेहद भद्दा और क्रूर मज़ाक, किसी हृदयहीन विधाताकी निर्मम क्रीड़ा।• प्रश्न उठता कि जीवनका बोझा क्यों ढोया जाए? क्या इसीलिये कि शास्त्र और कानूनकी दृष्टिसे आत्महत्या करना पाप है, गुरुतर अपराध है? उत्तर अनेक मिलते, तर्क कि डांडामेड़ी। किन्तु प्रदीप हामी भरता एक ही आवाज सुनकर—"सोचना बन्द करो। सोचना ग़लत है। कुढ़ने को सोचना क्यों समझते हो? हाथ-पाँव पटकना तैरना नहीं कहलाता। तनिक विश्राम लो, ढीले छोड़ो हाथ-पाँव। किनारा मिलेगा ही। विश्वासकी प्रेरणा चाहिए, आशा-निराशाकी रस्सा-खिंचाई नहीं।"

४९

वह दिन प्रदीपका बड़ा बुरा बीता था। न सुनने योग्य बातें उसने सुनीं और उसे मूक रहना पड़ा, गर्दन झुकानी पड़ी।

प्रातः पाँच बजे कपड़ा विभागके एक पंजाबी अफसर मि० मेहराको मि० मौतीवालासे मिलने आना था। उन्होंने साढ़े चार बजे प्रदीप को उनकी अगवानी करनेके लिये नीचे भेज दिया। प्रदीपने उन साहब

को एक बार उनके आफिसमें देखा था। सूट-बूट में। सो वह उसी वेश-भूषा वालेकी प्रतीक्षामें मकानके बाहर फुटपाथ पर इधरसे उधर घूमता कविता करने लगा। न जाने कितना समय बीता होगा, नौकरने आकर कहा कि उसे साहब ऊपर बुला रहे हैं और साहबका माथा गरम है।

प्रदीप कमरेमें घुसा तो मोतीवाला हँस रहे थे। मि० मेहरा धोती-कुरता पहने, चादर ओढ़े उनके सामने बैठे थे। उनके अन्तिम शब्द प्रदीपके कानमें पड़े—

"इन्नी बड़ी पदवी पाके वी तुसी मालक दा नाम नईं पुलदे, मोतीवालाजी...।"

प्रदीपको देखते ही साहबकी त्योरियां चढ़ गईं। चिल्लाकर बोले—

"क्यों बे, कहाँ था तू?"

"जी नीचे इनकी राह देख रहा था।"—प्रदीपने मेहराकी ओर संकेत करके धीमे स्वरमें कहा।

"तो ये क्या आसमानसे टपक पड़े?'

"जी मैं सोचता था कि सूट-बूट पहनकर आएँगे। दूसरे वेशमें नहीं पहिचाना। दूध-वालोंके साथ मिलकर ये निकल आए होंगे...."

मोतीवाला उठकर खड़े हो गए और दरवाजेकी ओर हाथ फैला कर चिल्लाए—"बाहर जाओ, बदतमीज़...."

प्रदीप बाहर निकल आया। दूसरे कमरेके छज्जे पर खड़े होकर देखा कि आकाश पर सुबहकी सफेदी फैल रही है। उसका जी चाहा कि

पाँखें लगाकर ऊपर उड़ जाए। असम्भव बात थी। विद्रोहने सलाह दी कि बाहर सड़क पर निकलकर नाककी सीधमें चल दो और चले जाओ, जब तक कि...जब तक कि क्या—बस चले जाओ।

प्रदीपने अपनी कोठरीमें आकर कपड़े पहनने आरम्भ किए। मनमें बैठे कवियेने अवसर पाकर काव्यमय सलाह दी—

"उड़कर इस सूने अम्बरमें,
थक जाओगे चार पहरमें।
कहां मिलेगा डेरा, पंछी,
कहां मिलेगा दाना?
पंछी, पिंजरा छोड़ न जाना।"

× × ×

आफिसमें दस बजे मोतीवाला आ गए। अपने व्यवहार पर पश्चात्ताप-सा हो रहा था शायद। प्रदीपको बुलाकर प्यार भरे स्वरमें बोले—

"देखो नन्हे, अभी एक घण्टे बाद आढ़तीके यहांसे बहुत सारे बीजक आएँगे। लेकर रख लेना। तकरीबन उसी समय इन्श्योरेन्सके साहबका टेलीफोन आएगा। जो रेट वगैरह बताएँ, नोट कर लेना। अब मैं गया। वही एक बजे आऊँगा।"

बीजक आए। पर साहबके फोनने तनिक समस्या पैदा कर दी। उनकी बोली प्रदीपकी समझमें नहीं आई। नम्र स्वरमें उसने प्रार्थना की कि वे यदि अपने किसी भारतीय सहकारीसे बात कहलवा दें, तो बड़ी कृपा होगी। साहब बात मान गए।

मोतीवाला लौटे तो प्रदीपने देखा कि हाव-भाव नित्यप्रति जैसे नहीं हैं। अपने आसपासकी जैसे उन्हें सुध ही नहीं हो। प्रदीप से पूछा—

"क्या खबर है रे ?"

"रेट मैंने पूछ लिये।"—प्रदीप हँसकर कहने लगा—"बड़ा मज़ाक-सा हो गया। साहबकी अङ्गरेजी मेरी समझमें नहीं आई और मैंने···"

"हम साले नाइन्थ फेल हैं, कहो विलायतसे बात कर दें। और तुम एम० ए० पास, दो शब्द अङ्गरेजीके नहीं समझ पाए। तुम्हारी तो बाबूजी किसी मेमसे व्यवस्था करनी पड़ेगी।"—और अचानक स्वर ऊँचा करके चिल्ला उठे—"लाओ, कहाँ हैं बीजक।"

डरते-डरते प्रदीपने वह बण्डल उनके आगे रख दिया। उलट-पलटकर देखते ही उनका चेहरा तमतमा उठा।

"कौन कहता है इन्हें बीजक। क्यों ले लिए तुमने ? लानेवालेके सिरमें नहीं दे मारा।"

"जी, मैंने पहले कभी देखा नहीं था और···

"उल्लूका पट्ठा है बनानेवाला और लेनेवाला। ज़रा मिलाओ टेलीफोन।"

प्रदीप टेलीफोन मिलाने लगा। मोतीवालाके मुंहसे मद्यकी गन्ध आ रही थी। प्रदीप स्थिति समझ गया। दो-चार बार इधर-उधरके नम्बर घुमाकर उसने कह दिया कि लाइन खाली नहीं है।

× × ×

रात्रिमें समुद्र तट पर प्रदीपका मन नहीं लगा। लौटकर वह सुनयना को पत्र लिखने बैठ गया—

"मुनी,

आज, न जाने क्यों, मेरे मानस पर घोर विषादकी रेखाएँ गहरी हो चली हैं। ऐसे समय मेरा सहायक हुआ करता है कोई साथी, जो मेरी दो बात सुन ले। कविता करके भी मनका बोझ हल्का किया करता हूं। पर वह तो ऐसा नशा है कि जितना पीओ उतना ही दर्द बढ़ता जाता है। कविता की, पर शीघ्र ही मैं भावनाके उस स्तर पर पहुँच गया, जहाँ कविता भी श्रम-सा जान पड़ती है, जहाँ जी करता है कि सो जाएँ, मर जायें।

मैंने कब चाहा था चलना,
मैंने कब मांगी थी हलचल ?
अब बैठूँ, अब लेटूँ, सोऊँ,
आशा करता रहता प्रतिपल।
फिर भी मैं अविरल संचालित
प्रेरक है मेरा कौन कहाँ,
किससे कह दूं, जीवन-नायक !
अब दया करो, रोको यह छल ?
आया बन कर अभिशाप मुझे,
तुमने शायद वरदान दिया।

"यह तो जीवनकी थकानकी अन्तिम सीमा है, जहाँ मनुष्य मानने लगता है कि वह जो इतना चला वह इसलिए नहीं कि आशा आगे खींच रही थी, बल्कि इसलिए कि दुःख और भय आगे धकेल रहे थे। यही मेरा

अनुभव है। मैं जो इतना चला सो क्या सुखकी आशा और विश्वास लेकर? नहीं, दुःखसे कांप कर।

"हाँ, तो आज समुद्र तट पर टहलते हुए मैं वेदनाकी उस घाटीमें जा फँसा, जहाँसे निकलनेको जी नहीं चाहता। पर वहाँसे निकलना तो ठहरा। जब कविताने जवाब दे दिया, तो मैंने चाहा कि कोई अन्तरंग मित्र मुझे खींच कर बाहर निकाले। पर यहाँ मेरा कौन है?

"इस अत्यन्त सुन्दर नगरीके सबसे रमणीक भागमें, मैं अकेला हूं। घूमने जाता हूँ। घूमने जाता हू तो देखता हूं कि अनेक सुन्दर, स्वस्थ स्त्री-पुरुष हाथ-में-हाथ डाले, मुँह-से-मुँह मिलाए अपनी कह-सुन रहे हैं। और मैं? मैं कौन? मैं तो इनमेंका नहीं। इन सुन्दर मुखड़ोंमेंसे कौन है जो मेरे लिए एक भाव भी अपने ऊपर अंकित कर ले। घृणा हो, हँसी हो, वह भी वाञ्छनीय है। यह उपेक्षाका गहरा तुषार तो पिघले। पर यहाँ तो मुझसे घृणा करनेवाला भी कोई नहीं। जैसे मैं कोई हूँ ही नहीं, मेरा अस्तित्व ही नहीं हो जैसे!

"और जो अपने हैं, वे कितने दूर! मनके सम्बन्धसे तनका सम्बन्ध मेल नहीं खाता, यही जीवनकी गहन विडम्बना है, यह अन्तर और बाहरका वैषम्य। इसको पार करनेके लिए या तो अन्तरको भावनासे रीता करना पड़ेगा या भावनासे बाह्य जगत्को रंग देना होगा।

"पहला काम करते हैं ये व्यापारी, सरकारी अफसर और अन्यान्य जिनको हम 'सफल लोग' कहते हैं। वे भावनाका गला घोंट कर, तर्कको तिलाञ्जलि देकर, संसारके प्रचलित सांचोंमें ऐसे ढल जाते हैं कि उन्हें कोई मनुष्यके रूपमें पहिचान ही नहीं सकता। ये लोग पागल

होते हैं। ये संसारको जैसा भी है, उसके सारे असौन्दर्य सहित, सारी गन्दगी सहित, प्राणपणसे अपना लेते हैं और अपनी सत्ता, अपना सुख, अपना स्वार्थ स्थापित करनेके लिए कोर-कसर नहीं उठा रखते। ये अथक पुरुषार्थी हैं, ये रुकना नहीं जानते, इनके अरमानोंकी सीमा नहीं, इनके परिश्रमका अन्त नहीं। बस, आगे, और आगे, यहाँ तक कि इस बढ़ने-बढ़नेमें स्वयं बढ़नेवाला नष्ट होकर मिट जाता है।

"और दूसरे लोग हैं वे जो संसारसे असन्तुष्ट, सपनोंमें भूले, आदर्शके उपासक, निरन्तर बाहरके भयङ्कर सत्यसे मुख मोड़कर अपने भीतर सौंदर्यका संसार बसा लेते हैं और धीरे-धीरे उसी मायामय आवरणसे संसारकी सारी कटुता, सारी क्रूरताको ढक कर भूल जाते हैं कि जीवन कविता नहीं, चित्रकारी नहीं, संगीत भी नहीं। जीवन—जीवन है। उसकी क्रूरताको यों भुलाया नहीं जाता। भूल कर ठगाया जाता है। पर ये कलाकार और दार्शनिक लोग अन्तरके वैभवको बाह्य जगतमें साकार देखना चाहते हैं। इनका अपना स्वार्थ नहीं, अपना हित नहीं। है तो केवल एक साधना, एक अनमिट चाह, सत्यं, शिवं, सुन्दरंके लिए। ये लोग भी पागल हैं, पर दूसरे ढंगके। ये ठगते नहीं, ठगाए जाते हैं। मारते नहीं, मरते हैं।

"इन दोनोंके ऊपर है वह शान्त, स्वस्थ, धीर मानव जो सब कुछ ज़ानता है, जो न अपनेको बहकाता है न औरोंको, जिसे सपने चाहिएँ न सपाटा, जिसकी सहन-शक्तिका कोई लेखा नहीं, जिसके आत्म-विश्वासकी कोई थाह नहीं। 'वज्रादपि कठोराणि कोमलानि कुसुमादपि

"पर ये पागल और धीर मानव हैं कितनेसे ? अधिकांशमें तो मानवताके मरने, भड़कने अथवा पनपनेकी बात तो दूर रही, मानवताका उदय ही नहीं होता। सुखी केवल यही लोग हैं। दोनों प्रकारके पागल सदा संतप्त, संत्रस्त रहते हैं। और वह धीर, हाँ री, वह तो दुःख-सुखके परे हैं।

"मुझ जैसोंमें मानवता उभरती है, पर मर नहीं पाती, कराह उठती है, विक्षिप्त नहीं हो सकती। दुःखसे कायर, सुखका लोभी, पर एकसे बचनेमें और दूसरेको पानेमें असमर्थ......

"न जाने यह सब क्यों तुम्हें लिख रहा हूं ? क्या अधिकार है मेरा तुम पर ?

"मन पूछता है कि भावनाके राज्यमें एक पक्षीय हो ना क्या अकृतकार्य है ? प्रत्युत्तर ही क्यों फलीभूत होनेका प्रतीक माना जाए ? भावना तो अपने-आपमें सत्य है। अन्यथा Notre Dame का Hunch-back कवि की अमर कृति बन कर न रह जाता। सत्य और सन्तोष दो पृथक् बातें हैं। दोनोंके बीचकी खाई तो किसी विरलेके जीवनमें पटती है। हो सकता है कि वह भाग्यशाली मानव अनुभवके क्षेत्रमें कच्चा रह जाए। किन्तु आज तो सुखके क्षुद्र-से-क्षुद्र स्पन्दनके लिए मैं अनुभवकी अखिल बाहुल्यता त्यागने बैठा हूं। मेरा बस नहीं, सो दूसरी बात है।

"तुम्हें देर-सबेरसे बिदा करना होगा यह मैं जानता हूं। हो सकता है कि समय और स्थान-विभेदकी प्राचीरोंको और भी उत्तुंग कर डालें। किन्तु किसी दिन भी उनके पार झांक नहीं पाऊँगा, ऐसी आशा, या भय कहो, कम है ?

"कुलदुहिता हो, कुलवधू बनना तुम्हारा समाज-सम्मत संस्कार और अधिकार है। रूढ़ि और अन्धविश्वासोंसे घिरे समाजमें तुम्हारा पथ बाधाओं और नासमझियोंसे कण्टकित न हो, यह मेरी मंगल-कामना रहेगी। पुरुषमें जो कुछ उच्च, स्वच्छ और पावन है, वही तुम्हारे नारीत्वको धन्य करता रहे। उसकी पशुता, आत्मपूजा और उन्मत्त वासनाका शिकार तुम्हें न बनना पड़े। कोई भी पुरुष तुम्हें पाकर नारीकी समूची दया-माया, समूची कोमलता, समग्र प्रणय-विभूति और अखिल मातृत्वका परिचय पा लेगा। यह मेरा विश्वास है। भगवान तुम्हें सामर्थ्य दे।

"भगवान का नाम पढ़ कर शायद तुम्हें आश्चर्य हो। पर मैं तो आस्तिक होता जा रहा हूं, सुनी। यह मेरे अन्तरतमकी मांग है। भले ही इसे कोई मेरी हार समझे। बुद्धि-पथसे विद्रोह कर उठा हूं। अभिमानी नहीं रहा मैं!

बोलो तो!

तुम्हारा ही—

प्रदीप"

चार दिन पश्चात् सुनयनाका उत्तर मिला—

"भैया मेरे,

"सम्बोधन अमान्य हो तो भी वहीं न रुक जाइएगा। पत्रमें कामकी बातें लिखी हैं।

"आपका पत्र मिला, पर दर्दसे ओत-प्रोत। नन्दन-काननकी शोभा भी आपको न रिझा पाई। एक साथीके अभावमें दर्द और और भी बढ़ गया है।'

"किन्तु और राह भी किधर है, भैया ? कुछ दिन पश्चात् जब आप वहाँ स्थिर हो जाएँगे तो भाभी आकर आपका दुःख बंटा लेगी। क्योंकि यह मत सोचिए कि आप स्थिर नहीं हैं, इसीलिए दुःखित हैं। नहीं, वेदनाकी जड़ें वातावरणमें खोजना मृग-मरीचिकाका भ्रम है। हाँ, तो आप अपनी आर्थिक स्थिति सुधार डालिए, शीघ्रातिशीघ्र।

"आप कहते हैं कि उर्मि भाभी आपको समझ नहीं सकती। पर मैं नहीं मानूँगी यह ओछी बात। मन, बुद्धिवादी तर्क-वितर्क और आलो-चनाएँ न समझ पाए। मनकी भाषा तो मन समझ ही लेता है। आवश्यकता है थोड़ी गम्भीरता आनेकी, थोड़ी सहिष्णुता की। एक दिन आप मेरी बात मानेंगे, अनुभवके द्वारसे। और आज ही मनवानेकी उतावली मुझे भी नहीं है।

"संसारको दोष दे रहे हैं आप! आपकी आत्मा समाजके विरुद्ध क्रन्दन कर रही है। इसीलिए कि आपको मनचाहा प्यार, प्रशंसा और भक्ति नहीं मिली। झूठा अभिमान है, भैया। संसार और समाजको भावनाओंके अभावमें दोष क्योंकर देते हैं आप। देहका, धनका तथा अन्य पार्थिव पदार्थोंका अभाव संसार समझ सकता है और सम्भवतः पूरा भी कर सकता है। किन्तु मनके अभावोंके लिए संसारसे विद्रोह करना, समझमें नहीं आता। और फिर जो अभाव आपने स्वयं उत्पन्न किया, जो पीड़ा आत्मजन्य है, उसका समाज और संसार करें भी क्या ? वह तो स्वेच्छासे ही दूर की जा सकती है। अपनी पीड़ाओंको समझना और दूर करना अपने ही हाथमें तो है ना, भैया।

"आप यह क्यों समझ बैठे हैं कि संसारमें किसीको भी आपसे सहानुभूति नहीं है। हाँ, उसे दिखा पानेकी बात अलग है। शायद आप यह भूल गए हैं कि मनकी सभी बातें ऊपर नहीं आया करतीं और किसी हद तक उनका ऊपर न आना ही उचित भी है। किन्तु व्यक्ति अपने दर्द पर अपने आप भी तो विजय पा लेता है। फिर आप भी वही क्यों नहीं करते? आप भी क्या संसारको उलाहना देनेवाले, दर्दसे पराजित और अपने जीवनसे असन्तुष्ट, उन असंख्य जनोंमेंसे एक बने रहेंगे? ज्ञान और कल्पनाकी इतनी बड़ी राशि भी क्या आपको दर्दसे ऊपरकी अनुभूति नहीं दे सकेगी?

"शायद 'शेखर' आपको याद होगा। उसमें एक स्थल पर बाबा मदनसिंहने कहा था—'दर्दसे बड़ा एक अभिमान होता है और अभिमानसे बड़ा एक विश्वास' फिर आप वह विश्वास पानेकी चेष्टा क्यों नहीं करते? आप कहेंगे विश्वास किसका? उत्तर होगा, आत्मविश्वास। अन्यका भी विश्वास किया जा सकता है। किन्तु किसीको विश्वास योग्य बनाना भी तो अपना ही काम है ना, भैया।

"छोड़िए समाज और संसारकी बात। वह तो सदा हँसनेवालोंका ही साथ देता है। यहाँ हारनेवालोंके लिए कोई स्थान नहीं। यहाँ रहनेके लिए आत्म-विश्वास और शक्तिकी आवश्यकता है। शक्तिहीन मनुष्य पर यहाँ ढेले पड़ते हैं। तो फिर मनकी ऐसी हारी वृत्तिको लेकर चला ही क्यों जाए?

"पर जाने दीजिए यह सब बात। सुनकर दुःख ही होता है। आपके आँसू पोंछनेवाला कोई भी तो आपके पास नहीं, चाहे हजार कोस दूर

किसीको आपसे संवेदना है, आपकी पीड़ा समझने और महसूस करनेकी क्षमता है, और आपकी कसकके लिए आँसू हैं।

"भैया, जिन बातोंका उत्तर मेरे पास नहीं उनका उत्तर आपने माँगा है। बताइए उत्तर क्या देती? मनमें आया सो लिख दिया। आपका पत्र पढ़ कर मनमें जो विह्वल स्पन्दन जागे, उन्हींकी प्रतिक्रिया मात्र हैं मेरी ये बस्तें। आपने क्या कहा, वह समझनेकी तो बुद्धि आज भी मुझमें नहीं है।

"दूर बैठी यही तो कामना कर सकती हूँ कि आप स्वस्थ, सुन्दर हों, प्रसन्न और उन्नत हों। शायद यह उत्कर्ष ही आपकी इस पीड़ाको हर सकेगा।

"शुभाकांक्षाओंके लिए अनेक धन्यवाद। ठीक समय पर मिले हैं आपके आशीर्वाद। इस मासके अन्त तक आपकी सुनी, मिसेज वासुदेव हो जाएगी।"

——————"

पत्र प्रदीपके हाथसे गिर पड़ा। वह सन्न रह गया, ये अन्तिम लाइनें पढ़ कर। बरबस उसके मुखसे निकल पड़ा—"यह क्या किया, सुनयना, तुमने!"

पत्रके एक कोनेमें लिखा था—"उत्तर देना न भूलिए।"—घण्टों वह वहीं बैठा उन शब्दोंको घूरता रहा। निष्प्रभ नेत्रोंसे अनवरत टपकते आँसू न उसने पोंछे, न छुपाए। भावोंकी वेला थी। मर्यादाके बन्धन टूट गए, अपने-आप, बांधनेवालेको टूटा देख कर।

———

५०

जनवरीके अन्तमें मि० मोतीवाला मैरीन ड्राइववाला फ्लैट छोड़कर मालाबार हिल पर जा ठहरे। प्रदीपको उन्होंने साथ नहीं लिया। उसके ठहरनेका बन्दोबस्त एक मारवाड़ी आढ़तीकी गद्दीमें कर दिया गया। वहाँके मालिकने सजातीय होनेके नाते उसे छातीसे लगा लिया। उनकी अप्रत्याशित ममता पाकर प्रदीप हरा हो उठता। किन्तु सुनयनाने जो उसके अन्तस्तलको श्मशान बना डाला था, उसके क्षत-विक्षत प्राणोंको कौन सहलाता?

अब प्रदीपका काममें जी नहीं लगता था। यन्त्रवत ही सब-कुछ किया करता। मोतीवालाका कहना-सुनना सब निरर्थक हो चला। प्रदीपकी अन्यमनस्कताके कवचको भेद देना मोतीवाला-जैसोंकी सामर्थ्य नहीं थी। गद्दीपर कितने ही लोग उससे बातें चलाते, वह हाँ-हूँ कर देता। किसीके कहने-सुननेमें उसे दिलचस्पी नहीं थी। एकान्त मिलते ही वह सुनयनाका पत्र निकालकर वह अन्तिम अनुरोध पढ़ता—"उत्तर देना न भूलिए।" पत्थरका दिल पाया था लड़कीने। प्रदीप लेखनी उठाकर दो शब्द लिख भेजनेका धीरज न बटोर पाया बार-बार वह बड़बड़ाता "यह क्या किया, सुनयना, तुमने?"—संयत भावसे सोचनेकी क्षमता ही उसकी जाती रही।

मोतीवाला देहली जाकर लौटे, तो चाचा और कई यार-दोस्त साथ थे। बम्बईकी 'लाइफ' देखने आए थे। उनके लिए अनेक प्रबन्ध

करनेमें प्रदीपको काफी दौड़-धूप करनी पड़ी। अतीव गतिमान शरीरके भीतर मृतप्राय प्राण लेकर उसने सब-कुछ किया। आँखें सूखी थीं, होठोंपर मुस्कान। आज तक वह अपनी व्यथाको निवेदित करता आया था। पर आज यदि वे घाव मुखरित होनेका प्रयास करते, तो वह होंठ काट लेता।

लखनऊसे एक सज्जन एक तीस-बत्तीस सालकी अत्यन्त स्वस्थ और रूपवती स्त्रीको लेकर मैजेस्टिक होटलमें टिके थे। मि० मोतीवाला की उनसे दोस्ती थी। वे अपने-आपको मि० और मिसेज त्रिपाठी बतलाते थे, किन्तु मोतीवालाके नौकरने प्रदीपको समझाया था कि वह स्त्री मोतीवालाकी चिरपरिचित, लखनऊ निवासिनी एक प्रसिद्ध वारांगनाकी छोटी बहिन है और मि० त्रिपाठीके साथ रहती है, विवाहके फेरमें पड़े बिना। उन लोगोंकी देख-रेख, पूछ-ताछ करने मोतीवालाने प्रदीपको भेजा था। मि० त्रिपाठीने सौजन्यतापूर्ण अलगाव दिखाया, किन्तु मिसेजने इतने प्यारसे प्रदीपको अपनाया कि वह आध घण्टेके भीतर ही उन्हें जीजी कह कर पुकारने लगा। पास बैठा कर उन्होंने प्रदीपसे उसके अपने विषयमें अनेक बातें पूछीं, अपने हाथसे बनाकर उसे चाय पिलाई, टिफिनदानमेंसे निकाल कर आगरेका पेठा और दाल-भीजी खिलाए। प्रदीपका जी चाहा कि जीजीके आँचलमें मुँह छिपाकर खूब रोए और वे उसका सिर सहलाती रहें। उस नारीका अविच्छिन्न, अभेद्य गाम्भीर्य गवाही देता था कि उसने अनेक दुःख, संताप, लाञ्छनाका भार अपने मानसमें संजो रक्खा है, मुँह खोलकर कभी किसीसे कुछ कहा नहीं। प्रदीपका जी चाहा कि उनकी जीवन-कहानी पूछे। अनूठी गाथा होगी,

विषपान करके अमृत उगलने वाली की। पर कौतूहल मुखरित न हो पाया।

सन्ध्या समय जीजीके कमरेमें जशन होने वाला था और चाचा थे प्रमुख अभ्यागत। मांस और मदिराका आयोजन था। साजिन्दे आये थे, जीजी नाचें गाएँगी। प्रदीपको ही सब प्रबन्ध करना ठहरा। घण्टों वह कारमें इतस्ततः दौड़ता रहा, सामान लाया, निमन्त्रण पहुँचाएँ। मनमें एक भयानक टीस थी। जीजी नाचें गाएँगी, इन तुच्छ मानवकुल-कलंकोंके आगे, इनका मनोरंजन करनेके लिए! जीजी डूब क्यों नहीं मरतीं, विष क्यों नहीं खा लेतीं? रह-रह कर उसे चाचा और मोतीवालाका स्मरण हो आता। वे भारी भरकम मांसके ढेर, बहुमूल्य सूट पहने, रेशमी टाइयाँ लगाए, पान खा कर, सिगरेट फूँकते हुए, भोग-लिप्साके अचूक वाहन—वे शराब पी कर बीभत्स हँसी हसेंगे, गन्दे इंगित करेंगे, जीजीके शरीरको अपने स्पर्शसे कलुषित करेंगे। और जीजी—वे क्या पत्थरकी हैं, जो इन सबकी अवहेलना करके, होंठों पर अनवरत मुसकान लिए, उमड़ते आँसुओंको पलकोंमें समेटे, शतशत स्वरोंमें मुखरित होती रहेंगी, जड़वाद्योंकी स्वरताल पर अंग-प्रत्यंगसे अपरिमेय माधुर्यका स्वप्नलोक बसा देंगी! ऐसा क्या हो सकता है? ऐसा कभी होना चाहिए?

पर प्रदीप चाहे न समझ पाया हो, जशन तो जमा ही। निशाका पदार्पण होते-होते ही, निशाचर आ डटे। जवान और बूढ़े सभी थे—कुल मिला कर दस-बारह पुरुष। चाचाकी आयु ही सबसे अधिक थी और वेशभूषा देखनेसे नवयुवा बननेका प्रयास भी उनका ही अतुल्य

था। सोफों पर सब लोग बैठे, सामने छोटी मेजों पर बोतलें और खाने-पीनेका सामान बैरोंने सजाया। थोड़ी देरमें सबकी तबियत रंगीन होने लगी। त्रिपाठीसे बार-बार पूछा जाने लगा कि मसनद खाली क्यों है, सारंगी क्यों एकाकी गुनगुना रही है। चाचा और मोतीवालामें कानाफूसी हुई और उनका दिया हुआ नोटोंका एक बण्डल जेबमें डालकर त्रिपाठी बराबरके छोटे कमरेमें चले गए। प्रदीप कमरेके एक कोनेमें जड़वत् खड़ा सब-कुछ देख-सुन रहा था।

जीजी आईं। वह अनुपम छबि देखकर प्रदीप आपा खो बैठा। अजन्ताका अनुपम नारी-चित्र सजीव हो उठा था। प्राचीन भारतीय ढंगसे लांग लगाकर उन्होंने गहरे लाल सिल्ककी साड़ी पहनी थी। कटि पर शुभ्र वस्त्रका फेंटा समात न हो पाकर आगे लटक रहा था। उत्तरीय था एक लाल रंगकी चोली, जो पेट और वक्षस्थलके बीच मांसल स्तन-मण्डलको सम्भालनेमें खुली पड़ती थी। सुरचित जूड़ेमें पुष्पमाला; सीमन्तमें स्वर्णमय, मणिमण्डित चूड़ामणि; लम्बी, सुगठित ग्रीवामें शुभ्र मुक्ताहार; कानोंमें जगमगाते कर्णफूल, कलाइयोंपर कुसुम-कंकण, अँगुलियों में विभिन्न अँगुरीय, पाँवमें महावर, मुखमें ताम्बूल—सहसा प्रदीपको विश्वास नहीं हुआ कि वह स्वप्न था या सत्य। आधुनिक युगके अंग्रेजी होटलमें यह दृश्य सर्वथा अप्रत्याशित ही था।

नाट्य-मुद्रासे लजाती-सकुचाती जीजी आगे बढ़ीं, पाँवमें बंधे किंकणों का स्वर भ्रान्त न होने देकर। एक बार मसनद पर घुटनोंके बल बैठ, मस्तक झुका, हाथ जोड़—मानो उन्होंने अपने इष्टदेवको प्रणाम किया।

वाद्य मुखरित हो चले थे। वे मसनदसे उतर आईं—और उसके पश्चात् प्रदीपने देखा कि उसकी कविता साकार हो उठी—

"इन्द्रधनु-सी वेश-भूषामें थिरक विद्यु त्-शिखा-सी।"

वह देख ही नहीं पाया कि उधर वह मद्यपोंका समाज झूम-झूमकर एक-दूसरेके गलेमें हाथ डाल रहा था, हाय-हाय पुकार रहा था और चारों अँगुलियाँ ओठोंसे सटा अनवरत चुम्बन जीजीकी ओर फेंक रहा था।

सहसा नर्तन रुका। वे पागल भी शान्त हो गए। जीजी मसनद पर बैठ, शरीर शैथिल्यसे वातावरणको बोझिल बनाकर कूक उठी थीं—

"मैं पियाके पथ पर बिछ जाऊँ।"

प्रदीपने आँखें पोंछनेका व्यर्थ प्रयास नहीं किया।

गायन भी रुका। जीजी सिर झुकाए तल्लीन-सी बैठी रह गईं। कमरेमें सन्नाटा था। चाचा उठकर जीजीके निकट पहुँचे। झुककर उन्होंने जीजीका मुख ऊपर उठाया और पानमें सने, बनावटी दाँत निकालकर बोले—

"आजकी रात हमारे साथ बीतेगी, मेरी मलिका!"

जीजी कुछ बोली नहीं, केवल मुस्करा दी। उस भंगिमामें हाँ नहीं थी, ना भी नहीं। हाँ-ना का जैसे कोई अर्थ ही न रह गया हो। प्रदीप आपाद मस्तक सिहर उठा।

मोतीवालाने चाचाके शब्द सुनकर इधर-उधर देखा और प्रदीप पर आँखें पड़ते ही तमतमा उठे। चिल्लाकर बोले—

"तू यहाँ क्यों खड़ा है, बे !"

प्रदीप सकपका गया। इसके पहले कि वह कुछ कहता, मोतीवाला ने आदेश दे डाला—

"चल, भाग यहाँसे ! सुबह आफिस क्या तेरा बाप सँभालेगा ? देखता नहीं, घड़ीमें क्या बजा है।"

प्रदीपने न घड़ी देखी, न मोतीवालाकी अन्तिम बातपर ध्यान दिया। वह कमरा पारकर लौटती हुई जीजीके पीछे उनकी कोठरी तक जा पहुँचा। रास्ता रोका त्रिपाठीने। कहने लगे—

"किधर जा रहे हैं, आप ?"

"आप मेरा रास्ता छोड़ दीजिए।"—प्रदीप दृढ़ स्वरमें बोला।

"लेकिन दरवाजा उधर है, जनाब !"—त्रिपाठीने सामनेकी ओर हाथ बढ़ाकर शान्त स्वरमें कहा।

"मैं कहता हूँ, आप हट जाइए।"—प्रदीप उनकी टाई पकड़कर चीत्कार कर उठा।

साथ ही उसके मुँहपर किसी बलिष्ठ हाथ का तमाचा पड़ा। मोतीवाला कह रहे थे—

"नमकहराम, साला, जाता है कि नहीं। दफा हो यहाँसे। फिर दिखाई दिया, तो गोली मार दूँगा।"

दस मिनट बाद प्रदीप अपने आहत शरीरको होटलके बाहर फुटपाथपरसे उठाकर सड़कपर जा रहा था।

मनपर अनूठी शान्तिका साम्राज्य था। विचारने एक-दो बार अगड़ाई लेकर पाँखें फैलाना चाहा; किन्तु प्रेरणा नहीं मिली। मनके पंगु होते ही जीवन एक सजल, सरल, सहज गतिसे अभिभूत-सा हो चला। अभूतपूर्व अनुभव था, सर्वथा अप्रत्याशित भी। कहाँ तो अन्याय, अविचार और अवहेलनाके सूक्ष्मतम इंगितमात्रसे भूकम्पित हो उठनेवाला प्रदीपका चंचल मानस और कहाँ यह नीरव, निर्विघ्न, निराशी, निर्मम आत्म-प्रतिष्ठाकी निःसंकोच भावना! प्रदीप अपने-आप पर स्तम्भित हो उठा।

रात्रिके प्रायः दो बजे थे, जब वह अनायास ही मैरीन ड्राइवपर जा पहुँचा। वहाँ कोई नहीं था, उस पुश्तेपर भी। कोई होता, तो भी अन्तर नहीं पड़ता। आज तो प्रदीप वातावरण और परिस्थितियोंका असहाय खिलौना नहीं था, आज वह अपना वातावरण लेकर चल रहा था। इधर-उधरसे गुजरनेवाली एकाध मोटरकी चिल्ल-पों भी उसी निस्सीम सामञ्जस्यमें डूबकर आत्मसात हो गई। एकाकी मानवका सार्वभौम अभिमान जागा था, सब-कुछ लील जानेकी क्षमता लेकर। प्रदीपको निगलनेके लिए आज कौन आगे आता—उसके मानसमें किच-मिचानेवाले संस्कार, तर्क-वितर्क, भाव, विचार, राग-द्वेष अथवा बाह्य-जगत्के पार्थिव और अपार्थिव सीमान्तदूत? कोई तो नहीं। और कुछ था ही कहाँ?

पुश्तेके सिरेपर वह अपनी चट्टानपर जा बैठा। जूते खोलकर पाँव पानीमें लटका दिए। आज समुद्रकी सत्ता उसे अपनेसे भिन्न नहीं लग रही थी। नौ सौ निनानबे नदी-नालोंका खारा, गदला, स्वच्छ,

शीत, उष्ण, शान्त, चंचल, मौन, मुखरित जल अपने वक्षस्थलमें संजोकर एक रस, एक रूप, एकनिष्ठ रहनेवाला महासागर, युग-युगसे अपने कूल पर भूलते-भटकते; दुःख-सुखके अनुभवोंसे भिनभिनाते मानवका पथ-प्रदर्शन करनेमें असफल रहकर वैरागी-सा हो उठा था। आज एक मानव-सन्तानने उसे आत्मीयताका परिचय दिया और उन युग-चरणोंको बारम्बार स्पर्श करके जलधि मानो अपना भाग्य सराह रहा था।

प्रदीपकी अपनी जीवन-पुस्तिका अपना एक-एक पन्ना उसकी अन्तर्दृष्टि के सम्मुख पसारकर, नूतन-पुरातन स्वरवल्लिमें क्रन्दन कर उठी। उस पदस्खलित, पथ-भ्रष्ट, घुमक्कड़को विचार, भावना और व्यवहारकी आदि-विनिर्मित सड़कपर लौटानेके लिए ममता, माया, उत्तेजना, उत्साह, प्यार, घृणा—सबका बाजार जगमगा उठा। पर वह जानेवाला तो पीठ मोड़कर चल पड़ा था। स्मृतिकी नृत्तिकाएँ आँचल हिला-हिलाकर रह गईं। उसने आँख भरकर पीछे निहारा तक नहीं।

× × ×

पाँच वर्षका प्रदीप माँकी गोदीमें सिर छुपाए सिसक रहा था। मनोहरने स्कूलमें किसी बातको लेकर उसे बुरी तरह मारा था। माँकी आँखोंमें आँसू थे। उसका सिर सहला-सहलाकर भर्राई आवाजमें कह रही थी—

"रो मत, मेरे लाल! तेरे बापू घर नहीं हैं। उलाहना लेकर मैं कैसे जाऊँ? कौन सुनेगा?"

गंवई-गाँव में प्राप्त सजधजमें लिपटा प्रदीप दीवारके सहारे अनमना बैठा था। वचन देकर भी बाबा उसे बारातमें नहीं ले गए। और मनोहरकी बारी न होने पर भी वह हठ करके चला गया, उसे अँगूठा दिखाकर। वे कपड़े न प्रदीपसे उतारे जाते थे, न रक्खे जाते थे। उसका जी चाहता था कि कहीं जाकर छुप जाए। कैसे किसीको मुंह दिखाए भला? माँके अतिरिक्त किसीने भी तो उसका मान नहीं रक्खा और माँके मानका मूल्य ही कितना था?

× × ×

महीने भरका रोग-ग्रस्त प्रदीप खटिया पर लेटा था। उसकी जाँघमें न जाने क्या निकल आया था? गाँवकी चिकित्सायें—लेप, पुलटस—बेकार गए। सब कह रहे थे कि शहरके हस्पतालमें ले जाकर आपरेशन करा डालो।

माँ अपनी नथ लेकर घरसे निकलीं और आध घण्टे पश्चात् पचास रुपये आँचलमें बाँध आईं।

प्रदीपकी आँखोंसे टपाटप आँसू गिर रहे थे।

× × ×

अँग्रेजी पढ़नेके लिये दिल्ली जानेको आतुर, प्रदीप जीजीके आनेकी बाट जोह रहा था। आँखोंमें सपनोंकी झड़ी लग रही थी।

जीजी आयीं। उसकी वेश-भूषा, बोलचाल, भावभंगिमा, कुछ भी तो पसन्द नहीं आया उन्हें। बात-बातमें वह शहरके लड़कोंकी प्रशसा करने बैठ जाती थीं। एक दिन वे हठ कर बैठीं कि प्रदीपको अँगरेजी

हजामत बनवानी चाहिए। 'प्रदीपने विरोध किया। जीजीने धमकी दी कि हठ करके तो वह दिल्ली नहीं जा सकता। और चुपचाप, अभिमान खोकर, प्रदीपने नाईके सामने गर्दन झुका दी थी।

× × ×

झज्जेपर बैठा प्रदीप नीचे उस अजीब खौंचे वालेको देख रहा था। बालक आते, नम्बरों वाली उस घड़ी पर सूँई घुमाते और मीठी गोलियाँ लेकर चले जाते। वह भी जीजीके पास दो पैसे मांगने गया। उन्होंने इन्कार कर दिया। उस दिनके दो पैसे वह ले चुका था। उससे अधिक उसका अधिकार नहीं था। वह फिर छज्जे पर जा बैठा। एक बालक को उसने प्रायः तीन आने खर्च करते देखा और उसकी आँखोंसे आँसू गिर पड़े थे।

× × ×

गांधी आश्रममें प्रातःकाल हवन करके बहुतोंने जनेऊ पहने थे। प्रदीप भी उपस्थित था। उसने भी बड़े चावसे जनेऊ पहना। उसके उपरान्त सहभोजमें हरिजनोंके हाथका बनाया और परसा भोजन खाया।

किन्तु सन्ध्या समय, उसी दिन, बाबाके पूछने पर कि गलेमें जनेऊ कैसा है, जब उसने बड़े उत्साहसे सब कह सुनाया, तो बाबाने झटककर उसका जनेऊ तोड़ डाला, उसके बाल नोच लिये। और उसे बीभत्स गालियाँ दीं थीं।

× × ×

मनोहरका विवाह हो चुका था। उसकी दुलहिन गाँवमें थी। मनोहर कहीं बाहर नौकरी पर लगा होगा। प्रदीपकी गर्मीकी छुट्टियाँ

थीं। भाभी कई बार उसके घर आईं, घूँघट निकाल कर, छमछम करती। उसे बहुत प्रिय लगी, किन्तु लाजके कारण वह उससे बोल नहीं पाया।

एक दिन मनोहरके घरके चबूतरे पर बैठा था वह। रात काफी हो चुकी थी। वह घर जानेके लिए नहीं उठा। मनमें एक तीव्र अभिलाषा थी। रक्तमें आग। आपा खोया था उसने।

भाभी किवाड़ बन्द करने आई। मुँह पर घूघट था, हाथमें मिट्टीका दीपक। वही नूतन परिधान। उसके उभरे उरोजों पर प्रदीप की आँखें अटक गईं। जी चाहता था कि उठ कर उन्हें गुदगुदा दे। फिर भाभी सब समझ जाएँगी। किन्तु धरतीने उसे नहीं छोड़ा। पसीना आ रहा था। भाभी उसे देख कर पहिले तो सकुचाई, फिर पहिचान कर बोली, कोयल-सी—

"क्यों बैठे हो, देवर?"

"ऐसे ही। जी नहीं लग रहा था।"—प्रदीप दबी, आहत आवाजमें कह गया।

"जी कैसे लगे। अकेले हैं आप।"—और भाभीने किवाड़ बन्द कर लिए थे।

× × ×

कालिजमें प्रवेश कर चुका था प्रदीप। रहता था स्कूलकी कोठरीमें। एक दिन स्कूलके चौकमें गलीके कायस्थोंकी ओरसे संगीत-समारोह हुआ। रातके दस बजे तक प्रदीप बैठा भिन्न-भिन्न कला-विशारदोंके चमत्कार

देखता-सुनता रहा। और सबसे अन्तमें आई मृणाल—काले ऊनी कोटमें मानो स्वर्ण दमक रहा था। वैसी सुन्दर नवयौवना उसने पहिले नहीं देखी थी। उसके कानोंमें सोनेके बड़े-बड़े फूल थे, जूड़ेमें पुष्पहार। मुख अवनत करके उसने हलके-से खाँसा और साथ ही अनेक वाद्य बज उठे। उसका गाना सुनकर प्रदीप वहांसे उठ गया। व्यथासे मानस आकुल हो उठा था।

उसी रात स्वप्नमें उसने देखा कि एक पर्वतीय-प्रदेशमें एक शिला पर मृणाल बैठी है और वह स्वयं उसके पावोंके पास शिलासे पीठ लगाए, स्थिर-भावसे, अखण्ड ज्योत्स्नामें सद्यस्नात, उपत्यकाको निहार रहा है। सहसा मृणाल गुनगुना उठी, स्वरमें अपरिमेय करुणा भरी थी।

प्रदीपकी आँखें खुल गईं थीं।

× × ×

कालिजमें बने एक नए मित्रके साथ, उसकी साइकिल पर पीछे बैठ कर, वह युनिवर्सिटीसे लौट रहा था। सहसा मित्रने चीत्कार किया और प्रदीपने जब आँखें खोली तो वह ध्वस्त पहिएमें पड़ा था, सिरमें भयानक पीड़ा लिए। पत्थरने आध इंच गहरा घाव किया था।

किसीने मोटरमें बैठा कर उन्हें मित्रकी कोठी तक पहुँचाया। मोटर से उतर कर उसने देखा कि मित्रकी आकृतिसे सामञ्जस्य रखती हुई एक युवा स्त्री कोठीकी सीढ़ियों पर खड़ी है। वैसी ही सुन्दर, वैसे ही बहु-मूल्य कपड़े पहिने। प्रदीप ममता पानेकी आशा लगा बैठा।

किन्तु उस रमणीने उसकी ओर एक आँख देख कर, मुँह विकृत कर, उसके मित्रसे कहा—

"क्यों रे, तू किसके साथ आवारा फिरा करता है ?"

प्रदीप लड़खड़ा गया। उसने अपनी वेष-भूषा देखी। खद्दरका आधी बाहोंवाला कमीज रक्तमें भीगा था। नीकर तनिक ओछी थी। पाँवमें मोजे पहने बिना ही, पुराने, पालिश-विहीन जूते थे।

× × ×

आधी रात हो चुकी थी। प्रदीप शरत् बाबूका "पथके दावेदार" पढ़ रहा था। सव्यसाचीने भारतीको अपनी जीवन-कहानी सुनाते समय, डाकुओं द्वारा मारे गये अपने भाईके अन्तिम शब्द दोहराए :—

"जिन्होंने राज्य करनेके लोभसे समस्त देशमें मनुष्य कहलाने योग्य एक भी व्यक्ति नहीं रहने दिया, उनको तुम जीवनमें कभी क्षमा मत करना।"

फिर अपनी विप्लववादी धारणाओंके विरुद्ध भारतीका अहिंसात्मक मन्तब्य सुन कर उन्होंने कहा :—

"वे लोग तुमको निरपराध होने पर भी गोली मार सकते हैं, और तुम उनको अपराधी पाकर भी कुछ नहीं कह सकती—नीतिकी यह ओछी धारणा तुम्हें सिखाई किसने, भारती! मनुष्यका रास्ता मनुष्य लड़े बिना नहीं छोड़ता। मानवको रक्तकी नदियाँ बहानी ही पड़ेंगी। अन्यथा यह पहाड़-सा पाप धुलेगा क्योंकर ?"

सव्यसाचीके तर्कने गांधीजीके प्रति प्रदीपकी अनन्य श्रद्धाको हिला दिया था। वह नए सिरेसे सोचना चाहता था।

× × ×

और एक दिन जब कि मार्क्सवाद भी उसे वेदनाका किनारा नहीं सुझा सका, तो उसने गाया था :—

दुःख-सुखक सपने हैं री, दोनोंको ही आने दे।

मानसकी चित्रपटी पर, जीवनका चपल चितेरा,
अंकित करता रहता है, उजियाला और अंधेरा,
यह आत्मपूर्ति है उसकी, यह आत्मनिवेदन उसका,
वह जैसे रंग भरता है, वैसे ही भर जाने दे।

अनुभवके दुर्बह झोंके, मानसके तार हिलाते,
अविरल गतिसे ये स्पन्दन उठ-उठ कर फिर खो जाते,
जीवनका नवसिख गायक, साधा करता यह वीणा,
वह जिस स्वरमें गाता है, उस स्वरमें ही गाने दे।

दुख-सुख दोनोंकी स्मृतियाँ, मानस-निधिमें चिर-संचित,
नयनोंमें बसनेवाले, सपने उनसे ही निर्मित,
लेकर यह ताना-बाना, जीवनका अल्हड़ शिल्पी,
उलझाए-सुलझाए तो, उलझाने-सुलझाने दे।

× × ×

किन्तु पराजयकी भावना दुस्तर थी। व्यथाका भार डूब मरनेके लिए अन्तहीन अन्धियारा मांगता था। प्रदीपने वह भी दिया था :—

पूरी न हुई तनकी मांगें, रे मिल न सका मनका मेला,
आहोंमें उड़, आँसूमें गल, अब बीत चली यौवन वेला,
पथ पर जितने पद-चिन्ह पड़े, सब जतलाते भूलें तेरी,
दुर्बल पा तुझे पछाड़ गया, संघर्षोंका रेला-पेला,
सपनोंके खण्डहर पर बैठा, एकाकी करता है क्रन्दन।

थक जाए तन, बुझ जाए मन, ढोना होगा फिर भी जीवन।

× × ×

फिर एक दिन सन्ध्या समय उर्मिलाकी कटुमधुर याद मनमें लेकर जब फ्लैगस्टाफ परसे उसने पश्चिमी क्षितिज पर आँखें फैलाईं, तो उस सौन्दर्यकी बाढ़में डूब कर मन बोल उठा था :—

"रो लूँगा जब दुःख आएगा, सुखमें तो हँसने-गाने दो।"

और साथ ही दुखव्रती पक्षने दोहराया था :—

"लवणपायी कर सकेगा, स्वाँति जलकी आस कैसे ?"

× × ×

अन्ततः सुख-दुःखकी उद्दाम भावनाओंका बुद्धिसे विश्लेषण करके वह एक निष्कर्ष पर पहुचा था :—

सुख - दुःख दोनोंके ही ऊपर,
अनुभवका स्तर है एक अमर ;
पथ, पथिक और पाथेय जहाँ,
सब भेद भुला देते मिल कर।

भटकेगा क्यों, भूलेगा क्यों,
जब चाह नहीं, परवाह नहीं ;
जीवनका वह उपभोग उधर,
जगके कोलाहलसे बच कर।

× × ×

आज न जाने किसकी प्रेरणासे, किसका वरदान पाकर, और न जाने क्यों, पर अनायास ही, प्रदीप अनुभूतिके उस स्तर पर जा बैठा था। भूतकी मधु-विषमय स्मृति-शृङ्खला, वर्तमानकी विडम्बना अथवा वैभव, भविष्यकी आशा-निराशा, भला क्योंकर उसे छू पाते। मानस-सागरके स्पन्दन, जीवनके विशृङ्खल झकोरोंकी अवहेलना कर, अपनी आत्मस्फूर्त गतिमें विभोर हो गए। जगजीवनके समस्त आंकड़े सिमट कर शून्यमें समा गए। उस शून्यका अब कोई मूल्य नहीं था। अपने-आपमें, एक इकाईका समर्थन पाए बिना। वह इकाई था स्वयं प्रदीप।

बाहें फैला कर प्रदीपने समस्त जीवनका आलिंगन कर लिया। सब कुछ सत्य था, सब शिव, सब सुन्दर। असत्य, अशिव और असुन्दर भी। न्यायके सूत्र त्राहि-त्राहि कर उठें, बौद्धिक परिभाषाओंका परिवार छाती पीट ले—पर वह एकपक्षीय दावा सुननेको प्रदीप और तैयार नहीं था। सब कुछ आए, वह सब कुछका स्वागत करेगा। आज वह समर्थ था, अपनेसे बाहर, अपनेसे परे, अपनेसे ऊपर प्रतिष्ठित, विश्वचक्र, राजसमाज, धर्मनीति, कुलमर्यादा, शरीर-सौख्य, आत्मतृप्ति—किसी भी सत्ताका दास नहीं। और अपने राज्यमें उसने निस्सीम, निरंकुश स्वातन्त्र्यकी विज्ञप्ति निकलवा दी—मधुमास और पतझर, दोनोंके लिए। केन्द्र तो वह